सेठ भोलाराम सेकसरिया-स्मारक ग्रन्थमाला—३

महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग

लेखक—

डॉ० उदयभानु सिंह एम० ए०, पीएच० डी०

प्रकाशक—

लखनऊ विश्वविद्यालय

प्रथम आवृत्ति
२०००

सम्वत् २००८ विक्रमीय

प्रकाशक—
लखनऊ विश्वविद्यालय
लखनऊ

मूल्य—दस रुपया १०)

मुद्रक—
रमाकान्त मिश्र, एम० ए०,
लखनऊ प्रिंटिंग हाउस, अमीनाबाद, लखनऊ।

कृतज्ञता-प्रकाश

श्रीमान् सेठ शुभकरन जी सेकसरिया ने लखनऊ विश्वविद्यालय की रजत—जयन्ती के अवसर पर बिसवाँ-शुगर-फैक्टरी की ओर से बीस सहस्र रुपये का दान देकर हिन्दी-विभाग की सहायता की है। सेठ जी का यह दान उनके विशेष हिन्दी-अनुराग का द्योतक है। इस धन का उपयोग हिन्दी में उच्चकोटि के मौलिक एवं गवेषणात्मक ग्रन्थों के प्रकाशन के लिए किया जा रहा है जो श्री सेठ शुभकरन सेकसरिया जी के पिता के नाम पर 'सेठ भोलाराम सेकसरिया स्मारक ग्रन्थमाला' में संग्रथित हो रहे हैं। हमें आशा है कि यह ग्रन्थमाला हिन्दी-साहित्य के भण्डार को समृद्ध करके ज्ञानवृद्धि में सहायक होगी। श्री सेठ शुभकरन जी की इस अनुकरणीय उदारता के लिए हम अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करते हैं।

दीनदयालु गुप्त
अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय।



स्वर्गीय सेठ भोलाराम सेकसरिया

उपोद्घात

आधुनिक हिन्दी भाषा के निर्माण में सबसे प्रथम महत्वशाली कार्य भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने किया था। उनके समय तक खड़ी बोली हिन्दी गद्य की भाषा बन चुकी थी परन्तु पद्य में उसका प्रयोग बहुत अल्प था। भारतेन्दु ने अपनी अधिकांश पद्य-रचनाएँ ब्रजभाषा में ही की थीं। उनकी कुछ रचनाएँ नागरी लिपि में लिखी हुई सरल रेखता अथवा उर्दू-शैली में भी हैं। गद्य में उन्होंने खड़ी बोली हिन्दी का ही प्रयोग किया है। भारतेन्दु काल में, भारतेन्दु के प्रोत्साहन से और भी अनेक लेखक हुए जिन्होंने आधुनिक हिन्दी भाषा का निर्माण किया, जैसे पं० प्रताप नारायण मिश्र, पं० बदरीनारायण 'प्रेमघन', पं० बालकृष्ण भट्ट, बा० बालमुकुन्दगुप्त, ला० श्रीनिवास दास, ठा० जगमोहन सिंह, बा० तोताराम आदि। इन साहित्य-निर्माताओं ने भी पद्य में ब्रजभाषा का तथा गद्य में खड़ी बोली का प्रयोग किया। इनकी भाषा में पृथक पृथक रूप से निजी गुण थे।। पं० प्रताप-नारायण मिश्र की भाषा में मनोरंजकता, जनबोलियों की सरलता, और व्यंग्यात्मकता थी। 'प्रेमघन' जी, आलंकारिकता, अर्थगाम्भीर्य और समास-पदावली के साथ लिखते थे। पं० बालकृष्ण भट्ट की भाषा सरल घरेलू शब्दों और व्यंग्यात्मक चुटकियों से युक्त होती थी। उस समय गद्य की अनेक प्रयोगात्मक शैलियाँ थीं। उस समय के साहित्यिक जीवन की प्रेरक और मार्गविधायिनी शक्ति भारतेन्दु के रूप में प्रकट हुई थी। भारतेन्दु का जीवनकाल बहुत अल्प रहा और उनका काम अधूरा ही रह गया। गद्यका प्रसार तो भारतेन्दु के प्रयास से हुआ परन्तु भाषा की उस समय, निश्चित, व्याकरण-सम्मत, और पुष्टशैली न बन पाई थी। अंग्रेजी भाषा का प्रभाव हिन्दी-शैली पर अव्यवस्थित रूप में ही पड़ रहा था।

हिन्दी भाषा और साहित्य की उक्त पृष्ठभूमि में पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी (सन् १९०३ में) साहित्य-क्षेत्र में आए और उन्होंने इंडियन प्रेस में सरस्वती का सम्पादन अपने हाथ में लिया। उनका साहित्य-क्षेत्र में आना, हिन्दी खड़ीबोली के इतिहास में एक युगान्तर उपस्थित करनेवाली घटनाहुई थी। उनका आगमन मानों हिन्दी साहित्य-कानन में बसन्त का आगमन था। उस समय साहित्यिक जीवन में एक नवीन स्फूर्ति आ गई। उन्होंने लेखक और भाषा-शिक्षक दोनों रूपों में साहित्य की सेवा की। इतना ही नहीं, सम्पादक, हिन्दी भाषा-प्रचारक, गद्य

और पद्य-भाषा के परिष्कारक, निबन्धकार, आलोचक, कवि, शिक्षक अनेक रूपों में उनकी प्रतिभा का प्रसार हुआ। द्विवेदी जी ने खड़ी बोली को पद्य-क्षेत्र में भी आगे बढ़ाया। वे स्वयं बड़े कवि न थे और न बड़े उपन्यासकार और न नाटककार ही। अनुभूति की व्यापकता और गहनता, कल्पना की सूझ तथा विचारों की गम्भीरता की भी द्योतक उनकी रचनाएँ नहीं हैं।। फिर भी द्विवेदी जी की कृतियों में प्रेरक शक्ति है, जीवन का सम्पर्क है और सुधारक तथा प्रचारक की सच्ची लगन है। ये ही विशेषताएँ उनकी रचनाओं को गौरव और महत्व देती हैं।

हिन्दी साहित्य-क्षेत्र में द्विवेदी जी का इतना प्रभाव पड़ा कि उनकी साहित्य-सेवा का काल (१९०१ ई० से १९२० ई० तक) 'द्विवेदीयुग' के नाम से प्रख्यात हो गया। यह समय उस हिन्दी भाषा के विकास और उत्कर्षोन्मुखता का समय था जो आज भारत की राष्ट्र-भाषा है। भाषा और काव्य को एक नये पथ की ओर प्रगति के साथ चलाने वाले सारथी-रूप में द्विवेदी जी का कार्य महान है। वे वस्तुतः युगान्तरकारी सूत्रधार हैं। राष्ट्रकवि मैथिली-शरण गुप्त, ठा० गोपालशरण सिंह, पं० अयोध्या सिंह उपाध्याय, श्रीधर पाठक, 'सनेही', पूर्ण, शंकर, सत्यनारायण कविरत्न आदि कवि और अनेक गद्यकार, सभी ने द्विवेदी जी से विषय, छन्द-प्रयोग और भाषागत प्रेरणा तथा शिक्षा ली थी। सरस्वती की फाइलों को देखने से पता चलता है कि इस महारथी ने विवेचनात्मक, आलोचनात्मक, परिचयात्मक, आवेशात्मक, विनोद, व्यंग, अनेक प्रकार की गद्यशैलियों का अपने गद्य में प्रयोग किया। अपने लेखों द्वारा विविध गद्यशैलियों के उदाहरण उपस्थित किये और शब्द और मुहाविरों के प्रयोग द्वारा भाषा के दोषों का परिहार किया। इस प्रकार उन्होंने एक प्रांजल भाषा का आदर्श रूप लेखकों के सम्मुख उपस्थित किया।

वास्तव में, द्विवेदी जी की कृतियों और उनके 'रेनेसाँ' युग के अध्ययन के बिना आधुनिक हिन्दी साहित्य के विकास का ज्ञान अधूरा ही रहता है। जिस समय मैंने 'महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग' नामक विषय प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखक डा० उदयभानु सिंह को दिया, उस समय तक उक्त विषय का किसी लेखक ने गम्भीर अध्ययन नहीं किया था। डा० उदयभानु सिंह ने इस विषयकी बिखरी हुई सामग्री को बड़े परिश्रम के साथ इकट्ठा किया और उसे एक व्यवस्थित और मौलिक निबन्ध रूप में प्रस्तुत किया, जो इस विश्वविद्यालय में, पीएच० डी० की उपाधि के लिये स्वीकृत हुआ। यह ग्रन्थ लेखक के अथक परिश्रम और विस्तृत अध्ययन का प्रतिफल है। डा० सिंह मेरी बधाई और शुभेच्छा के पात्र

हैं। इनकी सबल लेखनी से और भी महत्वपूर्ण ग्रन्थों का सृजन होगा, ऐसी मेरी मंगल-कामना है।

दीनदयालु गुप्त,

डॉ० दीनदयालु गुप्त
एम्० ए०, एल्एल० बी०, डी० लिट्०
प्रोफ़ेसर तथा अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय

प्राक्कथन

आधुनिक हिन्दी-साहित्य की चार मुख्य विशेषताएँ हैं—

१. काव्यभाषा के रूप में खड़ीबोली की प्रतिष्ठा और कविता के विषय, छन्द, विधान तथा अभिव्यंजनाशैली में परिवर्तन,

२. गद्यभाषा के व्याकरणसंगत, संस्कृत और परिष्कृत रूप का निश्चित निर्माण,

३. पत्रपत्रिकाओं और उनके साथ ही सामयिक साहित्य का विकास,

४. हिन्दी-साहित्य के विविध अंगों—कविता, कहानी, उपन्यास, निबन्ध, नाटक, आलोचना, गद्यकाव्य आदि—की वृद्धि और पुष्टि।

इन सबका प्रधान श्रेय पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी को ही है और इसीलिए उनकी साहित्य-सेवा का मूल्यांकन हिन्दी के लिए गौरव का विषय है।

द्विवेदी जी की जीवनी और साहित्य-सेवा के विषय में 'हंस' के 'अभिनन्दनांक', 'बालक' के 'द्विवेदी-स्मृति-अंक', 'द्विवेदी- अभिनन्दन-ग्रन्थ', 'साहित्य-संदेश' के 'द्विवेदी-अंक', 'सरस्वती' के 'द्विवेदी-स्मृति-अंक' और 'द्विवेदी-मीमांसा' तथा पत्रपत्रिकाओं में बिखरे लेखों में बहुत कुछ लिखा जा चुका है। परन्तु, उनमें प्रकाशित प्रायः सभी लेख प्रशंसात्मक और श्रद्धांजलि के रूप में लिखे गए हैं। समालोचना की दृष्टि से उनका विशेष मूल्य नहीं है। अतएव द्विवेदी जी की जीवनी, हिन्दी-साहित्य को उनकी देन और उनके निर्मित युग की वास्तविक आलोचना की आवश्यकता प्रतीत हुई।

द्विवेदी जी से सम्बन्धित प्रायः समस्त सामग्री काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा और दौलतपुर में रक्षित है। नागरी-प्रचारिणी सभा के कार्यालय में द्विवेदी-सम्बन्धी २८०१ पत्र और सभा को भेजा गया उनका हस्तलिखित 'वक्तव्य' है। सभा के 'आर्यभाषा-पुस्तकालय' में उनकी दस आल्मारी पुस्तकें और हिन्दी, संस्कृत, बंगला, मराठी, गुजराती, उर्दू तथा अंगरेजी की सैकड़ों पत्रिकाओं की फुटकर प्रतियाँ हैं। सभा के कलाभवन में 'सरस्वती' की प्रकाशित और अप्रकाशित हस्तलिखित प्रतियाँ, उनसे सम्बन्धित पत्र, अनेक पत्रपत्रिकाओं की कतरनें, द्विवेदी जी का अप्रकाशित 'कौटिल्यकुठार' और उनके प्रकाशित ग्रन्थों की हस्तलिखित प्रतियाँ हैं। दौलतपुर में 'सरस्वती' की कुछ प्रकाशित और अप्रकाशित प्रतियाँ द्विवेदी जी से सम्बन्धित कागदपत्र, पत्र और उनके अप्रकाशित 'तरुणोपदेश' और 'सोहागरात' हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ में ६ अध्याय हैं —

१. भूमिका

२. चरित और चरित्र

३. साहित्यिक संस्मरण और रचनाएँ

४. कविता

५. आलोचना

६. निबन्ध

७. 'सरस्वती'-सम्पादन

८. भाषा और भाषासुधार

६. युग और व्यक्तित्व

पहले अध्याय में ग्रथित वस्तु का अधिकांश पराजित है। वस्तुतः अभिव्यंजना-शैली ही अपनी है। दूसरे अध्याय में प्रकाशित लेखों और पुस्तकों के अतिरिक्त द्विवेदी जी की हस्तलिखित संक्षिप्त जीवनी (काशी-नागरी- प्रचारिणी सभा के कार्यालय में रक्षित) और उनसे संबंधित पत्रों तथा पत्रपत्रिकाओं के गवेषणात्मक अध्ययन के आधार पर उनके चरित और चरित्र की व्यापक, मौलिक तथा निष्पक्ष समीक्षा की चेष्टा की गई है। इन्हीं के आधार पर तीसरे अध्याय में साहित्यिक संस्मरण का विवेचन भी अपना है। 'तरुणोपदेशक', 'सोहागरात' और 'कौटिल्यकुठार' को छोड़कर द्विवेदी जी की अन्य रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं। हिन्दी-संसार उनसे परिचित है। उक्त तीनों रचनाओं की खोज अपनी है। यह अधिकार के साथ कहा जा सकता है कि इनके अतिरिक्त द्विवेदी जी ने कोई अन्य पुस्तक नहीं लिखी। चौथा अध्याय कविता का है। द्विवेदी जी की कविता ऊँची कोटि की नहीं है। इसीलिए इस अध्याय में अपेक्षाकृत कम गवेषणा, ठोसपन और मौलिकता है। छन्द, विषय, शब्द और अर्थ की विविधि दृष्टियों से तथा द्विवेदी जी की ही काव्य-कसौटी पर उनकी कविता की समीक्षा इस अध्याय की मौलिकता या विशेषता है। पाचवें अध्याय में समालोचना की विभिन्न पद्धतियों की दृष्टि से आलोचक द्विवेदी की आलोचना सर्वथा स्वतंत्र गवेषणा और चिन्तन का फल है।

निबन्धकार द्विवेदी पर भी पूर्वोक्त रचनाओं तथा पत्रपत्रिकाओं में फुटकर लेख लिखे गए थे किन्तु वे प्रायः वर्णनात्मक थे। प्रस्तुत ग्रन्थ के छठे अध्याय में सौन्दर्य, इतिहास और व्यक्तित्व के आधार पर द्विवेदी जी के निबन्धों की छानबीन की गई है। यह भी अपनी

गवेषणा है। 'सरस्वती-सम्पादन' नामक सातवें अध्याय में द्विवेदी-सम्पादित 'सरस्वती' के आन्तरिक सौन्दर्य और उसकी उत्तमर्णता तथा ऋणी मराठी, बंगला, अंग्रेजी एवं हिन्दी-पत्रिकाओं की तुलनात्मक समीक्षा के आधार पर द्विवेदी जी की सम्पादनकला का मौलिक विवेचन है। 'भाषा और भाषासुधार'-अध्याय अपेक्षाकृत अधिक खोज का परिणाम है। अभी तक हिन्दी के आलोचक सामान्यरूप से कह दिया करते थे कि हिन्दी-गद्यभाषा के संस्कार और परिष्कार का प्रधान श्रेय द्विवेदी जी को ही है। 'द्विवेदी-मीमांसा' में एक संशोधित लेख भी उद्धृत किया गया था। परन्तु, स्वयं द्विवेदी जी की भाषा आरम्भ में कितनी दूषित थी, उन्होंने अपनी भाषा का भी परिमार्जन किया, दूसरों की भाषा की ईदृक्ता क्या थी, उनकी भ्रष्ट भाषा का सुधार द्विवेदी जी ने किन किन विभिन्न उपायों और कितनी कष्टसाधना से किया, उनके द्वारा परिमार्जित भाषा का विकास किन विभिन्न रीतियों और शैलियों में फलित हुआ, आदि बातों पर व्याकरणरचनासंगत वैज्ञानिक गवेषणा और सूक्ष्म विवेचन की आवश्यकता थी। आठवें अध्याय में इसी कमी की पूर्ति का मौलिक प्रयास है।

नवाँ तथा अन्तिम अध्याय 'युग और व्यक्तित्व' का है। हिन्दी के इतिहासकारों ने हिन्दी-साहित्य के एक युग को द्विवेदीयुग स्वीकार कर लिया था। किन्तु उसके निश्चित सीमानिर्धारण पर कोई प्रामाणिक समालोचना नहीं लिखी गई। डा० श्रीकृष्ण लाल का ग्रन्थ 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास' प्रायः द्विवेदीयुगीन साहित्य की ही समीक्षा है। उसकी दृष्टि भिन्न है। प्रस्तुत ग्रन्थ के अन्तिम अध्याय की अपनी मौलिक विशेषता है। इसमें द्विवेदीयुग का कालनिर्धारण करके ही सन्तोष नहीं कर लिया गया है, उसकी प्रामाणिक समीक्षा भी की गई है। द्विवेदी जी अपने युग के साहित्य के केन्द्र रहे हैं और उस युग के प्रायः सभी महान् साहित्यकार प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से उनसे अनिवार्य रूप से प्रभावित हुए हैं। उस युग के हिन्दी-साहित्य के सभी अंगों के भाव या अभावपक्ष पर द्विवेदी जी की छाप है। द्विवेदीयुगीन साहित्य के समालोचन की यह दृष्टि ही इस निबन्ध की प्रमुख विशिष्टता है। यहाँ पर एक बात स्पष्टीकार्य है। मनुष्य ईश्वर की भाँति सर्वत्रव्यापक नहीं हो सकता। अतएव द्विवेदी जी का व्यक्तित्व भी हिन्दी-साहित्य-संसार के प्रत्येक परमाणु में व्याप्त नहीं हो सका है। 'युग और व्यक्तित्व' अध्याय पढ़ते समय कहीं कहीं ऐसा प्रतीत होने लगता है कि जब हिन्दी-संसार में इस प्रकार की कलासृष्टि हो रही थी तब द्विवेदी जी क्या कर रहे थे? उत्तर स्पष्ट है। द्विवेदी जी का प्रभाव सर्वत्र सामान नहीं है। कविता, आलोचना, भाषा आदि के क्षेत्र में उन्होंने कायाकल्प किया है, उपन्यास-कहानी की कुछ व्यापक प्रवृत्तियों पर ही उनका प्रभाव पड़ा है और नाटक के अभाव पक्ष में ही उनके व्यक्तित्व की गुरुता है, उसके भावपक्ष में नहीं। जिस अंग में और जहाँ

पर उनका प्रभाव विशिष्ट नहीं है वहाँ पर भी उसे दिखाने का बरबस प्रयास इस ग्रन्थ में नहीं किया गया है। उस युग के महान् साहित्यकारों में भी कुछ मौलिकता थी और उन्हें उसका श्रेय मिलना ही चाहिए। डा॰ श्रीकृष्ण लाल के उपर्युक्त ग्रन्थ में उस काल के हिन्दी-प्रचार, सामयिक साहित्य और आलोचना की पद्धतियों आदि की भी कुछ विशेष विवेचना नहीं की गई थी। इस दृष्टि से भी स्वतंत्र गवेषणा और विवेचन की अपेक्षा थी। उसकी पूर्ति का प्रयास भी प्रस्तुत ग्रन्थ में किया गया है।

सुना है कि राजपूताना विश्वविद्यालय में द्विवेदी जी की कविता पर कोई प्रबन्ध दाखिल हुआ है। वह बाद की कृति है। उसकी चर्चा आगामी आवृत्ति में ही हो सकेगी।

ग्रन्थ से संयुक्त शुद्धिपत्र संक्षिप्त है। टाइप की अपूर्णता के कारण मराठी के 'किरकोल' आदि शब्द अपने शुद्धरूप में नहीं छप सके। 'ब' और 'व', 'ए' और 'ये', अनुस्वार और चन्द्रबिन्दु, विरामचिह्न, पंचमवर्ण, संयोजक चिह्न, शिरोरेखा आदि की अशुद्धियाँ बहुत हैं। वे भ्रामक नहीं हैं अतएव उनका समावेश अनावश्यक समझा गया। जिन महानुभावों ने इस ग्रन्थ के प्रणयन में अमूल्य सहायता देकर लेखक को कृतकृत्य किया है उन सब का वह हृदय से आभारी है।

उदयभानु सिंह

विषय-सूची

पहला अध्याय

भूमिका (१—३३)

१. राजनैतिक परिस्थिति—१, २ आर्थिक परिस्थिति—४, ३. धार्मिक परिस्थिति—५,
४. सामाजिक परिस्थिति—८
५. साहित्यिक परिस्थिति

क. कविता	८
ख. निबन्ध	१४
ग. नाटक	१६
घ. कथासाहित्य	१८
ङ. आलोचना	२०
च. पत्रपत्रिकाएं	२२
छ. विविधविषयक साहित्य	२८
ज. प्रचारकार्य	२६
झ. गद्यभाषा	३०
ञ. हिन्दी-साहित्य की शोचनीय दशा	३२

६. पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी का पदार्पण—३३

दूसरा अध्याय

चरित और चरित्र (३४—६१)

१. द्विवेदी जी का जन्म—३४, २. उनके पितामह और पिता का संक्षिप्त परिचय—३४, ३. प्रारम्भिक शिक्षा—३५, ४. अंग्रेजी शिक्षा—३५ ५. स्कूल का त्याग और नौकरी-३६, ६. नौकरी से त्यागपत्र—३६, ७. 'सरस्वती'-सम्पादन—३७, ८. जीवन के अन्तिम अठारह वर्ष—३७, ६. महाप्रस्थान—३८, १०. दाम्पत्य जीवन—३८, ११. पारिवारिक जीवन—४०, १२. वृद्धावस्था में ग्राम्य जीवन और ग्रामसुधार—४१, १३. आकृति, गम्भीरता—४२, १४. हास्य-विनोद—४२, १५. स्वाभिमान,वीरभाव—४३, १६. भगवद्भक्ति—४३,

१७. उग्रता, क्रोध--४४, १८. क्षमा, दया--४५, १९ कर्तव्यपरायणता, न्यायनिष्ठा और सत्यपालन—४६, २०. व्यवस्था, नियमितता और कालपालन--४७, २१. दृढ़ता, अध्यवसाय और सहिष्णुता--४९, २२. महत्वाकांक्षा और सम्मान की अनिच्छा--५०, २३. शिष्टाचार, व्यवहारकुशलता और सम्भाषणकला--५१, २४. प्रेम, वात्सल्य, सहृदयता, सहानुभूति और गुणग्राहकता--५२, २५. निष्पक्षता और पक्षपात--५३, २६. वदान्यता और संग्रहभावना--५४, २७. मितव्ययिता और सादगी—५५, २८. देशप्रेम--५६, २९. मातृभाषाप्रेम--५७, ३०. सुधारकप्रवृत्ति--५९, ३१. आक्षेप और अपवाद-६०

तीसरा अध्याय

साहित्यिक संस्मरण और रचनाएं (६२—९०)

१. द्विवेदी जी का साहित्यिक अध्ययन--६२, २. भारतीभक्त पर कमला का कोप—६३, ३. 'शिक्षा' नामक पुस्तक के समर्पण की कथा—६३, ४ 'सरस्वती' के आश्रम में—६४, ५. अयोध्याप्रसाद खत्री का महत्वहीन बवंडर--६६, ६. 'अनस्थिरता' का वितंडावाद-६६ ७. विभक्तिविचारविवाद ६७, ८. बी० एन० शर्मा पर मानहानि का दावा ६८, ९. द्विवेदी जी और काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा ६९, १०. नागरी-प्रचारिणी सभा को द्विवेदी जी का दान—७३, ११. द्विवेदी जी की 'रसीली पुस्तकें' और कृष्णकान्त मालवीय—७३, १२. द्विवेदी जी और हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन ७५, १३. द्विवेदी-मेला—७६, १४. द्विवेदी जी की रचनाओं का संक्षिप्त विवरण (तीन अप्रकाशित रचनाएं) ७८

चौथा अध्याय

कविता (९१—११६)

१. कवि द्विवेदी की आत्मसमीक्षा ९१, २. उनका अनभिमाननीय कवित्व ९२, ३. उनकी काव्यरचना का उद्देश ९२, ४. द्विवेदी जी की काव्यपरिभाषा ९३, ५. अर्थ की दृष्टि से द्विवेदी जी की कविता की समीक्षा—

रस	९४
भाव	९५
ध्वनि	९७
ग्राम्य-दोष	१००
अलंकार-दोष	१००

अलंकारसौन्दर्य	१०१
निरलंकार सौन्दर्य	१०२
गुण	१०२
वर्णनात्मकता और इतिवृत्तात्मकता	१०३
द्विवेदी जी की कविप्रतिभा	१०४
द्विवेदी जी का काव्यविधान	
प्रबन्ध	१०५
मुक्तक	१०५
प्रबन्धमुक्तक	१०६
गीत	१०६
गद्यकाव्य	१०७

७. छन्द १०७, ८. काव्यभाषा १०८

९. द्विवेदी जी की कविता के विषय

धर्म	१०९
समाज	११०
देश और स्वदेशी	१११
हिन्दी भाषा और साहित्य	११४
चित्र	११४
व्यक्ति और अवसरविशेष	११४
प्रकृति	११५

पांचवां अध्याय

आलोचना (११७—१४२)

१. आलोचना का अर्थ ११७, २. द्विवेदी जी की आलोचना की ६ पद्धतियां ११८

आचार्यपद्धति	११८
टीकापद्धति	१२३
शास्त्रार्थपद्धति	१२५
सूक्तिपद्धति	१२६
खंडनपद्धति	१२९

लोचनपद्धति १३१

३. युग की दृष्टि से द्विवेदीकृत आलोचना का मूल्यांकन १३४, ४. हिन्दी कालिदास की समालोचना १३५, ५. द्विवेदी जी की आलोचनाओं में दो प्रकार के द्वन्द्वों की परिणति १३७, ६. 'कालिदास की निरंकुशता' १३७, ७. 'नैषधचरितचर्चा' और 'विक्रमांकदेव-चरितचर्चा' १३८, ८ 'आलोचनांजलि' १३८, ९. कालिदास और उनकी कविता'—१३९, १० संस्कृत-साहित्य पर द्विवेदीकृत आलोचना के मूल कारण १४०, ११. 'हिन्दी-शिक्षावली तृतीय भाग की समालोचना' १४०, १२ 'समालोचनासमुच्चय' १४१, १३. 'विचारविमर्श' और 'रसज्ञरंजन' १४२, १४. आलोचक द्विवेदी की देन १४२

छठा अध्याय

निबन्ध (१४३—१५९)

१. निबन्ध का अर्थ १४३, २. आलोचक द्विवेदी द्वारा निबन्धकार द्विवेदी का निर्माण १४४, ३. सम्पादक- द्विवेदी के निबन्धों का उद्देश १४५, ४. द्विवेदी जी के निबन्धों के मूल १४५, ५. द्विवेदी जी के निबन्धों के रूप १४६

६. विषय

— साहित्य १४६

जीवनचरित १४७

विज्ञान १४८

इतिहास १४८

भूगोल १४८

उद्योगशिल्प १४९

भाषाव्याकरण १४९

अध्यात्म १४९

७. उद्देश की दृष्टि से द्विवेदी जी के निबन्धों के प्रकार १५०

८. द्विवेदी जी के निबन्धों की ३ शैलियां—

वर्णनात्मक १५०

भावात्मक १५२

चिन्तनात्मक १५३

९. भाषा और रचनाशैली—१५४, १०. निबन्धों में द्विवेदी जी का स्थिर एवं गतिशील

तथा व्यक्त और अव्यक्त व्यक्तित्व १५६, ११. निबन्धकार द्विवेदी की देन १५८

सातवां अध्याय

'सरस्वती'सम्पादन (१६०—१६१)

१. 'सरस्वती' का जन्म और शैशव १६०, २. सम्पादक द्विवेदी के आदर्श और सिद्धान्त १६२, ३. लेखकों की कमी, द्विवेदी जी का घोर परिश्रम और लेखक-निर्माण १६४, ४. लेखकों के प्रति व्यवहार १६६, ५. 'सरस्वती' के विविध विषय और वस्तुयोजना १७१, ६ सम्पादकीय टिप्पणियां १७३, ७. पुस्तकपरीक्षा १७४, ८. चित्र १७५ ९. चित्रपरिचय १७७, १०. व्यंग्यचित्र १७८, ११. मनोरंजक श्लोक, हँसी दिल्लगी एवं विनोद और आख्यायिका १८०, १२. बालसाहित्य १८१, १३ स्त्रियोपयोगी रचनाएं १८१, १४. विषयसूची १८२, १५. प्रूफसंशोधन १८२, १६. 'सरस्वती' पर अन्य पत्रिकाओं का ऋण १८३, १७. अन्य पत्रिकाओं पर 'सरस्वती' का प्रभाव १८५, १८. 'सरस्वती' का ऊंचा मान १८६

आठवां अध्याय

भाषा और भाषासुधार (१९२—२६३)

१. द्विवेदी जी की आरम्भिक रचनाएं	१९२
२. उनके भाषादोष—	
क. लेखनत्रुटियां—	१९३
स्वरगत	१९३
व्यंजनगत	१९४
ख. व्याकरण की अशुद्धियां—	
संज्ञा	१९५
सर्वनाम	१९५
विशेषण-विशेष्य	१९६
क्रिया	१९६
अव्यय	१९८
लिंग	१९८
वचन	१९९

कारक १६६
सन्धि २०१
समास २०१
उपसर्ग और प्रत्यय २०१
आकांक्षा २०२
योग्यता २०२
सन्निधि २०३
प्रत्यक्षपरोक्षकथन २०३
वाच्य २०४
ग. रचनादोष—
विरामादि चिन्ह २०५
अवच्छेदन २०६
मुहावरे २०६
पुनरुक्ति २०७
कटुता, जटिलता, शिथिलता २०७
पंडिताऊपन २०८
३. भाषासुधार
क. चार प्रकार से भाषा-सुधार २०८
ख ग्रन्थों का संशोधन २०८
ग. आलोचना द्वारा संशोधन २०८
घ. 'सरस्वती' की रचनाओं का शोधन २१२
(संशोधित भाषात्रुटियों की एक वर्गीकृत सूची—पृ० २१३—२४४ स्वर, व्यंजन, संज्ञा, सर्वनाम, विशेष्यविशेषण, क्रिया, अव्यय, लिंग वचन, कारक, सन्धि, समास, उपसर्गप्रत्यय, आकांक्षा, योग्यता, सन्निधि, वाच्य, प्रत्यक्षपरोक्षकथन, मुहावरों, कठिन संस्कृत शब्दों, अरबी फारसी शब्दों अंग्रेजी शब्दों, और अन्य शब्दों का संशोधन)
ङ. पत्रों, भाषणों आदि के द्वारा संशोधन २४५
४ द्विवेदी जी की भाषा की आरम्भिक रीति और शैली—अंग्रेजी, उर्दू, संस्कृत, अवधी, पंडिताऊपन—२४७, ५. उनकी प्रौढ़ रचनाओं की रीति—२५३, ६. युगनिर्माता द्विवेदी की भाषा-शैली—२५५

वर्णनात्मक २५५
व्यंग्यात्मक २५६
मूर्तिमत्तात्मक २५८
वक्तृतात्मक २५६
संलापात्मक २६०
विवेचनात्मक २६१
भावात्मक २६२
७. द्विवेदी जी की शैली की विशिष्टता २६२

९वां अध्याय

युग और व्यक्तित्व (२६४— ३६५)

१. आधुनिक हिन्दी-साहित्य का कालविभाग— २६४
प्रस्तावना-युग २६४, भारतेन्दु-युग २६५, अराजकता-युग २६५, द्विवेदी-युग २६५, वाद-युग २६७, वर्तमान-युग २६७
२. आधुनिक हिन्दी-साहित्य की मुख्य विशिष्टताएं २६८
३. द्विवेदी युग के पूर्वार्द्ध का साधारण साहित्य २६८
४. द्विवेदी-युग में हिन्दी-प्रचार— २६६
काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा और अन्य संस्थाएं २६६, प्रेसो का कार्य २७१, शिक्षासंस्थाओं का कार्य २७२, विदेशों में हिन्दी-प्रचार २७२, पत्रपत्रिकाएं २७३
५. द्विवेदी-युग की कविता - २७६
क. युगनिर्माता द्विवेदी द्वारा युगपरिवर्तन की सूचना २७६
ख. काव्यविधान— २७६
प्रबन्ध काव्य २८०, मुक्तक २८०, प्रबन्धमुक्तक २८१, गीत या गीति २८१, गद्यकाव्य २८१
ग छन्द २८५
घ. भाषा २८८
ङ विषय २६४
चित्र २६४, धर्म २६४, समाज २६६, राजनीति २६६, प्रकृति ३०२, प्रेम ३०४, अन्य विषय ३०५
च. द्विवेदीयुग के चार चरण ३०६

छ. द्विवेदीयुग की कविता का इतिहास ३०६
ज. रसभावव्यंजना ३०६
झ. चमत्कार ३०७
ञ द्विवेदीयुग की कविता का रमणीय रूप ३०८
६. नाटक ३०८
क. महान् साहित्यकारों का असफल प्रयास ३०८
ख. बहुसंख्यक नाटककारों की विविधविषयक रचनाएं ३०६
ग. द्विवेदी-युग के नाटककारों की असफलता के कारण ३१०
घ. नाटकरचना की ओर संस्थाओं का ध्यान ३११
ङ. नाटकों के अनेक रूप ३१२
च. साहित्यिक नाटकों के मुख्य प्रकार ३१२
सामान्य नाटकों की कोटियां ३१२, गम्भीर एकांकी नाटक ३१४, प्रहसन ३१४, पद्यरूपक ३१५
७. उपन्यास-कहानी ३१५
क. द्विवेदी जी के आख्यायिकोपम अनुवाद ३१५
ख. द्विवेदी जी द्वारा कहानी को प्रोत्साहन ३१६
ग. द्विवेदीयुग के उपन्यासों का उद्गम ३१६
घ. उपन्यासों का मूल उद्देश ३१७
ङ विषय ३१८
च. पद्धतियां ३१६
छ. संवेदना की दृष्टि से उपन्यासों के प्रकार ३२१
ज. उपन्यास के क्षेत्र मे द्विवेदी-युग की देन ३२२
झ. द्विवेदीयुग की कहानी के मूल, उद्देश और विषय ३२२
ञ. पद्धतियां ३२२
ट. संवेदना की दृष्टि से द्विवेदीयुग की कहानियों का वर्गीकरण ३२६
ठ. कहानी के क्षेत्र में द्विवेदीयुग की देन ३२७
८. निबन्ध— ३२८
क. द्विवेदी-युग के निबन्धों के रूप ३२८
ख. द्विवेदीयुग के निबन्धों के प्रकार ३२७
ग. द्विवेदीयुग के निबन्ध की देन ३३०

९. रीति-शैली— ३१०
क. द्विवेदी जी द्वारा रीतिशैली-निर्माण ३१०
ख द्विवेदी-युग की गद्यभाषा की मुख्य रीतिया ३१३
ग. द्विवेदीयुग की भाषाशैली का वर्गीकरण ३१४
१०. आलोचना— ३३७
क. द्विवेदीयुग की आलोचना की ६ पद्धतियां—
आचार्यपद्धति ३३८, टीकापद्धति ३४३, सूक्तिपद्धति ३४५, खंडनपद्धति ३४६, शास्त्रार्थपद्धति ३४९, लोचनपद्धति ३५१
ख. द्विवेदीयुग की साहित्यिक आलोचना के विषय ३६०
ग. द्विवेदीयुग की आलोचनाशैली ३६१
घ. उपसंहार ३६४

परिशिष्ट

१. काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा को द्विवेदी जी द्वारा दिए गए दान की सूची ३६६
२. वर्णानुक्रम से द्विवेदी जी की रचनाओं की सूची ३७७
३. द्विवेदी जी द्वारा संशोधित एक लेख ३७९
४. कुछ पत्रिकाओं की विषय-सूची— ३९६
केरल-कोकिल ३९६, महाराष्ट्रकोकिल ३९८, प्रवासी ३९८, मर्यादा ३९९, प्रभा ४००, माधुरी ४०१, चाँद ४०२, मॉडर्न रिव्यू ४०४

सहायक-ग्रन्थ-सूची—४०६

अंग्रेजी-पुस्तकें, संस्कृत-पुस्तकें, हिन्दी-पुस्तकें, सामयिक-पुस्तकें

पहला अध्याय

भूमिका

अँगरेजों की दिन दिन बढ़ती हुई शक्ति भारतीय इतिहास का नूतन परिच्छेद लिखती जा रही थी। सन् १८३३ ई० और १८५६ ई० के बीच बरती जाने वाली राजनीति ने देश में क्रांति उपस्थित कर दी। सिंध, पंजाब, अवध आदि की स्वाधीनता का अपहरण, झाँसी की रानी को गोद लेने की मनाही, नाना साहब की पैंशन की समाप्ति, सिविल सर्विस परीक्षाओं में भारतीयों के विरुद्ध अनुचित पक्षपात, भारतीय सैनिकों को बलात् बाहर भेजने की आज्ञा आदि आपत्तिजनक कार्यों ने जनता को असन्तुष्ट कर दिया। देश के अनेक स्थानों में प्रतिहिंसा की ज्वाला धधक उठी। १८५७ ई० का विद्रोह किसी प्रकार शान्त किया गया। हिन्दी के साहित्यकार अधिकतर मध्यम और उच्च वर्ग के थे। उन्हें शासकों से काम था। मुसलमानों और अत्याचारी शासन, विद्रोह के भयानक परिणाम और शासकों की विशेष कृपा से प्रभावित होने के कारण उन्होंने सन् १८५७ ई० के सिपाही-विद्रोह की चर्चा अपनी रचनाओं में नहीं की। परन्तु जन साधारण ने "खूब लड़ी मरदानी, अरे झांसी वाली रानी"[1] आदि लोक-गीतों के द्वारा अपनी विद्रोह भावना की अभिव्यक्ति की। महारानी विक्टोरिया के घोषणापत्र में सहृदयता, उदारता और धार्मिक सहिष्णुता थी। उससे देशी राजाओं और प्रजा को आश्वासन मिला। उनका भय और असन्तोष दूर हुआ। कवियों ने गद्गद् कंठ से अंगरेजी राज्य का गुणगान किया।

परम मोक्षफल राजपद परसन जीवन माँहि। वृटनदेवता राजसुत पद परसहु चित माहि।[2]
जयति धर्म सव देश जय भारतभूमि नरेश। जयति राज राजेश्वरी जय जय जय परमेश।[3]

---

१ बुन्देलखंड में प्रचलित लोक गीत जिसके आधार पर सुभद्राकुमारी चौहान ने लिखा है "बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।"
२ 'भारतेन्दु-ग्रन्थावली, पृ० ७०२।
३ अंबिकादत्त व्यास, 'मनकी उमंग' 'पुष्प दश'।

इन्डिया कौंसिल ऐक्ट (१८६१) ई०, हाईकोर्ट और अदालतों की स्थापना (१८६३) ई० जाबता दीवानी, ताजीरात-हिन्द और जाबता-फौजदारी का प्रयोग, अनेक रियासतों के करों की माफ़ी आदि कार्यों ने जनता को प्रसन्न कर दिया। (सन् १८७७ ई० के राज-दरबार में देशी राजा-महाराजाओं ने अपनी राजभक्ति का विराट प्रदर्शन किया। १९ वीं शती के अन्तिम चरण में और भी राजनैतिक सुधारों का आरम्भ हुआ।) स्वायत-शासन की स्थापना जिलों और तहसीलों में बोर्डों का निर्माण आदि (नवीन विधानों ने भारतेन्दु, बालमुकुन्द गुप्त श्रीधर पाठक, बदरीनारायण चौधरी प्रेमघन, राधाकृष्णदास आदि साहित्यकारों को शासकों की प्रशस्तियां लिखने के लिए प्रेरित किया।

राजनैतिक परिस्थिति के उपर्युक्त पक्ष में तो प्रकाश था परन्तु दूसरा पक्ष अन्धकार-मय था।) राजभक्ति और देशभक्ति की भिन्नता भारत के लिए अभिशाप है। (राजभक्त होकर भी साहित्यकार देशभक्ति को भूल न सके। देश-दशा का चित्र खींचने में भी उन्होंने पूरी क्षमता दिखलाई :—

भीतर भीतर सब रस चूसै, बाहर से तन मन धन मूसै।
जाहिर बातन में अतितेज, क्यों सखि साजन ? नहिं अंगरेज ॥[१]

इस दिशा में पत्र-पत्रिकाओं की देन विशेष महत्व की है "सार सुधा निधि" और 'भारत मित्र' ने साम्राज्यवादी अङ्गरेजों की युद्ध नीति और सभ्यता पर आक्षेप किए। गदाधर सिंह ने "चीन में तेरह मास" पुस्तक में साम्राज्यवाद का नग्न चित्र खींचा। "सार सुधा निधि" में प्रकाशित 'यमलोक की यात्रा" में राजनैतिक दमन और 'मार्जार मूषक' ने रूस का भय दिखा कर रक्षा के बहाने भारतवासियों पर आतंक जमाने वाली ब्रिटिश नीति की व्यंजना की। राधाचरण गोस्वामी ने पत्र-संपादकों के प्रति किए जाने वाले अन्याय और टैक्स आदि की बातों पर आक्षेप किया। बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने भी अपने 'तुम्हें क्या' 'होली' आदि निबन्धों[२] तथा 'शिवशम्भु के चिट्ठे' में विदेशी शासन पर खूब व्यंग्य प्रहार किया। यही नहीं, अङ्गरेजी शासन के समर्थकरण जमींदारों पर भी साहित्यकारों की लेखनी चली। भारतेन्दु ने अपने 'अन्धेर नगरी' प्रहसन में (१८८१ ई०) में एक देशी नरेश (डुमरांव) के अन्यायों पर व्यंग्य किया है।

सन् १८५७ ई० के विद्रोह को राष्ट्रीय उन्मेष कहना भारी भूल है। उसमें राष्ट्रीय

१ भारतेन्दु, हरिश्चन्द्र, 'भारतेन्दु-ग्रन्थावली, पृ० ८११।
२ समय समय पर 'भारत-मित्र' में प्रकाशित और 'गुप्त-निबन्धावली' में संकलित।

भावना का लेश भी नहीं था । नाना साहब, लक्ष्मीबाई, अवध की बेगमें, दिल्ली के मुग़ल, फौजी सिपाही आदि सभी अपने अपने स्वार्थ-साधन के लिए विद्रोही हुये । यह लहर सम्पूर्ण देश में न फैल सकी । दक्षिण भारत, बंगाल और पंजाब ने तो सरकार का ही साथ दिया । राष्ट्रीय भावना के अभाव के ही कारण विद्रोह कुचल दिया गया । १९ वीं शती का उत्तरार्द्ध सभा-समाजों और सार्वजनिक संस्थाओं का युग था । 'बृटिश इंडियन एशोसियेशन' (१८५१ ई०) 'बाम्बे एसोसियेशन', 'ईस्ट इंडिया एसोसियेशन' (१८७६ ई०) 'मद्रास महाजन सभा' (१८८१ ई०), 'बाम्बे प्रेसीडेन्सी एसोसिएशन' (१८८५ ई०) आदि की स्थापना इसी काल में हुई । इनके अतिरिक्त तत्कालीन धार्मिक और सांस्कृतिक सभाओं ने देश में आत्माभिमान की भावना जाग्रत की ।

सरकार के अशुभ और विरोधी कानून, पुलिस का दमन, लार्ड लिटन का प्रतिगामी शासन (१८७६-८० ई०) खर्चीला दरबार, कपास के यातायात-कर का उठाया जाना (१८७७ ई०), वर्नाक्यूलर प्रेस ऐक्ट (१८७८ ई०), अफ़गान युद्ध (१८७८-१८८२ ई०) आदि बातों ने देशवासियों को पराधीनता के शाप का अनुभव कराया । विश्वविद्यालयों में शिक्षित नवयुवकों ने जनता के साथ पाश्चात्य इतिहास और राजनीति के उदाहरण उपस्थित किए । जनता में उत्तेजना बढ़ती गई । यहाँ तक कि किसी क्रान्तिकारी विस्फोट की आशंका होने लगी । दूरदर्शी ह्यूम ने दादा भाई आदि के सहयोग से राजनैतिक उदासीनता दूर करने का प्रयास किया । इसी के फल स्वरूप १८८५ ई० में इंडियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना हुई ।

सामाजिक रूप में जन्म लेकर कांग्रेस ने अपने बल पर राजनीतिक रूप धारण कर लिया । आरम्भ में तो अनुनय-विनय की नीति बरती गई किन्तु ज्यों ज्यों देशवासियों का सहयोग मिलता गया त्यों त्यों वह आत्मतेज और आत्मावलम्बन की नीति ग्रहण करती गई । उसने धन, धर्म, जाति, लिंग, पद आदि का कोई भेद नहीं किया । विकास की प्रारम्भिक भूमिका में मधुरवाणी से काम लिया, अङ्गरेजों की प्रशंसा और अपनी राजभक्ति की अभिव्यक्ति तक की । लोकमान्य तिलक ने विदेशी शासकों के प्रति घृणा के विचारों का प्रचार किया । कांग्रेस की राष्ट्रीयता उग्र रूप धारण करती गई । उसकी वृद्धि के साथ ही साथ सरकार भी उस पर संदेह करने लगी । सितम्बर सन् १८९७ ई० में तिलक को १८ मास की कड़ी सजा दी गई, मैक्समूलर, हंटर आदि के कठिन आवेदनपर एक वर्ष बाद छूटे ।

उपर्युक्त राष्ट्रीय आन्दोलनों ने हिन्दी साहित्यकारों को भी प्रभावित किया । संपादकों और रचनाकारों ने समान रूप से देश की तत्कालीन राष्ट्रीय जाग्रति के चित्र अंकित

किए। प्रेमघन और अम्बिकादत्त व्यास ने अपने 'भारत सौभाग्य' नाटकों में देश की दशा का दृश्य दिखाया। 'ब्राह्मण' ने 'कांग्रेस की जय' 'देशी कपड़ा' आदि निबन्ध छापे। राधाचरण गोस्वामी ने 'हमारा उत्तम भारत देश' और बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने 'स्वदेशी आन्दोलन' पर रचनाएँ कीं—

आओ एक प्रतिज्ञा करें, एक साथ सब जीवें मरें।
अपनी चीजें आप बनाओ, उनसे अपना अङ्ग सजाओ ॥[1]

पंडित प्रतापनारायण मिश्र के "तृप्यन्ताम्" और श्रीधर पाठक के 'ब्रेडला स्वागत' में देश की करुण दशा का हास्य-मिश्रित तथा ओजपूर्ण शैली में बहुत सुन्दर वर्णन है। पाठक जी की रचनाओं में राष्ट्रीयता का स्वर विशेष रूप से स्पष्ट है—

बन्दनीय वह देश जहाँ के देशी निज अभिमानी हों।
बांधवता में बंधे परस्पर परता के अज्ञानी हों॥
निन्दनीय वह देश जहाँ के देशी निज अज्ञानी हों।
सब प्रकार परतंत्र, पराई प्रभुता के अभिमानी हों॥

इसी स्वतन्त्रता-भाव को एक पग और आगे बढ़ाते हुये द्विवेदी जी ने कहा था—

जिसको न निज गौरव तथा निज देश का अभिमान है।
वह नर नहीं नर पशु निरा है और मृतक समान है ॥[2]

उन्नीसवीं शताब्दी के वैज्ञानिक आविष्कारों ने भारत ही नहीं सारे विश्व के उद्योग-धन्धों मे क्रान्ति उपस्थित करदी। पुतलीघरों तथा अन्य कल-कारखानों के निर्माण ने श्रमिक वर्ग के कारीगरों की जीविका छीन ली। सड़कों, नहरों, रेल, तार, डाक आदि ने विदेशों की दूरी कम करदी। सन् १८६६ ई० में स्वेज़-नहर के बन जाने से योरप का भारत से व्यापारिक सम्बन्ध और सुगम हो गया। योरपीय तथा विदेशी वस्तुओं ने भारतीय बाज़ार पर अधिकार कर लिया, यन्त्रों से स्पर्द्धा न कर सकने के कारण देशी कारीगर कृषि की ओर झुके। खेती की दशा भी शोचनीय थी। जन-संख्या में वृद्धि, उर्वराशक्ति के क्रमशः ह्रास, ईतियों और भीतियों के कारण उनकी आर्थिक दशा बिगड़ती जा रही थी। शिक्षितों को अनुकूल नौकरियाँ

१ 'स्फुट-कविता'—१९१९ ई० में संकलन-रूप में प्रकाशित।

२ कानपुर के दैनिक पत्र 'प्रताप' के शीर्ष पर छपने वाला सिद्धान्त-वाक्य।

नहीं मिलती थीं। वे शारीरिक परिश्रम के भी अयोग्य थे। एक तो शिक्षित और अशिक्षित दोनों बेकार हो रहे थे और दूसरे देश का धन विदेश जा रहा था। देश आर्थिक संकट में पड़ गया। भारतेन्दु आदि साहित्यकार अङ्गरेजी, राज्य के प्रति भक्ति प्रकट करते हुए भी उसकी आर्थिक नीति के विरुद्ध लिखने पर वाध्य हुये। असुविधा जनक खर्चीली अदालतों, उत्कोचग्राही पुलिस के अत्याचार, ऊँचा लगान और उसके संग्रह के कठोर नियम, शस्त्र और जंगल-कानून आदि ने किसानों के दुख को दूना कर दिया। जनता की एतद्विषयक प्रार्थनाओं को सरकार ने उपेक्षा की दृष्टि से देखा। सन् १८६८-६६ में घोर अकाल पड़ा, लगभग बीस लाख व्यक्ति मरे। सन् १८७७ ई० में दक्षिण में भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा। लार्ड लिटन (१८७६-८० ई०) अकाल-पीड़ितों की सहायता का उचित प्रबन्ध न कर सके। लार्ड एल्गिन के समय में (१८६४-६६ ई०) पश्चिमोत्तर प्रान्त, मध्य प्रदेश, बिहार और पंजाब में अकाल पड़े। १६०० ई० में गुजरात में भी अकाल पड़ा। इस प्रकार अकाल पर अकाल और उसके ऊपर महामारी, टैक्स, बेकारी आदि ने जनता के हृदय को छलनी बना डाला। साहित्यकारों ने देशवासियों के इन कष्टों का अनुभव किया और उन अनुभूतियों की अपनी रचनाओं में अभिव्यक्ति की।[१]

अङ्गरेजों के आधिपत्य-स्थापन के समय हिन्दू धर्म शिथिल हो चुका था। अशिक्षित भारतीय जनता अज्ञान अन्धविश्वास में संवेष्ठित थी। दुर्बल और प्राणशून्य हिन्दू जाति की धार्मिक और सामाजिक अवस्था शोचनीय थी। सारा देश तन्द्रा में था। ईसाइयों ने निर्विरोध धर्म-प्रचार आरम्भ किया। शिक्षा, धन, विवाह, पदाधिकार आदि के लोभी जनों द्वारा उनके इस कार्य का स्वागत हुआ। यों तो पन्द्रहवीं शती के आरम्भ से ही ईसाई-धर्म-प्रचारकों ने भारत में आना आरम्भ कर दिया था किन्तु प्रथम तीन सौ वर्षों में उनके प्रचार का हिन्दी-साहित्य पर कोई प्रभाव न पड़ा। जब सन् १८१३ ई० में उन्हें 'बिल्बफोर्स ऐक्ट' के अनुसार भारत में धर्म-प्रचार की आज्ञा मिल गई, तब उन्होंने इस कार्य में तीव्र दक्षता दिखलाई। धर्म-

---

१ आयो विकराल काल भारी है अकाल पर्यो,
पूरे नाहिं खर्च घर भर की कमाई में।
कौन भांति देवें टैक्स इनकम लैसन और,
पानी की पियाई, लैटरन की सफाई में।
कैसे हेल्थ साहब की बात कछू कान करें,
पड़े न सुसीत भूमि पौढ़ें चारपाई में।

प्रचार के उद्देश्य से पादरियों ने जन-साधारण की भाषा में व्याख्यान और शिक्षा की आयोजना की। सन् १८०२ ई० में "दी न्यू टेस्टामेंट" का हिन्दी अनुवाद हो चुका था। सन् १८०९ और १८२६ ई० के बीच पश्चिमी हिन्दी, ब्रजभाषा, अवधी, मागधी, उज्जैनी और बघेली में भी धर्म-ग्रन्थ प्रकाशित किए गए। सन् १८५० ई० तक बाइबिल के ही अनेक हिन्दी अनुवाद हो गये और आगे भी अनुवादों की शृंखला जारी रही।

'अमेरिकन मिशन', 'क्रिश्चयन एज्यूकेशन सोसाइटी', 'नार्थ इंडिया क्रिश्चयन टेक्स्ट एंड बुक सोसाईटी', 'क्रिश्चयन वर्नाक्यूलर लिटरेचर सोसाइटी', 'नार्थ इंडिया अविज़लियरी बाइबिल सोसाइटी' आदि ईसाई संस्थाओं ने हिन्दी को धर्म-प्रचार का माध्यम बनाकर उसका प्रचार किया। अपने धर्म की श्रेष्ठता का प्रतिपादन और, अन्य धर्मों की आलोचना करने के लिये पादरियों ने आगरा, इलाहाबाद, सिकन्दरा, बनारस फर्रुखाबाद आदि नगरों में प्रेस स्थापित किये और उनसे सैकड़ों पुस्तकें प्रकाशित कीं।

१९ वीं शती के आरम्भ में ही पश्चिमी सभ्यता और धर्म का आघात पाकर देश में उत्तेजना की लहर दौड़ गई। हिन्दुओं को अपने धर्म की ओर आकृष्ट करने के लिये ईसाइयों ने हिन्दू धर्म की सती-सरीखी क्रूर और भयकर प्रथाओं पर बुरी तरह आक्षेप किया था। राजा राममोहन राय आदि नव-शिक्षित हिन्दुओं ने स्वयं इन कुप्रथाओं का विरोध किया। इसी समाज-सुधार के उद्देश्य से उन्होंने सन् १८५८ ई० 'ब्राह्म समाज' की स्थापना की। तत्पश्चात् 'आर्य समाज' (१८७५ ई०), 'थियोसोफ़िकल सोसायटी' (सन् १८७५ ई० में न्यूयार्क तथा १८७९ ई० में भारत में) रामकृष्ण मिशन' आदि धार्मिक संस्थाओं की स्थापना हुई।

दयानन्द सरस्वती ने (१८२४-८३ ई०) वैदिक धर्म का प्रचार किया, आर्य समाज

किमि के बचावैं श्वांस और कौन ओर घुसैं,
सोवैं साथ चार चार एक ही रजाई में।
बाबू पुत्तनलाल 'समस्यापूर्ति', भा० ४ पृ० १।
संपादक—राम कृष्ण वर्मा, १८९६ ई०

पै दुख अति भारी इक यह जो बढ़त दीनता,
भारत में संपति की दिन दिन होत छीनता।
प्रेमघन, 'हार्दिक हर्षादर्श'

जिनके कारण सब सुख पावें, जिनका बोया सब जन खांय,
हाय हाय उनके बालक नित भूखों के मारे चिल्लांय॥
बालमुकुन्द गुप्त, 'स्फुट कविता', 'जातीय गीत', ६२

की शाखाओं, गुरुकुलों और गोरक्षिणी सभाओं की स्थापना की, विधवा-विवाह निषेध, बाल-विवाह, ब्राह्मण धर्मान्तर्गत कर्मकाण्ड, अन्धविश्वास आदि का घोर विरोध किया। उन्हों ने पाश्चात्य विचार-धारा की भित्ति पर स्थापित ब्राह्म-समाज ने बहु देववाद, मूर्तिपूजा, बहुविवाह आदि के विरुद्ध संग्राम किया। आर्य-समाज के सिद्धान्त का आधार विशुद्ध भारतीय था। इसने ब्राह्म-समाज के पाश्चात्य प्रभाव को रोकते हुए देश का ध्यान प्राचीन भारतीय सभ्यता की ओर खींचा। विवेकानन्द ने शिकागो में भारत की आध्यात्मिकता का प्रचार किया। 'थियोसोफिकल सोसायटी' ने 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का सन्देश सुनाते हुए भारतीय सभ्यता और संस्कृति की रक्षा की तथा उसका प्रचार किया। रामकृष्ण मिशन ने आरंभ में आध्यात्मिक और फिर आगे चलकर लोक-सेवा के आदर्श की प्रतिष्ठा करने का प्रयास किया। इस प्रकार देश के विभिन्न भागों में स्थापित धार्मिक संस्थाओं ने पश्चिमी भाषा, साहित्य, संस्कृति, सभ्यता, धर्म और शिक्षा तथा अपनी निर्बलताओं से उत्पन्न बुराइयों को दबाने का उद्योग किया।

इन धार्मिक आन्दोलनों ने हिन्दी साहित्य को भी प्रभावित किया। दयानन्द सरस्वती, भीमसेन शर्मा आदि ने हिन्दी में अनेक धार्मिक पुस्तकें लिखीं और अनेक के हिन्दी-भाष्य प्रकाशित किये। आर्य-समाजियों के विरोध में श्रद्धाराम फुल्लौरी अम्बिकादत्त व्यास आदि सनातन-धर्मियों ने भी बवण्डर उठाया। धार्मिक घात-प्रतिघात में खंडन-मंडन के लिए हिन्दी में अनेक पुस्तकों की रचना हुई। दयानन्द लिखित 'सत्यार्थ-प्रकाश', 'वेदांग-प्रकाश', 'संस्कार-विधि', आदि, श्रद्धाराम फुल्लौरी लिखित 'सत्यामृत-प्रवाह', 'भागवती' आदि, अम्बिकादत्त व्यास-लिखित 'अवतार-मीमांसा' 'मूर्ति-पूजा', 'दयानन्द-पांडित्य-खंडन' आदि कृतियाँ इसी धार्मिक संघर्ष की उपज हैं। इन रचनाओं की भाषा व्याकरण-विरुद्ध और पंडिताऊ होने पर भी तर्क और ओज से विशिष्ट है।

साहित्यकार भी इस खंडन-मंडन से प्रभावित हुए। भारतेन्दु ने इस सब खंडन-मंडन के झगड़ों से दूर रह कर प्रेमोपासना का सदेश दिया—

"खंडन जग में काको कीजे। पियारो पइये केवल प्रेम में"[1]

प्रतापनारायण मिश्र ने तो एक स्थल पर इस झूठे धार्मिक वितंडावाद से ऊबकर अशरण शरण भगवान् की शरण ली है।

"झूठे झगड़ों से मेरा पिंड छुड़ाओ। मुझको प्रभु अपना सच्चा दास बनाओ।"[2]

---

१ 'भारतेन्दु-ग्रन्थावली', पृ० १३६

२ 'प्रेम-पुष्पावली', 'वसंत'

वारेन हेस्टिंग्ज (१७७४-८५ ई०) और जानेथन डंकन (१७९५-१८११ ई०) द्वारा हिन्दुओं और मुसलमानों को संस्कृत और फ़ारसी में सांस्कृतिक शिक्षा देने की आयोजना की गई थी । विज्ञापन के युग में प्राचीन ढंग की धार्मिक शिक्षा पर्याप्त न थी । १८१३ ई० में पार्लियामेंट ने ज्ञान-विज्ञान की वृद्धि के लिये एक लाख रुपये की स्वीकृति दी, परन्तु इससे कोई उद्देश्य पूर्ति हुई नहीं । राजा राममोहन राय आदि भारतीयों की सहायता से डेविड हेअर ने १८१६ ई० में कलकत्ते में एक अङ्गरेजी स्कूल खोला और १८३७ ई० में लार्ड मेकाले ने अङ्गरेजी को ही शिक्षा का माध्यम बनाया । १८४४ ई० में हार्डिंग्ज के चार्टर के अनुसार नौकरियाँ अङ्गरेजी पढ़े-लिखे लोगों को दी जाने लगीं । १८५४ ई० में लार्ड डलहौज़ी और चार्ल्सवुड ने नई शिक्षा-योजना बनाई जिसके फलस्वरूप गांवों में प्रारंभिक और नगरों में हाई स्कूल खोले गये । सिद्धान्त रूप में शिक्षा का माध्यम देशी भाषाएँ थीं परन्तु कार्य-क्रम से अँगरेजी ही माध्यम रही । ईसाई-धर्म-प्रचारकों का शिक्षा का क्रम पहले ही से जारी था । १८५७ ई० में कलकत्ता, बम्बई और मद्रास विश्व-विद्यालयों की स्थापना हुई ।

1857 ई० के विद्रोह-शमन के बाद अँगरेजी राज्य दृढ़ हो गया । किन्तु साधारण जनता के हृदय में शासकों के प्रति श्रद्धा कम और आतङ्क अधिक था । भारतीयों की इस मनोवृत्ति को बदलने के लिये सरकार उनकी संस्कृति में परिवर्तन करना चाहती थी । इसीलिये अंगरेजी माध्यम और पाश्चात्य साहित्य के पाठन पर अधिक जोर दिया गया था । यद्यपि पश्चिमी विज्ञान, साहित्य, इतिहास, आदि के अध्ययन से भारतीयों की दृष्टि में बहुत कुछ व्यापकता आई और सामाजिक अवस्था में बहुत कुछ सुधार हुआ, तथापि अङ्गरेजी माध्यम ने भारतीय साहित्य और जीवन का बड़ा अहित किया । उसने देशी भाषाओं की उन्नति का मार्ग रूँध दिया । विदेशी साहित्य, शिक्षा, सभ्यता और संस्कृति से मोहित भारतीय नवयुवक उन्हीं के दास हो गये । वे अपनी भाषा साहित्य, सभ्यता, संस्कृति, जाति या धर्म की सभी बातों को गँवारू समझने लगे । उन्हें "स्वदेश", 'भारतीय', 'हिन्दी' जैसे शब्दों से चिढ़ होने लगी । वे हृदयहीन शिक्षित अल्पज्ञ अशिक्षितों और धनहीनों के प्रति प्रेम और सहानुभूति करने के स्थान पर तिरस्कार और घृणा के भाव धारण करने लगे । शिक्षा के क्षेत्र में काशी के राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' और पंजाब में नवीनचन्द्रराय ने हिन्दी के लिये महत्वपूर्ण कार्य किया ।

कुछ ही काल के उपरान्त हिंदी-साहित्यकारों को अपनी संस्कृति, सभ्यता और साहित्य के पुनरुद्धार की आवश्यकता का अनुभव हुआ । भारतेन्दु, प्रतापनारायण

मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त आदि ने जनता को इन विनाशकारी प्रभावों से बचने के लिये चेतावनी दी, समाज-सुधार और स्वदेशी आन्दोलन-सम्बन्धी विषयों पर ग्राम-गीत लिखने और लिखाने का प्रयास किया जिससे जागरण का नूतन स्वर अशिक्षित जनता के कानों तक भी पहुँच सके। भारतेन्दु ने जनपद-साहित्य के योग्य रचनाएँ कीं, अँगरेजी साहित्य और शिक्षा, बेकारी, सरकारी कर्मचारियों, पुलिस कचहरी, कानून उपाधियों, विधवा-विवाह, मद्यपान सुन्दर मुकरियाँ लिखीं—

सब गुरु जन को बुरो बतावे, अपनी खिचड़ी आप पकावै।
भीतर तत्व न झूठी तेजी, क्यों सखि साजन? नहिं अङ्गरेजी॥
तीन बुलाए तेरह आवें, निज निज विपदा रोइ सुनावें।
आँखीं फूटे भरा न पेट, क्यों सखि साजन? नहिं ग्रेजुएट॥
मतलब ही की बोलै बात, राखे सदा काम की घात।
डोलै पहिने सुन्दर समला, क्यों सखि साजन? नहिं सखि अमला॥
रूप दिखावत सरबस लूटै, फन्दे में जो पड़े न छूटै।
कपट कटारी हिय में हूलिस, क्यों सखि साजन? नहिं सखि पूलिस॥

'बाल-विवाह से हानि', 'जन्मपत्री मिलाने की अशास्त्रता' 'बालकों की शिक्षा' अँगरेजी फैशन से शराब की आदत', 'भ्रूणहत्या', 'फूट और बैर', बहु-जातित्व और बहुभक्तित्व', 'जन्मभूमि से स्नेह और इसके सुधारने की आवश्यकता', 'नशा', अदालत', 'हिन्दुस्तान की वस्तु हिंदुस्तानियों को व्यवहार करना चाहिये' आदि विषयों पर रचनाएँ की गईं। 'हरिश्चन्द्र मेगज़ीन' में प्रकाशित 'यूरोपीय के प्रति भारतवर्षीय के प्रश्न' और 'कलिराज की सभा' में सरकार के पिट्ठुओं पर आक्षेप है। उसी के सातवें अङ्क में नये अंगरेजी पढ़े-लिखे लोगों का अच्छा उपहास किया गया है।[३]

भारतेन्दु ने साहित्य को समाज से संबद्ध करने का प्रयास किया। उनके नाटकों में तत्कालीन सामाजिक दशा की सुन्दर व्यंजना हुई है। 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' में उन्होंने धार्मिकता के नाम पर प्रचलित सामाजिक अनाचारों और स्वार्थ लोलुप जनों का चित्रण किया है। 'विषस्य विषमौषधम्' में देशी नरेशों के वीभत्स दृश्य अङ्कित कर के दूषित वातावरण और दयनीय दशा की झाँकी उपस्थित की गई है।

१ 'भारतेन्दु-ग्रन्थावली', पृ० ८१०

२ 'भारतेन्दु-ग्रन्थावली', पृ० ८११

३ When I go Sir, market ko, these chaprasis, trouble me much.
How can I give daily Inam, ever they ask me I say such,
Sometime they me give gardania and tell baba niklo tum.

"भारत दुर्दशा" में हिन्दू धर्म के विभिन्न संप्रदायों का मत-मतांतर, जाति-पाँति के भेद-भाव, विवाह और पूजा संबन्धी कुप्रथाओं, विदेश-गमन-निषेध, अङ्गरेजी शासन आदि पर आक्षेप किया गया है।

प्रतापनारायण मिश्र के 'कलिकौतुक-रूपक' में पाखंडियों और दुराचारियों का तथा 'भारत-दुर्दशा', 'गोसंकट नाटक' और 'कलि-प्रभाव नाटक' में श्रीसम्पन्न नागरिक जनों के गुप्त चरित्रों का चित्रण किया गया है। राधाचरण गोस्वामी के 'तन मन धन श्री गोसाईं जी के अर्पण' में रूढ़िवादी तथा अन्धविश्वासी वृद्धजनों के विरुद्ध नवयुवक दल के संघर्ष और 'बूढ़े मुँह मुहाँसे' में किसान की जमींदार-विरोधी भावना तथा हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य का निरूपण है। काशीनाथ खत्री के 'ग्राम-पाठशाला' 'निकृष्ट नौकरी' और 'बाल-विधवा-संताप', राधा कृष्णदास के 'दुःखिनीबाला' तथा अन्य नाट्यकारों के नाटकों में भी समाज की दीन-दशा के विविध चित्र अङ्कित किए गए हैं।

निबन्धकारों ने भी 'राजा भोज का सपना' (सितारे-हिन्द), 'एक अद्भुत अपूर्व स्वप्न' (भारतेन्दु), 'यमलोक की यात्रा' (राधाचरण गोस्वामी), 'स्वर्ग में विचार-सभा का अधिवेशन' (भारतेन्दु) आदि निबन्धों में तत्कालीन धर्म, कर्म, दान, चन्दा, शिक्षा, पुलिस, कचहरी, आदि पर तीखा व्यंग्य किया है। [1]भारतेन्दु, प्रतापनारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त, आदि कवियों ने सामाजिक दुरवस्था को आलम्बन मान कर रचनाएँ की हैं।[2]

पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान और सभ्यता-संस्कृति की शिक्षा दीक्षा ने भारतेन्दु-युग को इतिहास

Dena na lena muft ke aye bain yaba Bare Darbari ki dum.

इस संबंध में डा० रामविलास शर्मा का 'भारतेंदु युग' (पृ० ६५-११२) अवलोकनीय है।

१ देखिये भारतेन्दु-युग—(डा० रामविलास शर्मा) पृ० ६५—१२२

२ सेल गई बरछी गई, गये तीर तरवार
  घड़ी छड़ी चसमा भये, छत्रिन के हथियार। बालमुकुन्द गुप्त 'स्फुट कविता'
  'श्रीराम स्तोत्र' पृ० ७

बात वह अगली सब सटकी, बहू जब मैं थी घूंघट की।
घुटावैं क्यों पिंजड़े में दम, नहीं कुछ अंधी चिड़िया हम॥

बाबू बालमुकुन्द गुप्त कृत 'स्फुट-कविता'—'सभ्य बीबी की चिट्ठी' पृ० ११०

बिधवा बिलपैं अरु धेनु कटैं, कोउ लागत हाय गोहार नहीं।
कौन करेजो नहिं कसकत सुनि विपति बात बिधवन की है,
ताते बढ़िकै करुणा क्रन्दना कान्यकुब्ज कन्यन की है।

प्रतापनारायण मिश्र—'मन की लहर'

की भूमिका में एक पग और आगे बढ़ा दिया। इस युग की साहित्य-सृष्टि भाव, एवं कल्पना के गगन-विहारी रीतिकालीन साहित्य और जीवन तथा कर्म में विश्वास करने वाले यथार्थवादी आधुनिक साहित्य के बीच की कड़ी है। इस युग के कवियों ने भक्ति और शृङ्गार परम्परा का पालन करते हुए भी देश-भक्ति, लोक-कल्याण, समाज-सुधार, मातृभाषोद्धार आदि का संदेश सुनाया। भारतेन्दु की कविताओं में शृङ्गार और स्वदेश-प्रेम, राधाकृष्ण की भक्ति और टीकाधारी मायावी भक्तों का उपहास, प्राचीनता और नवीनता एक साथ है। इस युग में व्यक्तिगत प्रेम और सहानुभूति ने बहुत कुछ व्यापक रूप धारण किया। शृङ्गार के आलम्बन नायक-नायिकाओं ने स्वदेश, स्वदेशी वस्तु, सामाजिक कुरीतियों, दार्शनिक और ऐतिहासिक आदि विषयों के लिये भी स्थान रिक्त किया। भारतेन्दु की "विजयिनी विजय वैजयन्ती' (१८८२ ई०) और प्रतापनारायण मिश्र की "तृप्यन्ताम्" (१८९१ ई०) कविताओं में परतन्त्र भारत की दीनावस्था पर क्षोभ, मिश्र जी की 'लोकोक्तिशतक' (१८८८ ई०), 'आव-हुमाय' (१८९८ ई०) आदि में देश की विपन्न दशा पर सन्ताप, प्रेमघन की 'मंगलाशा या हार्दिक धन्यवाद' में सुधारक शासकों की कृपा-दृष्टि पर सन्तोष और प्रतापनारायण मिश्र के 'लोकोक्तिशतक' एवं बालमुकुन्द गुप्त आदि की स्फुट कविताओं में संगठनभावना का व्यक्तीकरण है।

राधाकृष्णदास, प्रतापनारायण मिश्र ('मन की लहर-'सन्१८८५ ई०), नित्यानन्द चौबे ('कलिराज की कथा'-१८९१ ई० ', आत्माराम सन्यासी 'नशाखंडनञ्चालीसा' (१८९६) बालमुकुन्द गुप्त ('स्फुट कविता'-प्रकाशित १९१९ ई०) आदि कवियों ने सामाजिक विषयों पर रचनाएँ की। श्रीधर पाठक का (' जगतसच्चाई-सार" १८८७), माधवदास का "निर्भय अद्वैत सिद्धम्"—(१८९९ ई०), रामचन्द्र त्रिपाठी का, "विद्या के गुण और मूर्खता के दोष" आदि दार्शनिक विषयों पर की गई रचनाएँ हैं। 'दगाबाजी का उद्योग' (भारतेन्दु) 'ब्रूसल्स की लड़ाई' (श्री निवास दास) आदि की कथावस्तु का आधार ऐतिहासिक है। 'दामिनी दूतिका' (राधाचरण गोस्वामी), 'म्यूनिसिपैलिटी ध्यानम्' (श्रीधर पाठक–१८८४ ई०), 'प्लेग की भूतनी' (बालमुकुन्द गुप्त— १८९७ ई०), 'जनाने पुरुष' (बालमुकुन्द गुप्त— १८९८ ई०) आदि में कवियों ने नवीन विषयों की ओर ध्यान दिया है। हास्यरस के आलम्बन, कृपण खाऊ ब्राह्मण आदि न होकर नव-शिक्षित, फैशन के दास, रईस, लकीर के फ़कीर आदि हुए हैं तथा वीर रस के आलम्बन का गुरुतम पद देशप्रेमियों को दिया गया है। इस युग की राजनैतिक, राष्ट्रीय, आर्थिक, धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक कविताओं में अतीत के प्रति अभिमान, वर्तमान के प्रति क्षोभ और भविष्य के प्रति आशा की अभिव्यंजना हुई है।

ब्रजभाषा की पुरानी धारा में ही बहते रहे। आरम्भ में श्रीधर पाठक, नाथूराम शर्मा 'शंकर' अयोध्यासिंह उपाध्याय आदि ने भी ब्रजभाषा को ही काव्य भाषा के रूप में ग्रहण किया। (सन् १८७६ ई० से खड़ी बोली का प्रभाव बढ़ने लगा। स्वयं भारतेन्दु ने खड़ी बोली में पद्य लिखे :—

खोल खोल छाता चले, लोग सड़क के बीच।
कीचड़ में जूते फँसे, जैसे अघ में नीच॥ [1]

सन् १८७६ ई० में ही बाबू लक्ष्मीप्रसाद ने गोल्डस्मिथ के 'हरमिट' (Hermit) का खड़ी बोली में अनुवाद किया था। खड़ी बोली मे काव्य-रचना के प्रति प्रोत्साहन न मिलने के कारण भारतेन्दु और उनके सहयोगियों ने ब्रजभाषा को कविता का माध्यम बनाए रक्खा। उस युग में कोई भी कवि खड़ी बोली का ही कवि नहीं हुआ। श्रीधर पाठक ने १८८६ ई० में खड़ी बोली की पहली कविता-पुस्तक एकान्तवासी योगी' लिखी।) इस समय गद्य और पद्य की भाषा की भिन्नता लोगों को खटक रही थी। श्रीधर पाठक, अयोध्याप्रसाद खत्री आदि खड़ी बोली के पक्षपाती थे और प्रतापनारायण मिश्र, राधाचरण गोस्वामी आदि ब्रजभाषा के। राधाकृष्णदास का मत था कि विषयानुसार कवि किसी भी भाषा का प्रयोग करे। ब्रजभाषा की पुरातनता, विशाल साहित्य, माधुरी और सरसता के कारण खड़ी बोली को आगे आने में बड़ी कठिनाई हुई। परन्तु काल का आग्रह बोलचाल की भाषा खड़ी बोली के ही प्रति था। १८८८ ई० मे अयोध्याप्रसाद खत्री ने 'खड़ी बोली का पद्य' नामक सग्रह दो भागों में प्रकाशित किया। (बदरीनारायण चौधरी, श्रीधर पाठक देवीप्रसाद 'पूर्ण' नाथूराम शर्मा, आदि ने ब्रजभाषा के बदले खड़ी बोली को अपनाकर भारतेन्दु के प्रयोगों को भाषा के निश्चित रूप की ओर आगे बढ़ाया।) उन्नीसवीं शताब्दी समाप्त हो गई पर, लोगों के उद्योग करने पर भी इस नवीन काव्य-भाषा मे अपेक्षित माधुरी, प्रांजलता और प्रौढ़ता न आ सकी।

(सामयिक साहित्य की उन्नति अङ्गरेजी आदि भाषाओं के वाङ्मय का अध्ययन और

---

१ पहली सितम्बर सन् १८८१ के 'भारत-मित्र' में अपने छन्दों के साथ भारतेन्दु ने यह पत्र भी छपाया था "प्रचलित साधुभाषा में यह कविता भेजी है। देखियेगा कि इसमें क्या कसर है और किस उपाय के अवलम्बन करने से इसमें काव्यसौंदर्य बन सकता है। इस सम्बन्ध में सर्वसाधारण की सम्मति ज्ञात होने से आगे से वैसा परिश्रम किया जायगा। लोग विशेष इच्छा करेंगे तो और भी लिखने का यत्न करूँगा।"

भारतेन्दु-युग—डा० रामविलास शर्मा, पृ० १६८-६९

तत्कालीन राजनैतिक, राष्ट्रीय, धार्मिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, सामाजिक एवं साहित्यिक आन्दोलनों ने हिन्दी लेखकों को निबन्ध-रचना की ओर प्रेरित किया। उस युग से फक्कड़ हास्य-प्रिय, मिलनसार और सजीव लेखकों ने पाठकों के प्रति अभिन्नरूप और मुक्तकंठ से अपनी भावाभिव्यक्ति करने के लिए कविता, नाटक या उपन्यास की अपेक्षा निबन्ध को ही अधिक श्रेयस्कर माध्यम समझा। इस नवीन रचना की कोई ईदृक्ता या इयत्ता निश्चित न होने के कारण, आदर्श के अभाव में, स्वच्छन्दता-प्रेमी लेखकों ने इसके आकार और प्रकार को इच्छानुसार घटाया-बढ़ाया और विषय तथा व्यक्तित्व से अतिरंजित किया। इस विधान में कहानी को भी स्थान मिला और दार्शनिक तत्व के विवेचन को भी। शैली की दृष्टि से लेखकों की अपनी अपनी डफली और अपना अपना राग था। 'राजा भोज का सपना' (राजा शिवप्रसाद), 'एक अद्भुत अपूर्व स्वप्न' (भारतेन्दु), एक अद्भुत अपूर्व स्वप्न' (तोताराम), 'यमपुर की यात्रा' (राधाचरण गोस्वामी), 'आप' (प्रतापनारायण मिश्र) आदि निबन्ध इस बात के प्रमाण हैं।

इस युग के निबन्धों में निबन्धता नहीं है, उद्देश्य या विषय की एकतानता नहीं है। 'राजा भोज का सपना' में शिक्षा भी है, हास्य भी है। तोताराम के 'एक अद्भुत अपूर्व स्वप्न' में हास्य, व्यंग्य और शिक्षा एक साथ है। कोई निश्चित लक्ष्य नहीं है। पाठशालाओं के चन्दा-संग्रही, पुलिस, कचहरी आदि जो कोई भी दाएँ-बाएँ मिला है उसी पर व्यंग्य बाण छोड़ा गया है। 'स्वर्ग में विचारसभा का अधिवेशन' में भारतेन्दु ने समाज की अनेक कुरीतियों पर आक्षेप किया है।

हिन्दी-गद्य के विकास के समानान्तर ही पत्र-पत्रिकाओं ने निबन्ध लेखन को प्रोत्साहन दिया। 'हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका' में 'कलिराज की सभा' (ज्वालाप्रसाद), 'एक अद्भुत अपूर्व स्वप्न' (तोताराम), आदि निबन्ध मनोरंजक और गंभीर विषयों पर प्रकाशित हुए। 'सार-सुधानिधि' में प्रकाशित 'यमपुर की यात्रा', मार्जार-मूषक', 'तुम्हें क्या', 'होली' 'शैतान का दरबार' आदि में तत्कालीन सामाजिक और राजनैतिक दशाओं की मार्मिक व्यंजना हुई है। 'आनन्द कादम्बिनी' में 'हमारी मसहरी', जैसे मनोरंजक और 'हमारी-दिन-चर्या'-सरीखे भावात्मक निबन्धों के दर्शन होते हैं। विनोद-प्रिय 'ब्राह्मण' ने विविध विषयों पर 'घूरे के लत्ता बीने, कनातन के डौल बाँधे', 'समझदार की मौत है', 'बात', 'मनोयोग', 'वृद्ध 'भौं' आदि निबन्ध प्रकाशित किए। 'भारत-मित्र' ने 'शिव-शम्भु का चिट्ठा' में रमणीय और सक्षम भाषा में विदेशी शासन पर खूब फबतियाँ कसीं। स्पष्टवादी और तर्कशास्त्री 'हिन्दी-प्रदीप' की देन औरों की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण है। उसमें प्रकाशित 'साहित्य जन-समूह के

हृदय का विकास है', 'शब्द' आदि समीक्षात्मक तथा साहित्यिक, 'माधुर्य', 'आशा' आदि मनोवैज्ञानिक तथा विश्लेषणात्मक एवं 'श्री शंकराचार्य' और 'गुरु नानक देव' आदि विवेचनात्मक निबन्ध किसी अंश तक महत्वपूर्ण है।

भारतेन्दु-युग ने गद्य-निबन्धों के साथ पद्य-निबन्धों का भी सूत्रपात किया। हरिश्चन्द्र ने 'अङ्गरेज राज सुख साज सजे अति भारी' जैसे इतिवृत्तात्मक पद्य तो लिखे परन्तु पद्य-निबन्धों की ओर प्रवृत्त न हुए। उनके अनुयायी प्रतापनारायण मिश्र ने 'बुढ़ापा', 'गोरक्षा' 'क्रन्दन' आदि की रचना-द्वारा इस दिशा में उल्लेखनीय कार्य किया। भारतेन्दु-युग के उपदेशक, सुधारक और प्रचारक निबन्धकारों की कृतियों में विषय की व्यापकता, शैली की स्वच्छन्दता, व्यक्तित्व की विशिष्टता, भावों की प्रवणता, लक्षणा तथा व्यंजना की मार्मिकता और भाषा की सजीवता होते हुए भी निबन्ध-कला का सर्वथा अभाव है। ये निबन्ध पत्रिकाओं में सर्वसाधारण के लिये लिखित लेखमात्र हैं। उनकी एकमात्र महत्ता उनकी नवीनता मे है। भावों और विचारों के ठोसपन और भाषा की सुगठन के अभाव के कारण ये निबन्ध की मान्यकोटि में नहीं आ सकते।

भारतेन्दु के हिंदी-नाटक-क्षेत्र में पदार्पण करने के पूर्व गिरिधर दास ने १८५६ ई० में पहला वास्तविक नाटक 'नहुष' लिखा था। १८६८ ई० में भारतेन्दु ने चौर कवि-कृत 'विद्या सुन्दर' के बंगला अनुवाद का हिंदी रूपान्तर प्रस्तुत किया। इस युग के निबंधकारों और कहानी लेखकों ने भी अपनी रचनाओं में नाटकीय कथोपकथन का प्रयोग किया था। 'हरिश्चन्द्र-मैगज़ीन, में प्रकाशित 'यूरोपीय के प्रति भारतीय के प्रश्न' 'वसंत पूजा' आदि में प्रयुक्त संवाद मनोहर हैं। 'कीर्ति केतु' (तोताराम) 'तप्तासंवरण' (श्री निवासदास) आदि नाटक पहले पत्रिकाओं मे ही प्रकाशित हुए थे।

हिंदी-साहित्य मे दृश्य काव्य का अभाव भारतेन्दु को बहुत खला। उन्होंने अपने अनूदित 'पाखंड-विडंबन' 'धनंजय-विजय' 'कर्पूर-मंजरी' 'मुद्राराक्षस' 'सत्य हरिश्चन्द्र' और 'भारत-जननी' तथा मौलिक 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' 'चन्द्रावली' 'विषस्य-विषमौषधम्' 'भारत-दुर्दशा' 'नील-देवी' 'अंधेर-नगरी' प्रेम-जोगिनी' (अपूर्ण) और 'सती-प्रताप' (अपूर्ण) की रचना-द्वारा इस रिक्त भांडार को भरने का प्रयास किया। इन नाटकों में देश, जाति, समाज, संस्कृति, धर्म, भाषा और साहित्य की तत्कालीन अवस्था के यथार्थ दृश्य उपस्थित किये गये हैं।

उन्नीसवीं शती के अन्तिम चरण में भारतेन्दु की देखा देखी नाटककारों की एक श्रेणी

सी बँध गई। 'तप्तासंवरण' 'प्रहलाद चरित्र' 'रणधीर प्रेम मोहिनी' और 'संयोगिता-स्वयंवर' के लेखक श्री निवास दास, 'सीताहरण', रुक्मिणी-हरण', 'रामलीला', 'कंसवध', 'नन्दोत्सव', 'लक्ष्मी सरस्वती-मिलन', 'प्रचंड-गोरक्षण', 'बाल-विवाह', और 'गोवध-निषेध' के रचयिता देवकी नन्दन त्रिपाठी, 'सिन्ध देश की राजकुमारियाँ', 'गन्नौर की रानी,' 'लव जी का स्वप्न' और 'बाल-विधवा-सन्ताप' नाटकों के निर्माता काशीनाथ खत्री, 'उषाहरण' के कर्ता कार्तिक प्रसाद खत्री, 'दुःखिनी-बाला', 'पद्मावती', 'धर्मालाप' और 'महाराणा प्रताप' के विधायक राधाकृष्ण दास, 'बाल-विवाह' और 'चन्द्रसेन' के रचनाकार बालकृष्ण भट्ट, 'ललितानाटिका,' 'गोसंकट' और 'भारत सौभाग्य' के लेखक अम्बिकादत्त व्यास, 'सुदामा,' 'सती चन्द्रावली,' 'अमरसिंह राठौर,' 'तन मन धन श्री गोसांई जी के अर्पण' और बूढ़े मुंह मुंहासे' के रचयिता राधाचरण गोस्वामी, 'भारत-सौभाग्य,' 'प्रयाग-राम-गमन' और 'वारांगना रहस्य महानाटक' के निर्माता बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', 'संगीत-शाकुन्तल', 'भारत-दुर्दशा' और 'कलि-कौतुक' के कर्ता प्रताप नारायण मिश्र, मीराबाई और नन्दविदा' के विधायक बल्देव प्रसाद मिश्र, विवाह-विडंबन' के रचनाकार तोताराम वर्मा आदि नाटककारों ने बहु विषयक नाटकों की सृष्टि की। समाज राजनीति, इतिहास पुराण, प्रेमाख्यान आदि सभी से कथा वस्तु लेकर इन साहित्यकारों ने मुक्तहस्त से लेखनी चलाई।

नाट्य-कला की दृष्टि से श्रेष्ठ न होते हुए भी इन नाटकों का ऐतिहासिक महत्व है। भारतेन्दु ने नाटक, नाटिका, प्रहसन, भाण आदि की रचना तो की परन्तु संस्कृत-रूपकों का अन्धानुकरण नहीं किया। उनके नाटकों में प्राच्य और पाश्चात्य नाटक-शैली का सम्मिश्रण है। बोलचाल की भाषा का प्रयोग नाटकीय कथोपकथन के सर्वथा अनुकूल है। शैली की दृष्टि से श्री निवासदास ने भारतेन्दु का बहुत कुछ अनुगमन किया। भारतेन्दु-मंडल ने नाटकों के अभिनय की भी व्यवस्था की। काशी, प्रयाग, कानपुर आदि नगरों में नाटक-मंडलियों की स्थापना हुई।

भारतेन्दु और श्रीनिवासदास के उपरांत हिन्दी नाटक-संसार में अंधकार छा गया। भारतेन्दु के पश्चाद्गामी नाटककार नाट्य-शास्त्र से अनभिज्ञ थे। हिन्दी का अपना रंग-मंच था ही नहीं। पारसी नाटक कम्पनियों का आकर्षण दिन दिन बढ़ता जा रहा था। ज्ञान-विज्ञान की तीव्र प्रगति और बहुमुखी आन्दोलनों के कारण लेखकों में कलाकार की तन्मयता भी असम्भव थी। उपदेश, सुधार, प्रचार और तर्क की भावना से अभिभूत लेखक नाटक-रचना के और भी अयोग्य सिद्ध हुए। उन्होंने रंग-मंच पर पाठकों के कथोपकथन

और अंग-विक्षेप में ही नाट्य-कला की इति श्री समझ ली। अशुद्ध और अटपट भाषा की दशा और भी शोचनीय थी। भारतेन्दु की भाषा की त्रुटियाँ तो किसी प्रकार सह्य हैं, परन्तु केशवराम भट्ट की घोर उर्दू या 'प्रेमघन'-रचित 'भारत-सौभाग्य' में उर्दू, मारवाड़ी, भोजपुरी, पंजाबी, मराठी, बंगला आदि की विचित्र और अस्वाभाविक खिचड़ी अत्यन्त बेसवाड़ी हास्यास्पद है। आज के सिनेमाघरों की भाँति तत्कालीन पारसी थिएटरों ने जनता को बरबस अपनी ओर खींच लिया था। अयोध्यासिंह उपाध्याय ने 'प्रद्युम्न-विजय व्यायोग' और 'रुक्मिणी-परिणय' तथा रामकृष्ण वर्मा ने अपने अनुवादों द्वारा नाट्य-कला का पुनरुत्थान करने का प्रयास किया, परन्तु सफलता न मिली। हिन्दी-पाठकों और अभिनय-दर्शकों की रुचि इतनी भ्रष्ट हो चुकी थी कि उसका परिष्कार न हो सका।

हिन्दी-कथा-साहित्य का प्रारम्भिक क्रम १६ वीं शती के प्रथम दशाब्द में इंशाअल्ला खाँ की 'रानी केतकी की कहानी' 'लल्लू लाल की 'सिंहासन-बत्तीसी', 'बैताल-पचीसी', 'माधवानल काम-कन्द-कला', 'शकुन्तला' और 'प्रेमसागर' तथा सदल मिश्र के नासिकेतो-पाख्यान' से ही चल चुका था। फोर्ट-विलियम कालेज में गिल-क्राइस्ट की अध्यक्षता में प्रारम्भ अनुवाद-कार्य संस्कृत और फ़ारसी के आख्यानों तक ही सीमित रहा। पौराणिक धार्मिक कथाएँ 'शुक-बहत्तरी', 'सारंगासदाबृक्ष', 'किस्सा-तोता-मैना', 'किस्सा साढ़े तीन यार' तथा फ़ारसी-उर्दू से गृहीत' 'चहार-दर्वेश' बागोबहार' 'किस्सा हातिमताई' आदि रचनाएँ कहानी-प्रेमियों के हृदय पर अधिक काल तक शासन न कर सकी। इन रचनाओं में न साहित्यिक सौंदर्य था न जीवन की व्यापकता। कथा-साहित्य के प्रसार और प्रचार में पत्रिकाओं ने भी योग दिया। 'हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका' में 'मालती', 'हिन्दी-प्रदीप' में 'पढ़े-लिखे बेकार की नकल', 'सारसुधा-निधि' में 'तपस्वी', 'भारतेन्दु' में 'अकलमंद' आदि कथाएं प्रकाशित हुई।

भारतेन्दु-युग आधुनिक लघु कहानियों की कल्पना न कर सका और न तो उसमें उपन्यास-कला का विकास करने की ही शक्ति थी। 'कलिराज की सभा' 'एक अद्भुत अपूर्व स्वप्न', 'राजा भोज का सपना', 'स्वर्ग में विचार-सभा का अधिवेशन', 'यमलोक की यात्रा' आदि रचनाओं में कहानी और उपन्यास के मूल तत्व अवश्य विद्यमान थे। निबन्धों और नाटकों की लोकप्रियता ने हिन्दी साहित्यकारों को उसी ओर आकृष्ट किया। कथा-साहित्य के अनुकूल वातावरण ने उसकी रचना आगामी युग के लिये स्थगित कर दी।

अन्य भाषाओं के उपन्यासों की सुन्दर कथावस्तु मनोहर संभाषण, भावनाओं की

मार्मिकता और आकर्षक शैली ने हिन्दी-लेखकों को प्रभावित किया। सर्वप्रथम भारतेन्दु का मराठी से अनूदित 'पूर्ण प्रकाश और चन्द्रप्रभा' प्रकाशित हुआ। तदन्तर बंगला से भारतेन्दु ने 'राजसिंह', राधाकृष्णदास ने 'स्वर्णलता', 'पतिप्राणा अबला', 'मरता न क्या करता?', और 'राधारानी', गदाधर सिंह ने 'दुर्गेशनन्दिनी' और 'बंगविजेता', किशोरीलाल गोस्वामी ने 'दीप-निर्वाण' और 'विरजा' बालमुकुन्द ने 'मडेलभगिनी', प्रतापनरायण मिश्र ने 'राजसिंह', 'इंदिरा', 'राधारानी', 'युगुलांगुलीय' और 'कपाल-कुंडला', कार्तिकप्रसाद खत्री ने 'इला', 'प्रमीला', 'जया', 'कुलटा', 'मधुमालती' और 'दलित कुसुम' तथा अन्य लेखकों ने और भी अनेक अनुवाद किये। अँगरेजी की 'लेम्ब्सटेल्स फ्राम शैक्सपियर' का काशीनाथ खत्री और 'ओथेलो' का गदाधरसिंह ने अनुवाद किया। अँगरेजी से किए गए अन्य अनुवादों मे रामचन्द्र वर्मा के 'अमला-वृतात-माला', 'संसार-दर्पण', 'ठग-वृत्तांत-माला' और 'पुलिस वृत्तातमाला' एवं संस्कृत से अनूदित उपन्यासों में गदाधर सिंह का 'कादंबरी' और काशीनाथ का 'चतुरसखी' उल्लेखनीय हैं। स्वरूपचन्द जैन ने मराठी और रामचन्द्र वर्मा ने उर्दू उपन्यासों के हिन्दी-अनुवाद प्रस्तुत किए।

हिन्दी-साहित्य में उपन्यासों की आँधी भारतेन्दु के उपरान्त आई। देश के राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक आदि आन्दोलनों ने उपन्यास-लेखकों को भी प्रभावित किया। बालकृष्ण भट्ट के 'नूतन ब्रह्मचारी' (८६) तथा 'सौ अजान और एक सुजान' में, किशोरीलाल गोस्वामी के 'त्रिवेणी' (८८) 'स्वर्गीय कुसुम' (८६), 'हृदय-हारिणी' (६०), 'लवंगलता' (६०) और 'सुखशर्वरी' (६१), राधाचरण गोस्वामी के 'विधवा विपत्ति' (८८), राधाकृष्ण दास के 'निस्सहाय हिन्दू' (६०), गोपालराम गहमरी के 'नये बाबू' (६४), 'बड़ा भाई' (६८) और 'सास पतोहू' (६८), कार्त्तिकप्रसाद खत्री के 'दीनानाथ' तथा मेहता ज्वालाराम शर्मा के 'स्वतंत्र रमा' और 'परतंत्र-लक्ष्मी' (६६) एवं 'धूर्त रसिकलाल' (६६) आदि उपन्यासों में नीति, शिक्षा, समाज-सुधार, राष्ट्रीयता, रति, पराक्रम आदि के विविध चित्र अंकित किए गए। 'त्रिवेणी' में सनातन धर्म की श्रेष्ठता और अन्य धर्मावलंबियों के धार्मिक, साहित्यक एवं सांस्कृतिक आक्रमणों से आत्मरक्षा करने का आदेश, 'स्वर्गीय-कुसुम' में देवदासी प्रथा की निन्दा, 'लवंगलता' और 'कुसुम कुमारी' में वीरांगनाओं की वीरता, 'निस्सहाय-हिन्दू' में मुसलमानों के धामिक अत्याचार, हिन्दुओं की दुर्दशा और अँगरेजी शासन के गुण-गान तथा गहमरी के उपन्यासों में भारतीय जीवन और उस पर पड़ते हुए विदेशी संस्कृति के कुप्रभावों का निर्दशन है।

भारतीय जीवन की शुद्ध और सरल भूमिका में रचित इन उपन्यासों में आदर्श

नैतिकता, धार्मिकता, सुधार, उपदेश आदि लोक-कल्याण-कारण बहुत कुछ हैं; परन्तु उपन्यास-कला का अभाव है।) घटनाओं के संग्रह और त्याग, कथा की वस्तुयोजना, पात्रों का चरित्र-चित्रण कथोपकथन और संख्या, भावनाओं के विश्लेषण, भाषा के प्रयोग और शैली, रस-परिपाक आदि में कहीं भी सौंदर्य नहीं है। 'निस्सहाय हिन्दू' जैसे उपन्यासों में ढीले ढाले कथानक के बीच पात्रों का अतिशय बाहुल्य अथवा 'सौ अजान और एक सुजान' में नाटकों का सा स्वागत एवं प्रकट भाषण, पात्रानुसार विभिन्न भाषाओं के शब्दों का प्रयोग, 'कादंबरी' की सी आलंकारिक शैली आदि बातें आज उपन्यास-कला की दृष्टि से हेय समझी जाती हैं। रति की एकांगी परिधि के अन्तर्गत घिरे हुए प्रेम-प्रधान उपन्यासों की सजीवता, उनमें व्यापक जीवन की समस्याओं का निरूपण न होने के कारण नष्ट सी हो गयी है।

किशोरीलाल गोस्वामी और देवकीनन्दन खत्री ने तिलस्मी और जासूसी उपन्यासों का जो बीज बोया उसे अंकुरित और पल्लवित होते देर न लगी। 'स्वर्गीय कुसुम', 'लवंगलता', 'प्रणयिनी-परिणय', 'कटे मूंड़ की दो बातें', 'चतुरसखी', 'सच्चा सपना', 'कमलिनी', 'दृष्टांत-प्रदीपिनी', 'चन्द्रकांता' और 'चन्द्रकान्ता-संतति', 'नरेन्द्र-मोहिनी', 'कुसुम-कुमारी', 'वीरेन्द्र-वीर', सुन्दर-सरोजिनी', 'वसन्त-मालती', 'भयानक भेदिया', 'प्रवीण पथिक', 'प्रमीला' आदि रचनाओं ने एक जाल सा बुन दिया। कहीं घोड़ी को सरपट दौड़ाने वाले अवगुंठित अश्वारोही, कहीं तांत्रिक देवी और जादू के चमत्कार, कहीं नायक नायिकाओं के अद्भुत शौर्य और प्रेम का सम्मिश्रण, कहीं प्रेमियों के विचित्र षडयन्त्र और कहीं जासूसों के भयानक हथकंडे पाठकों के मन को अभिभूत कर देते हैं।

जीवन से दूर, कल्पना की उपज और घटना-वैचित्र्य-प्रधान इन उपन्यासों में मानव-सहज भावों और चरित्रों का चित्रण नहीं है। लेखक के कथन की धकधकाहट के बीच यत्र-तत्र प्रेमालाप और षडयन्त्र-रचना में प्रयुक्त पात्रों के कथोपकथन अस्वाभाविक और प्राणहीन हैं। पात्रों के चरित्र का विश्लेषण या उनके मानसिक पक्ष की समीक्षा नहीं है। ये शून्य-स्थित उपन्यास वैज्ञानिक-युग के साहित्यिकों की तुष्टि न कर सके। १८९८ ई० में किशोरीलाल गोस्वामी ने 'उपन्यास' पत्र निकाल कर उपन्यासों की दीनावस्था को सुधारने का उद्योग किया परन्तु उनके भगीरथ-प्रयत्न करने पर भी गंगा धरती पर न आई।

हिन्दी-साहित्यकारों ने बहुत समय तक आलोचना की ओर ध्यान नहीं दिया। रचनात्मक साहित्य की कमी और पद्य के अनुपयुक्त माध्यम के कारण समालोचना को तनिक भी

प्रोत्साहन नहीं मिला। हिन्दी साहित्य केवल कवितामय था। केशव और उनके अनुवर्ती कवियों ने संस्कृत काव्यालोचन के आधार पर काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों की रचना की। कवियों और उनकी कृतियों की आलोचना के नाम पर लोक-प्रचलित कतिपय सूक्तियों की ही सृष्टि हुई—

सूर सूर तुलसी ससी उडुगन केशव दास।
कलि के कवि खद्योत सम जँह तँह करहिं प्रकास॥
सतसैया के दोहरे ज्यों नावक के तीर।
देखत में छोटे लगैं घाव करैं गम्भीर॥

'भक्तमाल' ने एक प्रकार से परिचयात्मक समालोचना का सूत्रपात किया था। १६ वीं शताब्दी में देश विभिन्न हलचलों और पत्र-पत्रिकाओं के विस्तार आदि के कारण लिखित खण्डन-मण्डन का विशेष प्रचार हुआ। वह धार्मिक-ग्रंथों से चलकर पत्र-पत्रिकाओं और साहित्यक लेखकों तथा रचनाओं तक आई। १८३६ ई० में गार्सां द तासी ने 'हिन्दी और हिन्दुस्तानी साहित्य का इतिहास' और १८८३ ई० में शिवसिंह सेंगर ने अपने 'शिवसिंह-सरोज' हिन्दी के पुराने कवियों का इतिवृत्त-संग्रह लिखा। भारतेन्दु-युग के लेखों में आलोचना का आरंभिक रूप अवश्य दिखाई पड़ता है परंतु उनमें वास्तविक आलोचना का कोई तत्व नहीं है। ग्रंथकारों के गुण-दोष-दर्शन में भी विवेचना का सर्वथा अभाव है।

हिंदी साहित्य में आलोचना का वास्तविक आरम्भ बालकृष्ण भट्ट और बदरी नारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने किया। १८८५ ई० में गदाधर सिंह ने 'आनन्द कादंबिनी' में 'बंग-विजेता' के अनुवाद की आलोचना लिखी। १८८६ ई० में बालकृष्ण भट्ट ने श्री निवास दास के 'संयोगिता-स्वयंवर नाटक की सच्ची समालोचना' प्रकाशित की। उसी वर्ष प्रेमघन ने अपने पत्र 'आनंद-कादंबिनी' में इक्कीस पृष्ठों में उसकी विस्तृत समालोचना की। सन् १८८६ ई० में डा० ग्रियर्सन का 'माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर आफ नार्दर्न हिंदुस्तान' प्रकाशित हुआ। १८६३ ई० में नागरी-प्रचारिणी-सभा की स्थापना हुई और उसी वर्ष 'नागरी दास का जीवन-चरित' लेख का पाठ हुआ। १८६६ ई० में गंगाप्रसाद अग्निहोत्री ने 'समालोचना' नामक पुस्तिका लिखी।

१८६७ ई० में 'नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका' का प्रकाशन आरम्भ हुआ। उसी वर्ष उसमें जगन्नाथदास 'रत्नाकर' का पद्यात्मक 'समालोचनादर्श' और अम्बिकादत्त व्यास का 'गद्य-मीमांसा' लेख प्रकाशित हुए। आधुनिक समालोचना की विशेषताएँ न होते हुए भी इनमें

अध्ययन और गवेषणा की गम्भीरता है। कवियों और लेखकों के मार्ग-प्रदर्शन और गुण-दोष दर्शन की दृष्टि से इन आलोचनों का प्राग्द्विवेदी युग में विशेष महत्व है। हिन्दी-आलोचना के प्रारम्भिक युग में पत्र-संम्पादकों ने उल्लेखनीय कार्य किया। उस काल की बहुत कुछ आलोचनात्मक सामग्री 'हिन्दी-प्रदीप', 'आनन्द-कादम्बिनी' और 'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका' में बिखरी पड़ी है। बालकृष्ण भट्ट ने समय समय पर अपने 'हिन्दी-प्रदीप' में संस्कृत साहित्य और कवियों की परिचयात्मक आलोचना प्रकाशित की, आलोच्य पुस्तकों का विस्तृत गुण दोष विवेचन किया। तत्कालीन आलोचनाओं में अनावश्यक विस्तार और ढीलापन है।

'समालोचना'' पुस्तक से विदित है कि आरम्भिक आलोचकों ने कुछ ठीक ठिकाने का कार्य किया पर आगे चलकर आलोचना खिलवाड़ या व्यवसाय के साधन की वस्तु समझी जाने लगी। आलोचक लेखकों के राग या द्वेषवश गुणमूलक या दोषमूलक आलोचना करने लगे। परस्पर प्रशंसा या निन्दा के लिए दलबन्दी होने लगी। पुस्तक के स्थान पर लेखक ही आलोचना का लक्ष्य बन गया। आलोचनाओं का उद्देश्य होने लगा ग्रन्थकर्ताओं का उपहास, आलोचक का विनोद अथवा सस्ता नाम कमाने के लिए विद्वत्ता-प्रदर्शन। कभी कभी तो समालोचक महाशय पुस्तक कागद और छापे की प्रशंसा करके मूल्य पर अपनी सम्मति मात्र दे देते थे। रचना के गुण-दोषों की विवेचना के विषय में या तो मौन धारण कर लेते थे या अत्यन्त प्रकट विषयों पर दो चार प्रशंसा के शब्द कह कर सन्तोष कर लेते थे। वास्तव में उन्हें समालोचना के निश्चित अर्थ, उद्देश्य और आदर्श का ज्ञान ही नहीं था।

१८५७ ई० के पहले देशी भाषा के पत्रों पर कोई सरकारी प्रतिबन्ध नहीं था। तथापि 'उदन्त-मार्तंड' (१८२६ से २८ ई०), 'बनारस अखबार' (१८४५ ई०), 'सुधाकर' (१८५० ई०), 'साम्यदन्त मार्तण्ड' (१८५०-५१ ई०), 'समाचार सुधावर्षण' (१८५४ ई०) आदि कुछ ही पत्रों का उल्लेख मिलता है। "बनारस-अखबार" की भाषा मुख्यतः उर्दू थी। कहीं कहीं हिन्दी शब्दों का प्रयोग था। उसकी भाषा-नीति के प्रतिकार रूप में ही 'सुधाकर' का प्रकाशन हुआ। सर्व प्रथम हिन्दी दैनिक-पत्र "समाचार-सुधा-वर्षण' में मुख्य मुख्य विषय तो हिन्दी में थे परन्तु व्यापार-समाचार बंगला में।

कैनिंग द्वारा पत्रकारों की स्वाधीनता छिन जाने पर भी भारतेन्दु आदि ने पत्र-पत्रिकाओं का समुचित निर्वाह किया। सन् १८६८ ई० में उन्होंने 'कवि-वचन-सुधा' निकाली[१]। उसमें

---

१ उसके मुख पृष्ठ पर मुद्रित सिद्धान्त वाक्य था:—

साहित्य, समाचार, हास्य, यात्रा, ग्राम-विज्ञान आदि अनेक विषयों पर लेख प्रकाशित होते थे। सम्पादन-कला के उस प्रारम्भिक युग में भारतेन्दु की सम्पादकीय टिप्पणियों और वस्तु-योजना की मौलिकता एवं कुशलता सर्वथा श्लाघ्य है। अपनी लोकप्रियता के कारण वह पत्रिका मासिक से पाक्षिक और फिर साप्ताहिक हो गई। आरम्भ में उसमें प्राचीन और नवीन कविताएँ छपती थीं परन्तु कालान्तर में उसका रूप राजनैतिक हो गया। १८८० ई० में 'कवि-वचन-सुधा' में 'मर्सिया' नामक पंच छपा। झूठे निन्दकों की बात में आकर सर विलियम मुइर ने उसे अपना अपमान समझा और पत्रिका की सरकारी सहायता बन्द कर दी। क्रमशः उसका पतन होता गया और १८८५ ई० में पं० चिन्तामणि के हाथों उसकी अन्त्येष्टि क्रिया हुई।

१८७२ ई० में 'हिन्दी-दीप्ति-प्रकाश' और 'विहार-बन्धु' प्रकाशित हुए। १८७३ ई० में भारतेन्दु ने 'हरिश्चन्द्र-मेगज़ीन' निकाली[१]। वह पत्रिका भी मासिक से पाक्षिक और फिर साप्ताहिक हुई। उसमें भाषा-सम्बन्धी आन्दोलन की विशेष चर्चा रहती थी। हिन्दी और अँगरेज़ी दोनों भाषाओं में लेख छपते थे। अधिकांश कविताएँ ब्रजभाषा की होती थीं और संस्कृत-रचनाओं को भी स्थान मिलता था। हिन्दी-गद्य का परिष्कृत रूप पहले पहल उसी पत्रिका में प्रकट हुआ। नवें अंक से, १८७४ ई० में, उसने 'हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका' नाम धारण किया। एजूकेशन डाइरेक्टर कैम्पसन ने उसमें प्रकाशित 'कवि-हृदय-सुधाकर' शीर्षक उपदेशात्मक और उपयोगी यती-वेश्या-संवाद को अश्लील कहकर सरकारी सहायता बन्द करदी। ठीक समय पर प्रकाशित न होने के कारण उसकी अत्यन्त दुर्दशा हुई। १८८० ई० में 'मोहन-चन्द्रिका' के साथ मिला दी गई। १८८१ ई० में 'विद्यार्थी' भी इसी में सम्मिलित हो गया। उसी वर्ष उनके अनुज ने उसका पुनः प्रकाशन आरम्भ किया परन्तु शीघ्र ही मोहनलाल पंड्या की कानूनी कार्यवाही के कारण वह समाप्त हो गई। १८७४ ई० में भारतेन्दु ने तीसरी पत्रिका 'बालबोधिनी' निकाली थी। 'हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका' के साथ ही उसकी सहायता

खल जनन सों सज्जन दुखी मत होंहि हरि पद मति रहै।
उपधर्म छूटै सत्व निज भारत गहै कर दुख बहै।
बुध तजहिं मत्सर नारि नर सम होइ जग आनन्द लहै।
तजि ग्राम कविता सुकवि जन की अमृत बानी सब कहै।

१ उसके मुख पृष्ठ पर ही अँगरेजी में उसकी रूप रेखा अंकित की गई----

"A monthly journal published in connection with the Kavivachan sudha containing articles on literary, scientific, political and Religious subjects, antiquities, reviews, dramas, history, novels poetical selections, gossip, humour and wit."

भी बन्द हो गई। तदनन्तर पत्रिका का भी अन्त हो गया।

भारतेन्दु के पत्रिका-प्रकाशन-सम्बन्धी सदुद्योग से उन विषम परिस्थितियों में भी लेखकों का एक अच्छा संघ स्थापित हो गया। उनकी दृढ़ता और स्वाभिमान ने हिन्दी-लेखकों के हृदय में हिन्दी के प्रति प्रेम उत्पन्न कर दिया। जन साधारण भी हिन्दी-सेवा की ओर ध्यान देने लगे। अनेक पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन आरम्भ हुआ। खेद है कि संपादकों ने अपने कर्तव्य और उत्तरदायित्व से अनभिज्ञ होने के कारण जनता की रुचि की अवहेलना करके अपनी ही रुचि को प्रधानता दी और अपने ही सिद्धांतों को पाठकों पर बलात् लादने का प्रयास किया। भारतेन्दु इस त्रुटि को पहिचानते थे। उन्होंने अपनी पत्रिकाओं में राजनैतिक सामाजिक, धार्मिक, साहित्यिक आदि विविध-विषयक रचनाओं को स्थान दिया।

'प्रेमविलासिनी', 'सदादर्श' (१८७४ ई०), 'काशी पत्रिका' (१८७६ ई०), 'भारत-बन्धु' (१८७६ ई०) 'मित्रविलास' (१८७ ई०), 'आर्यदर्पण' (१८७७ ई०), आदि पत्रों ने न्यूनाधिक प्रचार के अतिरिक्त कोई उल्लेख्य कार्य नहीं किया। 'हिन्दी प्रदीप' (१८७७ ई०) ने अपने विविध विषयक लेखों-द्वारा हिन्दीगद्य के उत्थान में विशेष योग दिया। 'भारत मित्र' (१८७७ ई०), राजनीति-प्रधान पत्र होकर निकला और अपनी जन प्रियता के कारण पाक्षिक से साप्ताहिक हो गया। १८७७ ई० में तत्कालीन जनसाहित्य का प्रतीक 'सार सुधानिधि' प्रकाशित हुआ। वातावरण के अनुकूल भावपूर्ण कविताओं, राजनैतिक, सामाजिक, वैज्ञानिक, ऐतिहासिक, भौगोलिक आदि विषयों के लेखों, पुस्तकालोचन, नाटक, उपन्यासादि के प्रकाशन तथा रोचक और विचारपूर्ण सम्पादकीय टिप्पणियों ने उसके गौरव को बढ़ा दिया।

वर्नाक्यूलर प्रेस ऐक्ट द्वारा १८७८ ई० में लार्ड लिटन ने पत्रों की रही-सही स्वाधीनता का अपहरण करके उन्हें विवशता के बन्धन में बाँध दिया। फलस्वरूप चार वर्षों तक पत्र जगत में कुछ विशेष उन्नति न हो सकी। 'उचितवक्ता' (१८७८ ई०), 'भारतसुदशाप्रवर्तक', (१८७८ ई०), 'सज्जनकीर्तिसुधाकर' (१८७९ ई०), 'क्षत्रियपत्रिका' (१८८१ ई०), 'देशहितैषी' (१८८२ ई०) आदि टिमटिमाते हुए मन्द प्रदीप की भाँति प्रकाश में आए। स्वदेशी प्रचार के आन्दोलन एवं सभासमितियों और व्याख्यानों के कोलाहल में 'आनन्द कादम्बिनी' कविता प्रधान पत्रिका के रूप में आई।[१]

---

१ उसके एक अंक की विषय सूची इस प्रकार है—

सम्पादकीय-सम्मति समीर (सार)

साहित्य सौदामिनी

लार्ड रिपन ने (१८८०–८४ ई०) लार्ड लिटन के अन्याय को दूर किया। १८८३ ई० में 'दिनकर प्रकाश', 'ब्राह्मण', 'शुभचिन्तक', 'सदाचार मार्तण्ड', 'हिन्दोस्थान', 'धर्म दिवाकर', 'प्रयाग समाचार', 'कविकुल कंज दिवाकर', 'पीयूष प्रवाह', 'भारत जीवन', 'भारतेन्दु' आदि अनेक पत्रिकाओं का जन्म हुआ। 'ब्राह्मण' की विशेषता थी उसका फक्कड़पन, व्यंग्य और हास्य। 'भारतेन्दु' की सामग्री विविधविषयक और रोचक थी। उसका प्रतिज्ञा-वाक्य था—'कार्य वा साधयेयं शरीर वा पातयेयम'।

भारतेन्दु के उपरान्त 'भारतोदय' (१८८५ ई०), 'धर्म प्रचारक' (१८८५ ई०), 'आर्य सिद्धान्त' (१८८६ ई०), 'अग्रवालोपकारक' (१८८६ ई०), 'कृषिकारक' (१८६० ई०), 'हिन्दीपंच', 'उपन्यास' (१८६८ ई०) आदि प्रकाशित हुए। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में उपर्युक्त पत्रों के अतिरिक्त 'हिन्दी-बंगवासी', 'सुदर्शन', 'हितवार्ता', 'वेंकटेश्वर समाचार', 'छत्तीसगढ़मित्र', 'कान्यकुब्जप्रकाश', 'रसिकपंच', 'काव्यामृतवर्षिणी', 'भारतभानु', 'बुद्धिप्रकाश', 'सुगृहिणी', 'भारतभगिनी', 'साहित्यसुधानिधि' आदि ने उत्तर भारत में पत्रों का एक जाल-सा बिछा दिया।

भारतेन्दु, बालकृष्ण भट्ट, प्रताप नारायण मिश्र, बदरी नारायण चौधरी, किशोरी लाल गोस्वामी आदि अधिकांश हिन्दीलेखक सम्पादक थे। हिन्दी-प्रचारकों, राजनीतिज्ञों, समाज सुधारकों, कट्टरपंथियों आदि ने अपने अपने मतों के प्रतिपादन और प्रचार के लिए ही पत्र-पत्रिकाओं का सम्पादन किया। 'हिन्दोस्थान', 'हिन्दीपंच' आदि राजनैतिक; 'मित्रविलास', 'आर्यदर्पण', 'भारतसुदशाप्रवर्तक', 'धर्मदिवाकर', 'धर्मप्रचारक', 'आर्यसिद्धान्त' आदि धार्मिक; 'अग्रवालोपकारक', 'क्षत्रियपत्रिका', आदि सामाजिक और 'कविवचनसुधा', 'हिन्दी प्रदीप', 'ब्राह्मण', 'आनन्दकादम्बिनी' आदि साहित्यिक पत्र थे। असाहित्यिक पत्रों में भी साहित्य का कुछ न कुछ अंश अवश्य रहता था। भूगोल, विज्ञान आदि विशिष्ट विषयों की पत्रिकाओं का अभाव था।

सभी पत्रिकाओं की दशा शोचनीय थी। आर्थिक कठिनाइयों के कारण अधिकांश पत्रों

प्रेरितकलापि कलरव
काव्यामृत वर्षा
हास्यहरितांकुर (सार)
प्राप्ति स्वीकार वा समालोचना सीकर (सार)
मनुभारम्भप्रकाश — 'आनन्दकादम्बिनी'
वृत्तान्तबलाकावली (सार) — मिर्ज़ापुर, चैत्र, सं० १६६१।

की इतिश्री हो जाती थी। "ब्राह्मण" का मूल्य केवल दो आना था तथापि ग्राहकों से चन्दा माँगते माँगते थककर ही प्रताप नारायण मिश्र को लिखना पड़ा था—

आठ मास बीते जजमान, अब तो करो दच्छिना दान।

जनसाधारण में पत्रपत्रिकाओं के पढ़ने की रुचि नहीं थी। श्रीसम्पन्न जन भी इस ओर से उदासीन थे। सरकार की तलवार भी तनी रहती थी। सम्पादकों के लाख प्रयत्न करने पर भी ग्राहकसंख्या न सुधरती थी। कार्तिक प्रसाद खत्री तो लोगों के घर जाकर पत्र पढ़कर सुना तक आते थे। इतने पर भी उनका पत्र कुछ ही दिन बाद बन्द हो गया। मूल्य अत्यन्त कम और प्रचार का उद्योग अत्यधिक होते हुए भी पत्रों की तीन सौ प्रतियाँ बिकना कठिन हो जाता था। अधिकांश पत्रिकाओं के लिए चार पाँच वर्ष तक की जीवनावधि बहुत बड़ी बात थी।

१९वीं शती के हिन्दी-पत्रों का आकार बहुत सीमित था। 'ब्राह्मण' के पहले अंक[1] में केवल १२ पृष्ठ थे। उसकी लेखसूची इस प्रकार थी

प्रस्तावना
प्रेरित पत्र —काशीनाथ खत्री
होली—प्रताप नारायण मिश्र
स्थानीय समाचार
विज्ञापन

'हिन्दी प्रदीप' का आकार अपेक्षाकृत बड़ा था। उसके सितम्बर, १८७८ ई० के द्वितीय वर्ष के प्रथम अंक की विषय सूची निम्नांकित है—

एक बधाई का मलार	मुख पृष्ठ
प्रेस ऐक्ट के विरोध में हम चुप न रहे	२
पुराने और नए अवध के हाकिम	३
पश्चिमोत्तर के विद्याविभाग में अन्धा-धुन्ध	५
मलार	६
बंगाल और यहाँ के सुशिक्षित	
सच मत बोलो	९
पेट फूलने और अफरने की बीमारी	६
हम लोगों के दान का क्रम	१२
सभ्यता का एक नमूना	१३

[1] मार्च, १८८३ ई०।

चतुर्थ अंक—प्रथम गर्भांक[1]	१४
संक्षिप्त-समाचार (स्थानिक)	१५
साधारण समाचार	१६

'हिन्दी प्रदीप' को छोड़ कर अधिकतर पत्र 'ब्राह्मण' जैसे ही थे जिनकी ईदृक्ता और इयत्ता अतिनिम्न कोटि की थी। पत्रिका की लेख-पूर्ति बहुधा सम्पादक द्वारा ही अपने या अन्य नामों से हुआ करती थी। सामान्य लेखक भी विभिन्न नामों से लेख लिखते थे। प्रचार-प्रधान भावना के कारण लेखों में सार न था। विविध विषयों और लोकप्रवृत्ति की ओर ध्यान देने वाले 'ब्राह्मण' और 'हिन्दी प्रदीप' में भी इतिहास, पुरातत्व, विज्ञान, जीवनचरित आदि पर सुन्दर रचनाओं के दर्शन नहीं हुए।

इन पत्रों की भाषा की तो और भी दुर्दशा थी। एक ही पत्र अलग अलग भाषाओं में कई कालमों में छपता था, उदाहरणार्थ 'धर्म प्रचारक' हिन्दी और बंगला में तथा 'भारतोपदेशक' हिन्दी और संस्कृत में। 'समाचार सुधावर्षण' हिन्दी और बँगला में तथा 'कृषिकारक' हिन्दी और मराठी में अलग अलग प्रकाशित होते थे। उनके भाषा प्रयोग मनमाने होते थे। व्याकरण की शुद्धि की ओर कोई ध्यान ही नहीं देता था। 'हरिश्चन्द्र मैगज़ीन' का नाम और मुख पृष्ठ पर उसका विवरण तक अँगरेजी में थे। 'ब्राह्मण' में स्थान स्थान पर कोष्ठक में (education national vigour and strength, character) आदि अँगरेजी शब्दों का प्रयोग मिलता है। फ़ारसी-अरबी के फ़िकरों के साथ ही साथ 'यावत मिथ्या' और 'दरोग़ की किब़लेगाह' जैसे विचित्र प्रयोगों का भी दर्शन होता है। 'आनन्द-कादम्बिनी' सम्पादक प्रेमघन अपने ही उमड़ते हुए विचारों और भावों को व्यक्त करने के लिए समाचार तक अलंकृत भाषा में छापते थे।[2] 'नागरीनीरद' और 'आनन्द कादम्बिनी' के शीर्षक तक सानुप्रास रूपक के रूप में होते थे, यथा सम्पादकीय सम्मतिसमीर, हास्य–

---

१. किसी नाटक का जिसका नाम नहीं दिया।

२. उनके सम्पादकीय सम्मतिसमीर का एक झोंका इस प्रकार है—

"आनन्दकन्दनन्दनन्दन और श्री वृषभानुनन्दिनी की कृपा से आनन्दकादम्बिनी के द्वितीय प्रादुर्भाव का प्रथम वर्ष किसी प्रकार समाप्त हो गया और आज द्वितीय वर्ष के आरम्भ के शुभ अवसर पर हम उस जुगुल जोड़ी के चरणकमलों में अनेकानेक प्रणाम कर पुनः आगामि वर्ष को सकुशल पूर्ण साफल्य प्राप्ति पूर्वक परिसमाप्ति की प्रार्थना करने में प्रवृत्त हुए हैं।"

—'आनन्दकादम्बिनी'
मिर्ज़ापुर, चैत्र सं० १९६१।

हरिताङ्कुर', 'विज्ञापन-बीर-बहूटियाँ' आदि। उपर्युक्त पत्रिकाओं के आकार-प्रकार में सर्वत्र कमी थी। रचनाओं में गम्भीरता या ठोसपन न था। वस्तुयोजना और सम्पादकीय टिप्पणियाँ सुषमा और सुन्दरता से शून्य थीं। इनमें मनोरंजन का साधन तो था परन्तु ज्ञानवर्धन की सामग्री बहुत कम थी।

१८६७ ई० में 'नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका' ने हिन्दी-संसार में एक स्वर्णयुग का आरम्भ किया। उसने साहित्य, समालोचना, इतिहास आदि पर गम्भीर, गवेषणात्मक और पांडित्य-पूर्ण लेख प्रकाशित हुए तथापि हिन्दी में ऐसी पत्रिकाओं का अभाव बना रहा जिनमें साहित्य, इतिहास, भूगोल, पुरातत्व, विज्ञान आदि विषयों पर उपयोगी एवं ज्ञानवर्धक लेख तथा कविता, कहानी, आलोचना, विनोद आदि सब कुछ हो और जो हिन्दी के अभावों की सांगोपांग यथायथ पूर्ति के साथ ही साथ पाठकों और लेखकों को समानरूप से लाभान्वित कर सके। ऐसे योग्य सम्पादकों की आवश्यकता बनी रही जो निःस्वार्थ भाव से अपनी समस्त साधना द्वारा उपर्युक्त उद्देश्य को सिद्ध करके विपन्न हिन्दी को सम्पन्न बना सकें।

इसी उद्देश्य-पूर्ति की प्रतिज्ञा लेकर सरस्वती (१६०० ई०) नई सज-धज में हिन्दी-जगत में आई, परन्तु प्रथम तीन वर्षों तक अपना कर्तव्यपालन न कर सकी।

काव्य और तत्सम्बन्धी विषयोंके अतिरिक्त इतिहास, विज्ञान, समाजनीति, धर्म राजनीति पुरातत्व आदि को भारतेन्दुयुग के साहित्यकारों ने साहित्य की सीमा से बाहर की वस्तु मान कर उस ओर कोई ध्यान नहीं दिया। भारतेन्दु ने 'काश्मीर कुसुम',[1] 'बादशाह दर्पण' लिख कर इतिहास की ओर और 'जयदेव की जीवनी' लिखकर जीवन चरित की ओर हिन्दीलेखकों का ध्यान आकृष्ट करना चाहा था। काशीनाथ खत्री ने 'भारतवर्ष की विख्यात स्त्रियों के चरित्र', 'यूरोपियन धर्मशीला स्त्रियों के चरित्र', 'मातृ-भाषा की उन्नति किस विधि करना योग्य है', आदि अनेक पुस्तिकाएँ तथा लेख लिखे। वास्तव में द्विवेदी जी के पूर्व का विविध-विषयक साहित्य पत्रपत्रिकाओं में लेखों के रूप में ही प्रस्तुत किया गया। राजनीति, समाज, देश, ऋतुछटा, जीवन-चरित, इतिहास, भूगोल, जगत् और जीवन से सम्बन्ध रखने वाले 'आत्मनिर्भरता', 'कल्पना' आदि विषय, नागरी हिन्दी प्रचार, हास्यविनोद आदि पर बहु-विषयक रचनाएँ इन्हीं पत्रिकाओं में ही समय समय पर प्रकाशित हुईं। एकाध अपवादों को छोड़कर वे उन्हीं के साथ विलीन भी होती जा रही हैं। इन रचनाओं में ठोसपन और सार, अतएव स्थायित्व नहीं है। इनकी महत्ता बीसवीं शती के विविधविषयक हिन्दी-साहित्य की भूमिकारूप में ही है।

---

१. 'राजतरंगिणी' का कुछ अंश।

संसार के इतिहास में उन्नीसवीं शती का उत्तरार्द्ध अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। पश्चिम में कार्लमार्क्स, डारविन, टाल्स्टाय आदि, भारत में ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, दयानंद सरस्वती, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र आदि महान् वैज्ञानिक, समाज सुधारक और साहित्यिक इसी युग में हुए। यह युग वैज्ञानिक, राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, साहित्यिक आदि सभी प्रकार के आन्दोलनों का था। चारों ओर सभा समाजों और व्याख्यानों की धूम मची हुई थी। असाहित्यिक आन्दोलनों की चर्चा ऊपर हो चुकी है। हिन्दी साहित्य भी सभासमाजों की स्थापना में अपेक्षाकृत पीछे नहीं रहा। भारतेन्दु ने १८७० ई० में 'कविता-वर्धिनीसभा' और १८७३ ई० में 'तदीय समाज' की स्थापना की। तत्पश्चात् 'कविकुल-कौमुदी-सभा'[1], 'हिन्दीउद्धारिणी-प्रतिनिधिमध्य-सभा'[2], 'विज्ञान प्रचारिणी-सभा'[3], 'तुलसी स्मारक-सभा'[4], 'मित्र समाज'[5], 'भाषा संवर्धिनी-सभा'[6], 'कवि समाज'[7], 'मातृ-भाषा प्रचारिणी-सभा'[8], 'नागरी प्रचारिणी-सभा'[9] आदि की स्थापना हुई।

भारतेन्दु के समय से ही हिन्दीप्रचार का उद्योग हो रहा था। कवियों ने भी भाषा और साहित्य की समस्याओं पर कविताएँ लिखीं। उन्होंने हिन्दी का अहित करने वाली उर्दू और अँगरेजी का विरोध किया। १८७४ ई० में भारतेन्दु ने 'उर्दू का स्यापा' कविता लिखी—

भाषा भई उरदू जग की अब तो इन ग्रन्थन नीर डुबाइए।

१८७७ ई० में उन्होंने हिन्दीवर्धिनी-सभा (प्रयाग) के तत्वावधान में 'पद्य में हिन्दी की उन्नति' पर व्याख्यान दिया। तदुपरान्त प्रतापनारायण मिश्र ने 'तृप्यन्ताम्' (१८९१ ई०) राधाकृष्णदास ने 'मैकडानेल पुष्पांजलि' (९७ ई०) बालमुकुन्द गुप्त ने 'उर्दू का उत्तर' (१९०० ई०) मिश्रबन्धु ने 'हिन्दी अपील' (१९०० ई०) आदि कविताएँ लिखीं। पं० रविदत्त शुक्ल ने 'देवाक्षर चरित्र-प्रहसन' लिखा जिसमें उर्दू की गड़बड़ी के विनोदपूर्ण दृश्य अंकित किए गए। नागरी-प्रचारिणी-सभा के संस्थापक श्यामसुन्दरदास, रामनारायण

---

१. राधाचरण गोस्वामी द्वारा सं० १९३२ में स्थापित।
२. प्रयाग में १८८४ ई० में स्थापित।
३. सुधाकर द्विवेदी द्वारा काशी में स्थापित।
४. सुधाकर द्विवेदी द्वारा स्थापित।
५. कार्तिक प्रसाद खत्री द्वारा शिलांग में स्थापित।
६. अलीगढ़, स्थापक तोताराम।
७. पटना
८. रांची
९. काशी, १८९३ ई०।

मिश्र और शिवकुमारसिंह तथा पं० गौरीदत्त, लक्ष्मीशंकर मिश्र, रामदीनसिंह, रामकृष्ण वर्मा गदाधरसिंह आदि ने नागरीप्रचार की धूम बाँधी। सं० १६५५ में राजा प्रतापनारायण सिंह, राजा रामप्रतापसिंह, राजा बलवन्त सिंह, डा० सुन्दरलाल और पं० मदनमोहन मालवीय का प्रभावशाली प्रतिनिधिमंडल लाट साहब से मिला और नागरी का मेमोरियल अर्पित किया। मालवीय जी ने 'अदालती लिपि' और 'प्राइमरी शिक्षा' नामक अँगरेजी पुस्तक में नागरी को दूर रखने के दुष्परिणामों की बड़ी ही विस्तृत और अनुसन्धान पूर्ण मीमांसा की। सं० १६५६ में नागरी-प्रचारिणी-सभा ने प्राचीन ग्रन्थों की खोज और कवियों के वृत्तों के प्रकाशन का कार्य आरम्भ किया। सं० १८५७ में कचहरियों में नागरीप्रचार की घोषणा हो गई, परन्तु बहुत दिनों तक कार्य का रूप न धारण कर सकी। हिन्दीप्रचार का इतना उद्योग होने पर भी लोगों में मातृ-भाषा का का प्रेम न उमड सका। पढ़े लिखे लोग बोल-चाल, चिट्ठी-पत्री आदि में भी उर्दू या अँगरेजी का प्रयोग करते थे। हिन्दी गँवारू भाषा समझी जाती थी। सरकारी कार्यालयों में भी उसके लिये स्थान न था। घर में और बाहर सर्वत्र ही वह तिरस्कृत थी।[१]

अपरिपक्व हिन्दीगद्य की दशा शोचनीय थी। १८३७ ई० में सरकारी कार्यालयों की भाषा फारसी के स्थान पर अप्रत्यक्ष रूप से उर्दू हो गई। जीविका के लिए लोग देवनागरी लिपि और हिन्दी भाषा का विस्मरण करके अरबी लिपि और उर्दू भाषा सीखते थे। भारतेन्दु के पूर्व एक प्रभावशाली अनुकरणीय नेता के अभाव में हिन्दी के किसी सर्वसम्मत रूप की प्रतिष्ठा न हो सकी। वह हिन्दी का संकटकाल था। उच्च शिक्षा का माध्यम अँगरेजी और प्रारम्भिक का उर्दू था। अपने घर में भी हिन्दीकी पूछ न थी। सभ्य कहलाने के लिये उर्दू या अँगरेजी जानना अनिवार्य था केवल हिन्दी जानने वाले गँवार समझे जाते थे। सर सैयद जैसे प्रभविष्णु व्यक्ति उर्दू के समर्थक थे। राजा शिवप्रसाद के सतत उद्योग से हिन्दी प्रारम्भिक शिक्षा का माध्यम हुई। समस्या थी पुस्तकों की। सदासुखलाल के 'सुखसागर' की भाषा साधु होते हुए भी पंडिताऊ, इंशाअल्ला की 'रानी केतकी की कहानी'

१, "उस समय हिन्दी हर तरफ दीन हीन थी। उसके पास न अपना कोई इतिहास था, न कोष, न व्याकरण। साहित्य का खजाना खाली पड़ा हुआ था। बाहर की कौन कहे खास अपने घर में भी उसकी पूछ और आदर न था। कचहरियों में वह अछूत थी। कालेज में घुसने न पाती थी, स्कूलों में भी एक कोने में दबकी रहती थी। हिन्दू विद्यार्थी भी उससे दूर रहते थे। अँगरेजी और उर्दू में शुद्ध लिखने बोलने में असमर्थ हिन्दी भाषी भी उसे अपनाने में अपनी कुटाई समझते थे। सभा समाजों में भी प्रायः उसका बहिष्कार ही था।" 'आज' ६ नवम्बर, १६२९ ई०।

की हिन्दी लखनवी और लल्लूलाल के 'प्रेमसागर' की ब्रजमिश्रित थी। सदल मिश्र की भाषा में पूर्बीपन और पुराना पन था। ईसाई धर्म प्रचारकों की रचनाएँ साहित्यिक सौन्दर्य से हीन थीं। उनका टूटाफूटा गद्य ग्राम्यप्रयोगों, गलत मुहावरों, व्याकरण की अशुद्धियों; निरर्थक शब्दों, शिथिल और असम्बद्ध वाक्यविन्यास से भरा हुआ था। राजा शिवप्रसाद ने इस अभावपूर्ति के लिए स्वयं और मित्रों द्वारा पाठ्य पुस्तकें लिखी लिखाई। 'मानव धर्म सार' भूगोल हस्तामलक, आदि कुछ रचनाओं को छोड़कर उन्होंने देवनागरी लिपि में उर्दू का ही प्रयोग किया। हिन्दी का 'गवाँरपन' दूर करने तथा उसको 'फैशनेबुल' बनाने के लिए अरबी फारसी के शब्द भरे। अपने अफसरों के प्रसन्न करने से लिये हिन्दी का गला घोंटा। भाषा के इस विदेशी रूप को ग्रहण करने के लिए समाज तैयार न था। मु० देवीप्रसाद और देवकीनन्दन खत्री ने सच्ची हिन्दुस्तानी लिखी। भाषा का यह रूप भी साहित्यिकों को न रुचा। प्रतिक्रिया के रूप में राजा लक्ष्मणसिंह विशुद्ध हिन्दी को लेकर आगे बढे। उनकी संस्कृतगर्भित भाषा भी कृत्रिम और त्रुटिपूर्ण थी।

भाषा की इस भूमिका में भारतेन्दु ने पदार्पण किया। जनता सरल, सुन्दर और सहज भाषा चाहती थी। गद्य में व्यापक प्रयोग न होने के कारण ब्रजभाषा में गद्योपयुक्त शक्ति, सामग्री और साहित्य का अभाव था। खड़ी बोली व्यवहार और ग्रन्थों में प्रयुक्त हो चुकी थी। परन्तु उसका स्वरूप अनिश्चित था। भारतेन्दु ने चलते शब्दों या छोटे छोटे वाक्यों के प्रयोग द्वारा बोल चाल और संवाद के अनुरूप सरल एवं प्रवाहपूर्ण गद्य का बहुत ही शिष्ट और साधु रूप प्रस्तुत किया। भाषा के लिए उन्हें बड़ा ही घोर संग्राम करना पड़ा। १८८२ ई० में 'हंटर कमीशन' के सामने हिन्दीभाषी जनता द्वारा अनेक मेमोरियल अर्पित किए गए। सरकारी अफसरों के सीखने की भाषा उर्दू थी। अतः उनके अधीनस्थ भी उर्दू भक्त थे। गद्य की भाषा पर भी अवधी और ब्रजभाषा का प्रभाव था। परंपरागत भाषा का भंडार बहुत ही क्षीण था। वह विकृत, अप्रचलित और प्राचीन शब्दों से पूर्ण तथा कला और विचारप्रदर्शन के योग्य शब्दों से सर्वथा हीन थी। भारतेन्दु ने वाङ्मय के विविध अंगों की पूर्ति के लिए चलते, अर्थबोधक और साथ ही सरल गद्य के परिष्कृत रूप की प्रतिष्ठा की। यही नहीं, उन्होंने जनभाषा और जनसाहित्य की आवश्यकता को समझा, उपभाषाओं और ग्रामीण बोलियों में भी लोकहितकारी साहित्यरचना का निर्देश किया। आवश्यकतानुसार उन्होंने दो प्रकार की गद्यशैलियों में रचना की। एक सरल और बोलचाल की पदावली यदा-कदा अरबी-फारसी के शब्दों से रंजित है और वाक्य प्रायः छोटे हैं। चिन्तनीय विषयों के विषयानुकूल ओज या माधुर्य से पूर्ण, प्रायः समस्त और सानुप्रास है। उन्होंने अव्यवहृत शब्दों

का भरसक बहिष्कार किया। शब्दों के अंग-भंग और तोड़ मरोड़ को दूर किया। मुहावरों के प्रयोग द्वारा भाषा में सरसता और प्रभावोत्पादकता लाए, परन्तु अँगरेजी या उर्दू से प्रभावित नहीं हुए।

भाषानिर्माण के पथ पर भारतेन्दु अकेले नहीं थे। धर्मप्रचारक दयानन्द सरस्वती ने हिन्दीगद्य को भावाभिव्यंजन और कटाक्ष की शक्ति दी। प्रतापनारायण मिश्र ने स्वच्छन्द गति, बोलचाल की चपलता, वक्रता और मनोरंजकता दी। प्रेमघन ने गद्य काव्य की झलक, आलंकारिकता की आभा, सम्भाषण का अनूठापन और अर्थव्यंजकता दी। बालकृष्ण भट्ट ने अपनी चलती, चरपरी, तीखी और चमत्कारपूर्ण भाषा से, श्रीनिवासदास ने खड़ी बोली के शब्दों और मुहावरों से, जगमोहनसिंह ने दृश्याकन और भावव्यंजना में समर्थ, स्निग्ध, संयत, सरल और सोद्देश्य शैली से तथा तत्कालीन अन्यलेखकों स्वभावतः आनन्दी जीवों, ने अपनी सजीव और मनोरंजक शैलियों द्वारा विपन्न हिन्दी को सम्पन्न बनाने का प्रयास किया।

१९वीं शती के गद्य का उपर्युक्त मूल्यांकन उस युग और इतिहास की दृष्टि से है। वस्तुतः इन बातों के होते हुए भी भारतेन्दु-युग ने खड़ी बोली में पर्याप्त और उच्चकोटि की रचना नहीं की। उस युग की अशुद्ध और संकर खड़ी बोली प्राजल, परिष्कृत और परिमार्जित न हो सकी। पद्य में तो ब्रजभाषा का एकच्छत्र राज्य था ही, गद्य को भी उसने और अवधी ने आक्रान्त कर रखा था। दयानन्द, भारतेन्दु आदि लेखकों की कृतियों में भी प्रान्तीयता की प्रधानता थी। प्रताप नारायण मिश्र इससे बुरी तरह प्रभावित थे। उन्होंने 'घूर के लत्ता बीनै, कनातन के डौल बाँधै', 'खरी बात शहिदुल्ला कहैं, सबके जी से उतरे रहैं', मुँह बिचकाना', 'पख निकालना' आदि बैसवाड़ी कहावतों तथा मुहाविरों और 'टेंव', खौंखियाना', 'मेंतमेंत' आदि प्रान्तीय शब्दों का प्रयोग किया है। जैनेन्द्रकिशोरकृत 'कमलिनी' उपन्यास में 'नाक बह रही है' के स्थान पर 'नासिका रन्ध्र स्फीत हो रहा है' का प्रयोग हास्यास्पद नहीं तो और क्या है ? भीमसेन शर्मा एक पग और आगे बढ़ गए हैं। उन्होंने उर्दू के दुश्मन', 'सिफारिस', 'चस्मा', 'शिकायत' आदि के स्थान पर क्रमशः 'दु:शमन', 'क्षिप्राशिष', 'चक्ष्मा', 'शिक्षायत्न' आदि प्रयोग करके संस्कृत का जननीत्व सिद्ध करने की चेष्टा की है। बालकृष्ण भट्ट आदि ने विदेशी शब्दों को मनमानी अपनाया है। 'अपव्यय या फिजूलखर्ची', 'मोहब्बत संगत' आदि में संस्कृत और अरबी फारसी के शब्दों का सपर्याय प्रयोग भाषा की निर्बलता का सूचक है। प्रेमघन की भाषा कहीं ('भारत-सौभाग्य' नाटक आदि में) उर्दू मिश्रित और कहीं ('आनन्द-कादम्बिनी' में) संस्कृत-गर्भित, शब्दाडम्बरपूर्ण, दीर्घवाक्यमयी और व्यर्थ आलंकारिक है। श्रीनिवासदास के पात्रों की अपनी अपनी भाषा बड़ी ही निराली है।

यद्यपि बंगला के प्रभाव से हिन्दी में कोमलता और अभिव्यंजना-शक्ति आ रही थी और अँगरेजी के प्रभाव से विराम आदि चिन्हों का प्रयोग होने लगा था तथापि यह सब शून्यवत् था। इन सबके अतिरिक्त तत्कालीन लेखकों ने व्याकरण-संबंधी दोषों के सुधार की ओर कोई ध्यान नहीं दिया। उसके रूप में सर्वत्र अस्थिरता और असंयतता बनी रही। 'इनने', 'उनने', इन्हें', 'उन्हैं', 'मुझै', 'सक्ती', 'जिस्में', 'परग', 'चिरौरी', 'माँख', 'खीस' (जेब) 'ब्यारी' (रात्रि का भोजन) आदि प्रयोगों का बाहुल्य बना रहा। भारतेंदु और प्रतापनारायण मिश्र के बाद हिन्दी साहित्य प्रभंजनपीड़ित पतवारहीन नौका की भाँति झूमचूम होने लगा। निरंकुश लेखक बगटुट घोड़ों की भाँति मनमानी सरपट दौड़ने लगे। उन्हें न भाषा की शुद्धता का ध्यान रहा न शैली की। सभी की अपनी अपनी तुँबड़ी थी और अपना अपना राग था। हिन्दी-भाषा और साहित्य में चारों ओर अराजकता फैल गई। हिन्दी को अनिवार्य अपेक्षा थी एक ऐसे प्रभविष्णु सेनानी की जो उस अव्यवस्था में व्यवस्था स्थापित करके भ्रांत और अनजान लेखकों का पथप्रदर्शन कर सके।

साहित्य की इस ऊबड़खाबड़ पीठिका में पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी का आगमन हुआ। कविता के क्षेत्र में वे विषय, भाव, भाषा, शैली और छन्द की नवीनता लेकर आए। हिन्दी के उच्छृंखल निबन्ध को निबन्धता, एकतानता दी, और पद्य निबन्धों की अभिनव परम्परा को आगे बढ़ाया। नाट्य साहित्य के उस पतनकाल में नाटककारों, पाठकों और दर्शकों को नाट्यकला का ज्ञान कराने के लिए 'नाट्यशास्त्र' की रचना की। तिलस्मी और जासूसी उपन्यासों के कारण जनता की भ्रष्ट रुचि का परिष्कार करने तथा लेखकों के समक्ष भाषा और भाव का आदर्श उपस्थित करने के लिए आख्यायिकारूप में संस्कृत के अनेक काव्यग्रन्थों का अनुवाद किया। हिन्दी कालिदास और रीडरों की आलोचना के साथ ही हिन्दी समालोचना-प्रणाली का कायाकल्प किया। हिन्दी में आधुनिक आलोचनाशैली के सूत्रपात का श्रेय उन्हीं को है। सत्रह वर्षों तक 'सरस्वती' का सम्पादन करके उन्होंने हिन्दी के सामयिक साहित्य के अभावों की सुन्दर पूर्ति की। सम्पत्ति शास्त्र', 'शिक्षा', 'स्वाधीनता' आदि विविध-विषयक मौलिक और अनूदित पुस्तकों की रचना करके हिन्दी के रिक्त कोष को भरने की चेष्टा की। ऐतिहासिक और पुरातत्वविषयक लेखों द्वारा विदेशी सभ्यता और संस्कृति से अभिभूत भारतीयों की हीनतानुभूति दूर करने और उनके हृदय में आत्मगौरव की भावना भरने का प्रयास किया। विज्ञापनबाज के नहीं, सच्चे मातृ-भाषा-प्रेमी के रूप में हिन्दी भाषा एवं साहित्य के प्रचार तथा प्रसार के लिये अपना जीवन अर्पित कर दिया। असमर्थ तुतलाती हिन्दी को सक्षम और प्रौढ़रूप देकर उसके इतिहास को बदल दिया। उन्होंने साहित्य का ही नहीं एक नवीन युग का निर्माण किया।

हिन्दी के अनन्य महारथी और एकान्त साधक की साहित्य-सेवा का समुचित मूल्यांकन करना हिन्दी के लिए परम गौरव का विषय है।

—:*:—

दूसरा अध्याय

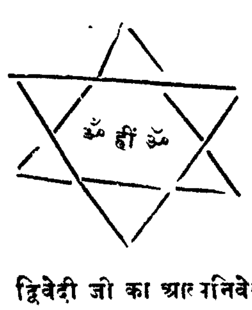
चरित और चरित्र

पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी का जन्म वैशाख शुक्ल ४, संवत् १९२१ को उत्तर प्रदेश के रायबरेली जिले के दौलतपुर गांव में हुआ। वहाँ के राम सहाय नामक एक अकिंचन ब्राह्मण को हमारे चरित-नायक का जनक कहलाने का गौरव प्राप्त हुआ। जन्म के आध घंटे पश्चात् और जातकर्म के पूर्व शिशु की जिह्वा पर सरस्वती का बीजमंत्र[1] अंकित कर दिया गया। मंत्रविद्या अपने सुन्दरतम रूप में चरितार्थ हुई।

द्विवेदी जी के पितामह पंडित हनुमन्त द्विवेदी बड़े ही प्रकाण्ड पंडित थे उनकी मृत्यु के उपरान्त उनकी विधवा पत्नी ने कल्याण-भावना से प्रेरित होकर कई छकड़े संस्कृत ग्रन्थ उनके एक मित्र को दे दिए।

पंडित हनुमन्त द्विवेदी के तीन पुत्र थे दुर्गा प्रसाद, राम सहाय और रामजन। असमय देहावसान के कारण वे अपने पुत्रों को सुशिक्षित न कर सके। रामजन का तो बाल्यावस्था में ही स्वर्गवास हो गया था। दुर्गा प्रसाद की जीविका के लिए बैसवाड़े में ही गौरा के तालुक़-दार के यहाँ कहानी सुनाने की नौकरी करनी पड़ी। राम सहाय सेना में भर्ती हो गए। १८५७ ई० में अपने गुल्म के विद्रोही हो जाने पर वे वहाँ से भागे। मार्ग में सतलज की धारा उन्हें सैकड़ों मील तक बहा ले गई।[2] मूर्च्छित शरीर किनारे पर लगा। सचेत होने पर उन्होंने

१.



द्विवेदी जी की लिखी हुई 'नैषधचरित-चर्चा' से सिद्ध है कि इसी प्रकार चिन्तामणि मन्त्र उनकी वाणी पर लिखा गया था।

२. द्विवेदी जी का आत्मनिवेदन, 'साहित्य संदेश', एप्रिल १९३९ ई०

घास के डंठलों का रस चूसकर प्राणरक्षा की। साधुवेष में किसी प्रकार माँगते खाते घर पहुँचे। बम्बई जाकर पहले चिमन लाल और फिर नरसिंह लाल के यहाँ नौकरी करते रहे। ये बड़े ही भजनानन्दी जीव थे। पल्टन में भी पूजा-पाठ किया करते थे। १८८० ई० तक घर चले आए और १८९६ ई० में महाप्रस्थान किया।

राम सहाय के एक कन्या भी थी जो पुत्रीवती होकर स्वर्ग सिधारी। नतिनी की भी यही दशा हुई।

पिता को महावीर का इष्ट होने के कारण पुत्र का नाम महावीर सहाय रखा गया। बाल्यकाल में चचा ने 'शीघ्रबोध', 'दुर्गासप्तशती', 'विष्णुसहस्रनाम', 'मुहूर्त्तचिन्तामणि', और 'अमरकोश' के अंश कंठ कराए। बालक द्विवेदी ने ग्राम पाठशाला में हिन्दी, उर्दू और गणित की प्रारंभिक शिक्षा पाई। दो तीन फारसी पुस्तकें भी पढ़ीं। ग्राम-पाठशाला की शिक्षा समाप्त हो गई। प्रमाणपत्र में अध्यापक ने प्रमादवश महावीर सहाय के स्थान पर महावीर प्रसाद लिख दिया। आगे चलकर यही नाम स्थायी हो गया।

अँगरेजी का माहात्म्य उनके पिता और चाचा को अविदित न था। अतएव अँगरेजी शिक्षा प्राप्त करने के लिए महावीर प्रसाद राय बरेली के जिला-स्कूल में भर्ती हुए। तेईस वर्ष तक दस करोड़ हिन्दी-जनता का अविरल साहित्यिक अनुशासन करने वाले इस महान् साहित्यिक सेनानी की तत्कालीन जीवन-गाथा बड़ी ही हृदय-विदारक है। तेरह वर्ष का कोमल किशोर आटा, दाल पीठ पर लादकर अठारह कोस पैदल जाता था। पाक-कला से अनभिज्ञ होने के कारण दाल में आटे की टिकियाँ पकाकर ही पेटपूजा कर लिया करता था। एक बार तो जाड़े की ऋतु में सारी रात पैदल चलकर पाँच बजे सबेरे घर पहुँचे। द्वार बन्द था, माँ चक्की पीस रही थी। बालक की पुकार सुनकर ससम्भ्रम दौड़ पड़ी। किवाड़ खोल दिए। श्रान्त सन्तप्त वत्स को अपने स्निग्ध आँचल की शीतल छाया में कसकर समेट लिया। वात्सल्यमयी जननी का कोमल हृदय नयनों का द्वार तोड़कर बह निकला। धन्य है भगवान की महिमा! वह जिस पर कृपा करता है उसकी जीवन-प्याली में वेदना, अशान्ति और कठिनाइयाँ उँड़ेल देता है और जिस पर अप्रसन्न होता है उसे कंचन, कामिनी और कादम्ब की विलासभूमि का धराधीश बना देता है। उसके शाप और वरदान की इस रहस्यमयी प्रणाली को मर्त्यलोक के मायावशवर्ती क्षुद्र प्राणी कैसे समझ सकते हैं?

उस स्कूल के वैकल्पिक विषयों में संस्कृत न थी। विवश होकर उन्हें फारसी लेनी पड़ी

वहाँ किसी प्रकार एक वर्ष कटा। दौलतपुर से रायबरेली बहुत दूर था। अतः वे उन्नाव जिले के रनजीतपुरवा स्कूल में लाए गए। विधि का विधान, कुछ दिन बाद वह स्कूल ही टूट गया। तदनन्तर वे फतहपुर भेजे गए। वहाँ डबल प्रोमोशन न मिलने के कारण उन्नाव चले आए। यहाँ पर डबल प्रोमोशन मिल गया। फिर भी उनका जी न लगा। पाँच-छः महीने बाद वे पिता के पास बम्बई चले गए।

इसके पूर्व ही उनका विवाह हो चुका था।

बम्बई में उन्होंने संस्कृत, गुजराती, मराठी, और अँगरेजी का थोड़ा बहुत अभ्यास किया। वहाँ पर पड़ोस में ही रेलवे के अनेक सार्टर और क्लर्क रहते थे। उनके फंदे में पड़कर द्विवेदी जी ने रेलवे में नौकरी कर ली। वहाँ से वे नागपुर गए। वहाँ भी उनका जी न लगा उनके गाँव के कुछ लोग अजमेर में राजपूताना रेलवे के लोको सुपरिंटेंडेंट के आफिस में क्लर्क थे। उन्हीं के आसरे वे अजमेर चले गए। पन्द्रह रुपए मासिक की नौकरी मिल गई। उसमें से पाँच रुपया वे अपनी माता जी के लिए घर भेजते थे, पाँच में अपना खर्च चलाते थे और अवशिष्ट पाँच रुपयों में एक गृह-शिक्षक रखकर विद्याध्ययन करते थे। हमारे विद्या-व्यसनी तपः पूत साहित्यव्रती की साधना कितनी कठिन थी!

अजमेर में भी जी न लगने के कारण वे पुनः बम्बई लौट आए। प्रतिभाशील व्यक्तियों की जिज्ञासा भी बड़ी प्रबल हुआ करती है। मुम्बादेवी के तार-घर में तार खटखटाते देख कर उन्हें तार सीखने की इच्छा हुई। तार सीख कर जी० आइ० पी० रेलवे में सिग्नलर हो गए। उस समय उनकी आयु लगभग बीस वर्ष की थी।

तार बाबू के पद पर रह कर द्विवेदी जी ने टिकटबाबू, मालबाबू, स्टेशन मास्टर, प्लेटियर आदि के काम सीखे। फलस्वरूप उनकी क्रमशः पदोन्नति होती गई। इंडियन मिडलैंड रेलवे के खुलने पर उसके ट्रैफिक मैनेजर डब्ल्यू० बी० राइट ने उन्हें झाँसी बुला लिया और टेलीग्राफ इन्सपेक्टर नियुक्त किया। कालान्तर में वे हेड टेलीग्राफ इन्सपेक्टर हो गए। दौरे से ऊब कर उन्होंने ट्रैफिक मैनेजर के दफ्तर में बदली करा ली। कुछ काल बाद असिस्टेंट चीफ क्लर्क और फिर रेट्स के प्रधान निरीक्षक नियुक्त हुए।

जब आइ० एम० रेलवे जी० आइ० पी० रेलवे में मिला दी गई तब वे कुछ दिन फिर बम्बई में रहे। वहाँ का वातावरण उन्हें पसन्द न आया। ऊँचे पद का लोभ त्याग कर उन्होंने फिर झाँसी का तबादला कराया। वहाँ डिस्ट्रिक्ट ट्रैफिक सुपरिंटेंडेंट के आफिस में

पाँच वर्ष तक चीफ क्लर्क रहे। द्विवेदी जी के वे दिन अच्छे नहीं कटे। उनके गौराग प्रभु अपनी रातें बँगले या क्लब में बिताते थे। बेचारे द्विवेदी जी दिन भर दफ्तर में काम करते थे और रात भर अपनी कुटिया में बैठे बैठे साहब के तार लेते तथा उनका उत्तर देते थे। चाँदी के कुछ टुकड़ों के लिये बहुत दिनों तक उन्होंने इस अत्याचार का सहन किया।

कुछ काल-पश्चात् उनके प्रभु ने उनके द्वारा दूसरों पर भी वही अत्याचार कराना चाहा। सहनशीलता अपनी सीमा पर पहुँच गई थी। द्विवेदी जी ने स्वयं तो सब कुछ सहना स्वीकार कर लिया परन्तु दूसरों पर अत्याचार करने में नाहीं कर दी। बात बढ़ गई। उन्होंने निश्शंक भाव से त्याग-पत्र दे दिया। इस समय उनका का वेतन डेढ सौ रुपये था। त्याग-पत्र वापस लेने के लिये लोगों ने बहुत उद्योग किया, परन्तु सब व्यर्थ हुआ। इस विषय पर द्विवेदी जी ने अपनी धर्म-पत्नी की राय माँगी। स्वाभिमानिनी पतिव्रता ने गम्भीरतापूर्वक उत्तर दिया– क्या कोई थूक कर भी चाटता है ? उन्होंने सन्तोष की साँस ली। हिन्दी का अहोभाग्य था कि हमारे चरित-नायक ने कमला का क्षीरसागर त्याग कर सरस्वती की हिम-शिला पर पुजारी का आसन ग्रहण किया।

१६०३ ई० में उन्होंने 'सरस्वती' का सम्पादन आरम्भ किया। १६०४ ई० तक झाँसी से कार्य-संचालन करने के अनन्तर वे कानपुर चले आए और जुही से सम्पादन करते रहे। शक्ति से अधिक परिश्रम करने के कारण वे अस्वस्थ हो गए। १६१० ई० में उनको पूरे वर्ष भर की छुट्टी लेनी पड़ी। सम्भवत: इसी वर्ष उनकी माता जी का भी देहान्त हुआ। सत्रह वर्ष तक 'सरस्वती' का सम्पादन करने के उपरान्त १६२० ई० में उन्होंने इस कार्य से अवकाश ग्रहण किया।

जीवन के अन्तिम अठारह वर्ष द्विवेदी जी ने अपने गाँव में ही बिताए। कुछ काल तक आनरेरी मुंसिफ का कार्य किया। तदनन्तर ग्राम-पंचायत के सरपंच रहे। उनके जीवन के अन्तिम दिन बड़े दुख में बीते। स्वास्थ्य दिन-दिन गिरता गया। पं० शालग्राम शास्त्री आदि अनेक वैद्यों और डाक्टरों की दवा की परन्तु सभी औषधियाँ निष्फल सिद्ध हुई। अन्न त्याग देना पड़ा। लौकी की तरकारी, दलिया और दूध ही उनका आहार था। अनेक रोगों से बार-बार आक्रान्त होने के कारण उनका शरीर शिथिल हो गया था। अन्तिम बीमारी के समय वे बराबर कहा करते थे कि अब मेरे महाप्रस्थान का समय आ गया है। जिस किसी से जो कुछ कहना था कह-सुन लिया। अक्टूबर, सन् १६३८ ई० के दूसरे सप्ताह में उनके भानजे कमलाकिशोर त्रिपाठी के समधी डाक्टर शंकरदत्त जी उन्हें रायबरेली ले गये। द्विवेदी

जी की तत्कालीन मानसिक और शारीरिक पीड़ा का ज्ञान उनके निम्नांकित पत्र से बहुत कुछ हो जाता है—

२. ११. ३८।

शुभाशिषः सन्तु,

....

मैं कोई दो महीने से नरक यातनाएँ भोग रहा हूँ। पड़ा रहता हूँ। चल फिर कम सकता हूँ। दूर की चीज भी नहीं देख पड़ती। लिखना पढ़ना प्रायः बन्द है। जरा सी दलिया और शाक खा लेता था। अब वह कुछ हजम नहीं होता। तीन पाव के करीब दूध पी कर रहता हूँ—तीन दफे में। सूखी खुजली अलग तंग कर रही है। बहुत दवायें की नहीं जाती।

शुभैषी

म० प्र० द्विवेदी।[1]

शंकरदत्त जी ने अनेक वैद्यों और डाक्टरों की सहायता तथा परामर्श से द्विवेदी जी की चिकित्सा की। सभी उपचार निष्फल हुये। २१ दिसम्बर को प्रातः काल पौने पाँच बजे उस अमर आत्मा ने नश्वर शरीर त्याग दिया। हिन्दी-साहित्य का आचार्यपीठ अनिश्चित काल के लिये सूना हो गया।

द्विवेदी जी का विवाह बाल्यावस्था में ही हो गया था। उनकी धर्म-पत्नी इतनी रूपवती न थी कि उनकी आलौकिक शोभा को देख कर किसी का सहज पुनीत मन क्षुब्ध हो जाता तथापि द्विवेदी जी ने आदर्श प्रेम किया।[2] उनके पत्नी प्रेम का प्रामाणिक इतिहास अतीव मनोरंजक है।

द्विवेदी जी की स्त्री की एक सखी ने कहा कि द्वार पर पूर्वजों द्वारा स्थापित महावीर जी की मूर्त्ति पड़ी है, उसके लिए पक्का चबूतरा बन जाता तो अच्छा होता। चबूतरा बनवा कर उनकी स्त्री ने महावीर शब्द की श्लिष्टता का उपयोग करते हुए कहा कि तुम्हारा चबूतरा मैंने बनवा दिया। सहृदय और प्रत्युत्पन्नमति द्विवेदी ने तत्काल उत्तर दिया—

---

१. किशोरीदास वाजपेयी को लिखित पत्र, 'सरस्वती', भाग ४०, सं० २, पृ० २२२, २३

२. "विषय-वासनाओं की तृप्ति के लिये ही जिस प्रेम की उत्पत्ति होती है वह नीच प्रेम है। वह निंद्य और दूषित समझा जाता है। निर्व्याज प्रेम ही उच्च प्रेम है। प्रेम अवान्तर बातों की कुछ भी परवा नहीं करता। प्रेम-पथ से प्रयाण करते समय आई हुई बाधाओं को वह कुछ नहीं समझता। विघ्नों को देख कर वह केवल मुस्करा देता है। क्योंकि इन सब को उसके सामने हार माननी पड़ती है।"

'सरस्वती', भाग १२, पृ० ३६८।

तुमने हमारा चबूतरा बनवाया है, मैं तुम्हारा मन्दिर बनवाऊँगा। हास्य की इस वाणी ने आगे चलकर यथार्थ का रूप धारण किया।[1]

उनकी स्त्री को आरंभ से ही हिस्टीरिया का रोग था।[2] इसी कारण द्विवेदी जी उन्हें गंगास्नान को अकेले नहीं जाने देते थे। संयोग की बात, एक दिन वे ग्राम की अन्य स्त्रियों के साथ चली गई। गंगा माता उन्हें अपने प्रवाह में बहा ले गई। लगभग एक कोस पर उनका शव मिला।

द्विवेदी जी के कोई सन्तान न थी। पत्नी के जीते जी तथा मरने पर लोगों ने उन्हें दूसरा विवाह करने के लिए लाख समझाया परन्तु उन्होंने स्वीकार नहीं किया। अपने पत्नीव्रत और तत्सम प्रेम को साकार रूप देने के लिए स्मृति-मन्दिर का निर्माण कराया। जयपुर से एक सरस्वती और एक लक्ष्मी की दो मूर्त्तियाँ मँगाईं। वहीं से एक शिल्पी भी बुलाया। उसने उनकी स्त्री की एक मूर्ति बनाई। वह द्विवेदी जी को पसन्द न आई। फिर उसने दूसरी बनाई। सात-आठ महीने में मूर्त्ति तैयार हुई। लगभग एक सहस्र रुपया व्यय हुआ। स्मृति-मन्दिर में तीनों मूर्तियाँ स्थपित की गई—मध्य में उनकी धर्म-पत्नी की, दाहिनी ओर लक्ष्मी और बाईं ओर सरस्वती की।[3]

---

१. 'सरस्वती', भाग ४०, सं० २, पृ० १५३।
२. 'सरस्वती', भाग ४०, सं० २, पृ० २२१।
३. धर्म पत्नी की मूर्ति के नीचे द्विवेदी जी के स्वरचित निम्नांकित श्लोक खचित हैं—

नवषण्णवभूसंख्ये विक्रमादित्यवत्सरे।
शुक्रकृष्णत्रयोदश्यामधिकाषाढमासि च॥
मोहमुग्धा गतज्ञाना भ्रमरोगनिपीडिता।
जन्हुजायाजले प्राप पंचत्वं या पतिव्रता॥
निर्मापितमिदं तस्याः स्वपत्न्याः स्मृतिमन्दिरम्।
व्यथितेन महावीरप्रसादेन द्विवेदिना॥
पत्युर्गृहे यत सासीत्, साक्षाच्छ्रीरिवरूपिणी।
पत्याप्येकादृता वाणी द्वितीया सैव सुव्रता॥
एषा तत्प्रतिमा तस्मान्मध्यभागे तयोर्द्वयोः।
लक्ष्मीसरस्वतीदेव्योः स्थापिता परमादरात॥

लक्ष्मी और सरस्वती की मूर्ति के ऊपर क्रमशः अधोलिखित श्लोक अंकित हैं—

विष्णुप्रिया विशालाक्षी क्षीराम्भोनिधिसम्भवा।
इयं विराजते लक्ष्मी लोकेशैरपि पूजिता॥
हंसोपरि समासीना विद्याधिष्ठातृदेवता।
वरदा विश्ववन्द्येयं सर्वशुक्ला सरस्वती॥

स्त्री की मूर्ति स्थापित करने पर लोगों ने द्विवेदी जी की बड़ी हँसी उड़ाई। यहाँ तक कह डाला—"बुधौना कलजुगी है कलजुगी। द्याखौना, मेहरिया कै मूरति बनवाय कै पधराईसि हइ! यही कौनिउ वेद पुरान कै मरजाद आय?"[1] यही नहीं, सामने भी ताने कसते, गालियाँ तक बकते परन्तु द्विवेदी जी पर कोई प्रभाव न पड़ता। अपनी पत्नी के वियोग में वे कितने दुःखी थे, यह बात पं० पद्मसिंह शर्मा को लिखे गए निम्नांकित पत्र से स्पष्ट प्रमाणित होती है—

"

दौलतपुर

१३. ७. १२।

प्रणाम,

कार्ड मिला। क्या लिखूँ? यहाँ भी बुरा हाल है। पत्नी मेरी इस संसार से कूच कर गई। मैं चाहता हूँ कि मेरी भी जल्दी बारी आवे।

भवदीय

महावीरप्रसाद।"[2]

इतने सच्चे प्रेमी होकर भला वे अनर्गल और मिथ्या लोकनिन्दा की ओर क्यों ध्यान देते? ३ अक्टूबर १६०७ ई० के अपने मृत्यु-लेख में भी उन्होंने अपने पत्नी-प्रेम का परिचय दिया था।[3]

द्विवेदी जी को पारिवारिक सुख नहीं मिला। उनके मन में यह बात खटकती भी रहती थी। परन्तु उनका दुख सामान्यतः प्रकट नहीं होता था। अपनी दुःख कथा दूसरों को सुना कर उनके हृदय को कष्ट पहुँचाना उन्होंने अन्याय समझा। बाबू चिन्तामणि घोष की मृत्यु पर द्विवेदी जी ने स्वयं लिखा था—

"आज तक मेरे सभी कुटुम्बी एक एक करके मुझे छोड़ गए। मैं ही अकेला कल्पद्रुम बना हुआ अपने अन्तिम श्वासों की राह देख रहा हूँ।....कभी मैंने 'सरस्वती' में अपना रोना

१. 'सरस्वती', भाग ४०, सं० २, पृ० २२१।

२. 'सरस्वती', नवम्बर, १६४० ई०।

३. उन्होंने अपनी आय का ४० प्रतिशत अपनी स्त्री और शेष अपनी माँ और सरहज के लिए निर्धारित किया था। पत्नी के मानसिक सुख और शान्ति के लिए यहाँ तक लिखा था कि—

'Trustees will be good enough to leave her alone in the matter of her ornaments and will not injure her feelings in that respect by demanding an account of her ornaments or of their disposal,"

का० ना० प्र० सभा के कार्यालय में रक्षित मृत्यु-लेख।

नहीं रोया।'''मेरी उस कष्ट-कथा से 'सरस्वती' का कुछ भी सम्बन्ध न था। अतएव उसे 'सरस्वती' के पाठकों को सुना कर उनका समय नष्ट करना मैंने अन्याय समझा।"[1] दैहिक और भौतिक वेदनाओं ने द्विवेदी जी के हृदय को इतना अभिभूत किया कि समय-समय पर वे अपनी पीड़ाओं को अभिव्यक्त किए बिना न रह सके। वे कभी कभी कुटुम्बियों के जंजाल से अधिक शोकाकुल हो जाया करते थे। १२. ८. ३३. ई० को उन्होंने किशोरीदास वाजपेई को पत्र में लिखा था--

"आप की कौटुम्बिक व्यवस्था से मिलता जुलता ही मेरा हाल है। अपना निज का कोई नहीं है। दूर दूर की चिड़ियाँ जमा हुई हैं। खूब चुगती हैं। पुरस्कार-स्वरूप दिन रात पीड़ित किए रहती हैं।"[2]

यह द्विवेदी जी का स्थायी भाव न था। उन्होंने अपनी विधवा बहन, बहन की विधवा लड़की, भानजे, उसकी बधू और लड़की को असाधारण आत्मीयता और प्रेम से अपनाया। यद्यपि कमलाकिशोर त्रिपाठी उनके सगे भानजे नहीं हैं तथापि द्विवेदी जी ने उनका और उनकी लड़कियों का विवाह अपनी बेटे-बेटियों की ही भाँति किया। अपने १६०७ ई० के मृत्यु-लेख में उन्होंने अपनी माँ, सरहज और स्त्री के पालनार्थ अपनी आय का क्रमशः तीस, बीस और पचास प्रतिशत निर्धारित किया था। जीवन के पिछले प्रहर में इनका देहान्त हो जाने के पश्चात् उन्होंने उस मृत्यु-लेख को व्यर्थ समझ कर भंग कर दिया। चल-सम्पत्ति का प्रायः सर्वांश दान कर के अपनी अचल-सम्पत्ति का उत्तराधिकारी उपर्युक्त कल्पित भानजे कमलाकिशोर त्रिपाठी को बनाया।

'सरस्वती' के सम्पादन-कार्य से अवकाश ग्रहण करने पर द्विवेदी जी अपने गाँव दौलतपुर में ही रहने लगे। बहुत दिनों तक आनरेरी मुंसिफ और तदुपरांत ग्राम पंचायत के सरपंच रहे। इन पदों पर रहते हुए उन्होंने न्याय का पूर्णतया निर्वाह किया। उनकी कठोर न्याय-प्रियता से अनेक लोग असन्तुष्ट भी हुए, किन्तु द्विवेदी जी ने इसकी कुछ भी परवा न की। न्याय की रक्षा के लिये यदि किसी अकिंचन को आर्थिक दंड दिया तो करुणा के वशीभूत होकर उसका जुर्माना अपने पास से चुकाया।

आधुनिक ग्रामसुधार-आन्दोलन के बहुत पहले ही उन्होंने इसकी ओर ध्यान दिया था।

---

१. द्विवेदी-लिखित 'बाबू चिन्तामणि घोष की स्मृति'
'सरस्वती', १६२८ ई०, खंड २, पृ० २८२'''

२. सरस्वती', भाग ४०, सं० २, पृ० ३२१।

अपने गाँव की सफाई के लिए एक भंगी को लाकर बसाया। गाँव में अस्पताल, डाकखाना मवेशीखाना आदि बनवाए। आमों के कई बाग भी लगवाए। उन्हों ने इस बात का अनुभव किया कि अशिक्षित ग्रामवासियों को शिक्षित करने से ही भारत की उन्नति हो सकती है।

उन्होंने वाणी की अपेक्षा कर्म-द्वारा ही उपदेश किया। मार्ग में गोबर, काँटा, काँचका टुकड़ा आदि पडा देख कर स्वयं उठाकर फेंक आते थे। इस आदर्श से प्रभावित होकर दूसरे व्यक्ति भी उनका अनुकरण करते थे। रेलवे में नौकरी करने के कारण जनसाधारण द्विवेदी जी को बाबू जी कहा करते थे। मामले-मुकदमे में राय लेने के लिए लोग उनके पास आते और वे समझा-बुझा कर आपस में ही फैसला करा देते थे। गरीब किसानों को साधारण 'सूद पर' बिना सूद के या अत्यन्त असहाय होने पर दान-रूप में भी धन दिया करते थे।

सुन्दर लम्बा डील-डौल, विशाल रोबदार चेहरा, प्रतिभा की रेखाओं से अंकित उन्नत भव्य भाल, उठी हुई असाधारण घनी भौंहें, तेजभरी अभिभावक आँखें और सिंह की सी अस्तव्यस्त फैली हुई मूछें द्विवेदी जी को एक महान् विचारक का ही नहीं, उस दिग्विजयी महाबलाधिकृत का व्यक्तित्व प्रदान करती थीं जो अपनी भयंकर गर्जना से समस्त भूमंडल को थर्रा देता है। उनकी मुखाकृति से ही विदित होता था कि उनमें गम्भीरता है, मनचले छोकरों का छिछोरापन नहीं। व्यक्तिगत जीवन के पदन्यास में या साहित्य की भूमिका में कहीं भी उन्होंने उच्छृङ्खलता का परिचय नहीं दिया। उन्होंने प्रत्येक कार्य को अपना कर्तव्य समझ कर गम्भीरतापूर्वक आरम्भ किया और अन्त तक सफलता-पूर्वक निबाहा। साहित्यिक वाद-विवादों में किलकिलाकर वाग्बाणवर्षा होने पर भी उन्होंने यथा सम्भव अपने संयम और गम्भीरता की रक्षा की।

गम्भीर होते हुए भी उनके व्यवहार में नीरसता या शुष्कता नहीं थी। वे स्वभावतः हास्य-विनोद के प्रेमी थे। जब साहित्य-सम्मेलन ने सर्व प्रथम परीक्षाएँ चलाईं तब द्विवेदी जी ने भी प्रथमा परीक्षा के लिए आवेदन-पत्र भर कर भेजा।[१]

उनकी रुचि शृंगारिक कविता की ओर कम थी। एक बार वे बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' से उन्हीं की मंडली में पूछ बैठे —"काहे हो बालकृष्ण, ई तुम्हार सजनी, सखी, सलौनी, प्राण को आयँ ! तुम्हार कविता माँ इनका बड़ा जिकर रहत है। सब लोग हँस पड़े और नवीन जी झेंप गए।[२]

१. सरस्वती, भाग ४०, सं० २, पृ० १७३।
२. 'द्विवेदी-मीमांसा', पृ० २३४।

उनकी अरसठवीं वर्षगाँठ के समय किसी किसी ने सरसठवीं वर्षगाँठ मनाई। इस पर द्विवेदी जी ने लिखा—किसी किसी ने ६ मई १९३२ को सरसठवीं ही वर्षगाँठ मनाई है। जान पड़ता है इन सज्जनों के हृदय में मेरे विषय के वात्सल्यभाव की मात्रा कुछ अधिक है। इसी से उन्होंने मेरी उम्र एक वर्ष कम बता दी है। कौन माता, पिता या गुरुजन ऐसा होगा जो अपने प्रेमभाजन की उम्र कम बताकर उसकी जीवनावधि को और भी आगे बढ़ा देने की चेष्ठा न करेगा ? अतएव इन महानुभावों का मैं और भी कृतज्ञ हूँ।[1]

उनके सम्भाषण की प्रत्येक बात में अनोखापन और आकर्षण था। एक बार केशव प्रसाद मिश्र द्विवेदी जी के अतिथि थे। द्विवेदी जी के आगमन पर वे उठ खड़े हुए। द्विवेदी जी ने हँसमुख भाव से उत्तर दिया—विरम्यतां भूतवती सपर्या निविश्यतामासन-मुषितं किम ?[2]

द्विवेदी जी बड़े स्वाभिमानी थे। आत्मगौरव की रक्षा के लिए ही उन्होंने डेढ़सौ रुपयों की आय को ठुकरा कर तेईस रुपए मासिक की वृत्ति स्वीकार की। नागरी प्रचारिणी सभा से मतभेद होने पर सभाभवन में पैर नहीं रखा। यदि किसी से मिलना हुआ तो बाहर ही मिले। बी० एन० शर्मा पर अभियोग चलाने का कारण उनका स्वाभिमान ही था। कमला-किशोर त्रिपाठी की विवाह-यात्रा के समय द्वितीय श्रेणी के डिब्बे में एक विलायती साहब ने द्विवेदी जी से अपमानजनक शब्दों में स्थान खाली करने को कहा। उस अनाचार का उत्तर उन्होंने मिर्जापुरी ढंड से दिया।

हिन्दी कोविद-रत्न-माला के लिए १९१७-१८ ई० में श्यामसुन्दर दास के आदेशानुसार सूर्यनारायण दीक्षित ने द्विवेदी जी का एक संक्षिप्त जीवन-चरित तैयार किया और उसकी हस्तलिखित प्रति द्विवेदी जी को दिखाकर बाबू साहब के पास भेज दी। यत्र तत्र कुछ परि-वर्तन करने के बाद अन्त में बाबूसाहब ने यह बढ़ा दिया कि द्विवेदी जी का स्वभाव किञ्चित् उग्र है। जब द्विवेदी जी को यह ज्ञात हुआ तब वे आपे से बाहर हो गए। वस्तुतः इस उग्रता से उन्होंने बाबू साहब के कथन को चरितार्थ किया।

स्वाभिमानी और उग्र होते हुए भी वे ईश्वर में अटल विश्वास रखते थे। यद्यपि उन्हों-ने अपने को किसी धार्मिक बन्धनमें नहीं जकड़ा, दिखाने के लिए सन्ध्यावन्दनादि का पालन नहीं किया तथापि उनकी भगवद्भक्तिप्रधान कविताओं, विशेषकर 'कथमहं नास्तिकः' से

---

१. द्विवेदी-लिखित 'कृतज्ञता-ज्ञापन', 'भारत', २२. ५. ३२।
२ सरस्वती', भाग ४०, स० २, पृ० १८६।

सिद्ध है कि उन्होंने प्रत्येक कार्य ईश्वर का आदेश समझ कर किया।

उनकी तीव्र आलोचनाओं के आधार पर उन्हें उग्र और क्रोधी कहना भारी भूल है। साहित्य के ढीठ चोरों पर 'किन्तु परन्तु' और 'अगर मगर' वाली आलोचना का कोई प्रभाव न पड़ता। हिन्दी के वर्धमान कूड़ा-करकट को रोकने के लिए उसी प्रकार की कटु आलोचना अपेक्षित थी।

द्विवेदी जी ने अपनी साहित्यिक योग्यता का गर्व नहीं किया। तत्कालीन 'चाँद' सम्पादक रामरखसिंह सहगल के एक पत्र से विदित होता है कि द्विवेदी जी ने उन्हें कोई अभिमान सूचक बात लिखी थी।[1]

उनके कमरे में अनेक अस्त्र शस्त्रों के अतिरिक्त एक फरसा टँगा रहता था, जो उनके उग्र स्वभाव का द्योतक था। कदाचित् उसी को देख कर ही पं० वेंकटेशनारायण तिवारी ने उन्हें वाक्यशूर परशुराम कहा था।[2] वे निस्सन्देह उग्र थे परन्तु उनकी उग्रता में अनौचित्य या अन्याय के लिए अवकाश न था। जब अभ्युदय प्रेस के मैनेजर ने अपने 'निबन्ध- नवनीत'[3] में द्विवेदी-लिखित प्रतापनारायण मिश्र का जीवनचरित और बाबू भवानीप्रसाद ने

---

१. "   १. १२. २३ ई०

....

...दोनों ही पत्र पढ़ कर बहुत दुःख हुआ। यदि कोई जाहिल ऐसे पत्र लिखता तो कोई बात नहीं थी किन्तु मुझे दुःख इस बात का है कि आपके पत्र से सदा अनुचित अभिमान और तिरस्कार की बू आती है जो सर्वथा अक्षम्य है। यह सच है कि साहित्य में आपका स्थान बहुत ऊँचा है और बहुत काल से आप हिन्दी की सेवा कर रहे हैं, फिर भी आप को कोई अधिकार नहीं है, कि दूसरों को जो आपकी विद्वता के सामने कुछ भी नहीं हैं, उन्हें आप तुच्छ दृष्टि से देखें और इस प्रकार उनका निरादर करें। मैं ही क्या कोई भी आत्माभिमानी इसे सह नहीं सकता। आप का लेख 'चाँद' में प्रकाशित होने से पत्र का मान बढ़ जायगा यदि आप का यह ख्याल है तो निश्चय ही आप का यह भ्रम है।...आप जैसे सुयोग्य विद्वानों के लेख अन्य पत्रिकाओं की शोभा भले ही बढ़ा सकें किन्तु मेरे पत्र के लेखक एक दूसरी ही श्रेणी के हैं और वे बहुत हैं।..."

द्विवेदी जी के पत्र, संख्या ४६,
नागरी प्रचारिणी सभा कार्यालय,
काशी।

२. 'सरस्वती', भाग ४०, सं० २, पृ० २१५।

३. काशी नागरी प्रचारिणी सभा, कलाभवन, बंडल १।
अभ्युदय प्रेस के मैनेजर को लिखित पत्र की रूप रेखा।

उनकी कुछ कविताएँ अपनी 'शिक्षा-सरोज' तथा 'आर्य-भाषा-पाठावली'[1] में उनकी अनुमति के बिना ही संकलित कर लीं तब द्विवेदी जी उनके वंचक व्यवहार पर क्रुद्ध हुए। अन्त में मित्रों की मित्रता के कारण उन्हें क्षमा कर दिया।

द्विवेदी जी कठोर थे कपटाचारी, कृत्रिम, दिखावटी और चाटुकार जनों के लिए। वे किसी भी अनुचित बात को सह नहीं सकते थे। सच तो यह है कि वे अपने ऊँचे आदर्श की ईहका में दूसरों को भी नापते थे। यह उनकी महत्ता थी जिसे हम सांसारिक दृष्टि से निर्बलता कह सकते हैं।

एक बार बनारसीदास चतुर्वेदी ने 'विशाल भारत' में 'साकेत' की आलोचना की। उनकी कुछ बातों से गुप्त जी सहमत न हुए और १५ जनवरी, १९३२ ई० को उन्हें उत्तर दिया। उसी की प्रतिलिपि के साथ द्विवेदी जी को उन्होंने पत्र लिखा और उनकी सम्मति माँगी।[2] द्विवेदी जी ने अपनी राय देते हुए अपने अनन्य स्नेहभाजन मैथिलीशरण गुप्त को लिखा—"तुलसी की कविता से आपको अपनी कविता की तुलना करना शोभा नहीं देता।" गुप्त जी तिलमिला उठे और २८ जनवरी को लिखा—"आज पच्चीस वर्ष से ऊपर हुए, मैं आप की छत्रच्छाया में हूँ। यह बात औरों के कहने के लिए रहने दीजिये।....मैंने अपनी ध्यान समाधि में जैसा देखा वैसा लिखा।" पहली फरवरी को द्विवेदी जी ने उत्तर में लिखा "आपने मुझसे राय माँगी, मुझे जो कुछ उचित समझ पड़ा, लिखकर मैंने आप की इच्छा-पूर्ति कर दी। इस पर आप अपनी २८ जनवरी की चिट्ठी में विवाद पर उतर आए—जो राय मैंने दी उसका स्वाश में खंडन कर डाला। इसकी क्या जरूरत थी? आप अपनी राय पर जमे रहते। ध्यान-समाधि लगाकर पुस्तक लिखने वालों को मेरे और बनारसीदास जैसे मनुष्यों की राय की परवा ही क्यों करनी चाहिए? वे अपनी राह जायं, आप अपनी। आप की राय ठीक, मेरी और बनारसीदास की गलत सही—तुष्यतु भवान्।"[3]

दयाशील द्विवेदी जी की उग्रता के मूल में किसी प्रकार की दुर्भावना नहीं होती थी। इसका अकाट्य प्रमाण यह है कि अपराधियों की क्षमायाचना सुनकर सच्चे हृदय से, सहर्ष और सस्नेह उन्हें क्षमा भी कर देते थे। मैथिलीशरण गुप्तने उपर्युक्त पत्र का उत्तर दिया था—

चिरगाँव, झाँसी

४. २. १९३२.

---

१ द्विवेदी जी के पत्र, सं० १३, 'सरस्वती, नवम्बर, १९४० ई०।

२. दौलतपुर में रक्षित मैथलीशरण गुप्त के पत्र।

३. दौलतपुर में रक्षित द्विवेदी जी के पत्र की रूप रेखा।

पूज्यवर श्रीमान् पंडित जी महराज, प्रणाम ।

कृपा कार्ड मिला । जिसे कहीं से अनुकूलता की आशा नहीं होती वह एकान्त में अपने देवता के चरणों में बैठकर, भले ही वह दोषी स्वयं हो, उसी को उपालम्भ देता है । ऐसे ही मैंने किया है—तस्मात्त्वास्मि नितरामनुकम्पनीयः ।

मेरे सबसे छोटे भाई चारुशीलाशरण का बच्चा अशोक कभी-कभी खीझ कर मेरी टांगों में अपना शिर लगा देता है और मुझे ठेलता हुआ अपना अभिमान प्रकट करता है । समझ लीजिए, ऐसा ही मैंने किया है और मेरा यह व्यवहार सहन कर लीजिए—गीता के शब्दों में पितेव पुत्रस्य ।

चरणानुचर

मैथिलीशरण"[1]

गुप्त जी के श्रद्धाशवलित पत्र ने द्विवेदी जी को पूर्ववत् प्रसन्न कर दिया । श्यामसुन्दर दास, बालमुकुन्द गुप्त, लक्ष्मीधर वाजपेयी, बी० एन० शर्मा, कृष्णकान्त मालवीय आदि साहित्यकारों से द्विवेदी जी की खटपट हुई । उनकी उग्रता या विवादों का कारण उनकी सत्यप्रियता, न्यायनिष्ठा, स्पष्टवादिता और इससे भी महत्तर हिन्दी-हितैषिता थी । यदि वे एक ओर उग्र और क्रोधी थे तो दूसरी ओर क्षमा और दया की राशि भी थे । वे परशुराम और तथागत गौतम के एक साथ अवतार थे । इसको पाप न कह कर पुण्य कहना ही अधिक युक्तियुक्त है ।

द्विवेदी जी के चिन्तन, वचन और कर्म में, विचार और आदर्श में, अभिन्नता थी । दूसरों के प्रति वे वही व्यवहार रखते थे जिसकी दूसरों से आशा करते थे । उनकी वाणी से निम्नांकित श्लोक बहुधा मुखरित हुआ करता था—[2]

लज्जागुणौघजननीं जननीमिवस्यामत्यन्तशुद्धहृदयामनुवर्तमानाम् ।
तेजस्विनः सुखमसूनपि संत्यजन्ति सत्यव्रतव्यसनिनो न पुनः प्रतिज्ञाम् ॥

उनकी न्यायप्रियता इतनी ऊँची थी कि अपनी भी सच्ची आलोचना सुनकर वे प्रसन्न होते थे । २७. ५. १९१० ई० को पद्मसिंह शर्मा को लिखा था—

'इस हफ्ते का भारतोदय' अवश्य मनोरंजक है । कुछ पढ़ लिया । बाकी को भी पढ़ूँगा । 'शिक्षा' की समालोचना के लिए धन्यवाद । खूब है । पढ़ कर चित्त प्रसन्न हुआ । पर आप

१. दौलतपुर में रक्षित गुप्त जी का पत्र ।
२. 'द्विवेदी मीमांसा', पृ० २३२ ।

का माफी मांगना अनुचित हुआ।"[१]

जब वैयाकरण कामताप्रसाद गुरु ने द्विवेदी जी के 'राजे', 'योद्धे', 'जुदा जुदा नियम', 'हजारहा' आदि चिन्त्य प्रयोगों की चर्चा की तब उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक उत्तर दिया—आप मेरे जिन प्रयोगों को अशुद्ध समझते हैं उनकी स्वन्त्रता से समालोचना कर सकते हैं।[२] वे रिश्वत, झूठ आदि से डरने वाले धर्म भीरु थे। इस कथन की पुष्टि अधोलिखित पत्र से हो जाती है—

"श्रीमन्

मैं रिश्वत देना नहीं चाहता।...मैं झूठ बोलने से डरता हूँ। यह मुझे न करना पड़े तो अच्छा हो।..."[३]

सम्पादक, आनरेरी मुंसिफ और ग्राम-पंचायत के सरपंच के जीवन-काल में उन्हें न जाने कितने प्रलोभन दिए गए। द्विवेदी जी ने उन सबको ठुकरा कर कर्तव्य और न्याय की रक्षा की, उन पर तनिक भी आँच न आने दी। सम्पादनकाल में अपने हानिलाभ का ध्यान न रखकर सदा ही 'सरस्वती' के स्वामी और पाठकों का ध्यान रखा। न्यायाधीश के पद से, न्यायाधिकरण में व्यवहार चाहने वालों के पाप और पुण्य को निष्पक्ष भाव से न्याय की तुला पर तोला। सांसारिक शिष्टाचार और कृत्रिमता से दूर रह कर उन्होंने जीवन की सच्चाई को ही अपना ध्येय माना। दब कर किसी से बात नहीं की, क्योंकि उनमें स्वार्थ की भावना न थी। द्विवेदी जी की आलोचनाएँ उनकी निर्भीकता, स्पष्टता और सत्यवादिता प्रमाणित करती हैं। अपनी कर्तव्यपरायणता और न्यायनिष्ठा के कारण ही वे अनेक मायिक महानुभावों के शत्रु बन गये। यहाँ तक कि अध्ययनागार में भी उन्हें आत्मरक्षा के लिए तलवार, बन्दूक आदि शस्त्रास्त्र रखने पड़े।

द्विवेदी जी सिद्धान्त और शुद्धता के पक्षपाती थे।[४] वे प्रत्येक कार्य में व्यवस्था, निय-

---

१. 'सरस्वती', नवम्बर, १९४० ई०।

२. 'सरस्वती', भाग ४०, सं० २, पृ० १३४. ३५।

३. 'सरस्वती', जुलाई १९४० ई०, पृ० ७४।

४ मेटून प्रेस, लन्दन के एक Indian Empire number प्रकाशित हो रहा था। कविता-विभाग के उप सम्पादक ने द्विवेदी जी से उनकी रचना माँगी। उक्त महोदय ने पत्र में द्विवेदी जी का नाम लिखा था Mahabur Prasad Devedi कविता भेजते हुए द्विवेदी जी ने उनसे निवेदन किया—

"If you accept it, please see that it is correctly printed, and send me a copy of the publication containing it, also see that my name

मितता, अनुशासन और काल का पालन करते थे। आवश्यक तथा सार्थक पत्रों का उत्तर लौटती डाक से देते और निरर्थक एवं अनावश्यक पत्रों के विषय में मौनधारण कर लेते थे। उनके हस्तगत सभी पत्रों पर नोट और तारीख सहित हस्ताक्षर हैं। जिस पत्र का उत्तर नहीं देना होता था उस पर No Reply लिख दिया करते थे। अनुशासन के इतने भक्त थे कि एक बार जूते का नाप भेजना था तो पत्र का लिफाफा अलग भेजा और नाप का धागा अलग।[1] अव्यवस्था और अशुद्धता उन्हें बिलकुल पसन्द नहीं थी। वस्तुओं से ठसाठस भरा हुआ कमरा भी सदैव साफ सुथरा रहता था। वे अपने कमरे, सामान और पुस्तकों आदि की सफाई अपने हाथ से करते थे। प्रत्येक वस्तु अपने निश्चित स्थान पर रखी जाती थी। कलम से कुछ लिखने के बाद उसकी स्याही पोंछ कर रखते थे। वस्तुओं का तनिक भी हेर फेर उन्हें खल जाता था। एक बार उनकी धर्मपत्नी ने थाली में रखे गए पदार्थों का नियमित क्रम भंग कर दिया तो उन्हें भर्त्सना सुननी पड़ी।[2] रवीन्द्रनाथ की गल्पों का एक संग्रह विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक को देते हुए कहा था—'इतना ध्यान रखिएगा कि न तो पुस्तक में कहीं कलम या पेंसिल का निशान लगाइयेगा, न स्याही के धब्बे पड़ने दीजिएगा और न पृष्ठ मोड़िएगा[3]'।

द्विवेदी जी की दिनचर्या बंधी हुई थी। झाँसी में वे बहुत सवेरे उठकर संस्कृत-ग्रन्थों का अवलोकन करते थे। फिर चाय पीकर ७ से ८ तक एक महाराष्ट्र पंडित से कुछ ग्रन्थों के बारे में पूछताछ करते थे। तदनन्तर बँगला, संस्कृत, गुजराती आदि की पत्रिकाओं का अवलोकन करते और स्वयं भी थोड़ा बहुत लिखते थे। लगभग १० बजे भोजन करके दफ्तर जाते थे। क़रीब दो बजे जलपान कर के अँगरेजी अखबार पढ़ते रहते और जो काम आता जाता था उसे समाप्त करते थे। लगभग चार पाँच बजे घर आते, हाथ मुँह धोते, कपड़े बदलते, द्वार पर बैठ जाते और आगत जनों से वार्तालाप करते थे। घंटे डेढ़ घंटे मनोरंजन करके पुस्तकावलोकन करते और फिर नव दस बजे सोने चले जाते थे।[4] उनके अफसरों ने उनकी पदोन्नति करके उन्हें अन्य स्थानों पर भेजना चाहा परन्तु इस भय से कि दिनचर्या और नियमितता में कहीं विघ्न न हो जाय, उन्होंने बराबर अस्वीकार किया।

---

is correctly spelt as shown below.

16. 6. 25."

द्विवेदी जी के पत्र की रूप रेखा, का० ना० प्र० सभा कार्यालय।

१. 'सरस्वती', भाग ४० सं० २, पृ० १४४, ४५।
२. ,, ,, ,, ,, १४५।
३. ,, ,, ,, ,, १६१।
४. ,, ,, ,, ,, १७१।

दौलतपुर में प्रतिदिन प्रातः काल उठ कर, शौचादि से निवृत्त होकर कुछ दूर खेतों की ओर टहलते थे। लौट कर सफाई करते थे। फिर बारह बजे तक आवश्यक चिट्ठी-पत्रियों का उत्तर देते, सम्मत्यर्थ आई हुई पुस्तकों और दो चार समाचार पत्रों का अवलोकन करते थे। दोपहर के समय पुनः शौच को जाते और तब स्नान करते थे। भोजनोपरान्त पत्रपत्रिकाएं पढ़ते थे। प्रायः दो बजे के बाद मुकदमें देखते थे। मुकदमों के अभाव में किंचित् विश्राम करके अखबार भी पढ़ा करते थे। सन्ध्या समय चार बजे के बाद अपने बागों और खेतों की ओर घूमने जाते, लौट कर थोड़ी देर तक द्वार पर बैठते, कोई आ जाता तो उससे बातें करते, तदनन्तर सोने चले जाते थे। [१]

यदि कभी उनके मुँह से यह निकल गया कि आप के घर अमुक दिन अमुक समय पर आऊँगा तो विघ्नसमूहों के होते हुए भी वचन का पालन करते थे। ज्येष्ठ मास के अपराह्न में भयंकर लू की अवहेलना करके कानों में डुपट्टा लपेटे,छाता लिए हुए ढाई कोस पैदल चल कर देवीदत्त शुक्ल के घर पहुँच जाया करते थे। [२]

एक बार एक आई. सी. एस. महोदय उनसे मिलने गए। द्विवेदी जी का मिलने का समय नहीं हुआ था। उन महाशय को आधे घंटे प्रतीक्षा करनी पड़ी। एक साधारण व्यक्ति के असाधारण कार्यक्रम पर वे अत्यंत अप्रसन्न हुए। द्विवेदी जी ने इसकी तनिक भी परवाह न की। कदाचित् इसी के परिणामस्वरूप जिलाधीश महाशय ने द्विवेदी जी को,'सरस्वती' के विज्ञापनों के बहाने, दंड देने का असफल प्रयास किया था। [३] बाबू चिन्तामणि घोष ने द्विवेदी जी की प्रशंसा करते हुए एक बार कहा था—'हिन्दुस्तानी सम्पादकों में मैंने वक्त के पाबन्द और कर्त्तव्यपालन के विषय में दृढ़प्रतिज्ञ दो ही आदमी देखे हैं, एक तो रामानन्द बाबू और दूसरे आप।' [४]

द्विवेदी जी की असामान्य सफलता का एक मात्र रहस्य है उनका दृढ़ संकल्प और अध्यवसाय। एक अकिंचन ब्राह्मण की सन्तान ने, जिसके घर में पेट भरने के लिए भोजन और तन ढकने के लिये वस्त्र नहीं था, चौथाई शताब्दी तक दस करोड़ जनता का एकातपत्र

---

१. **'द्विवेदी-मीमांसा', पृ० २१८।**

२ **'सरस्वती', भाग ४०, सं० २, पृ० २०४।**

३. **इसकी चर्चा आगे चल कर 'साहित्यिक संस्मरण' अध्याय में की गई है।**

४. **द्विवेदी-लिखित 'बाबू चिन्तामणि घोष की स्मृति',**
सरस्वती, १९२८ ई०, खंड २, पृ० २८२....।

साहित्यिक शासन किया--यह उसके अदम्य उत्साह का ही परिणाम था। वे प्रकृति के नियमों की भाँति अटल थे। शैशव से लेकर स्वर्गवास तक उनका सम्पूर्ण जीवन प्रतिकूल परिस्थितियों के विरुद्ध एक घोर संग्राम था। मतभेदों, विरोधों, प्रतिद्वंद्वियों और आपत्तियों की आँधी, बवंडर और तूफान उन्हें उनके प्रशस्त पथ से तनिक भी डिगा न सके। तन के अस्वस्थ रहने पर भी उनका मन सदा स्वस्थ रहा। दीनतारहित स्वावलम्बन,आजीवन हिंदी सेवा के व्रत का निर्वाह, 'अनस्थिरता' आदि वादों में अपनी बात को अकाट्य सिद्ध करने, का सफल प्रयास, न्याय,सत्य और लोककल्याण के लिये निजी हानि और कष्टों की चिन्ता न करना आदि बातें उनके संकल्पपालन और अप्रतिम प्रतिभा की द्योतक हैं।

वे अकर्मण्यता के कट्टर शत्रु थे। ढीले ढाले व्यक्तियों को तो बहुधा अप्रसन्न द्विवेदी की फटकार सहनी पड़ती थी।

माता, पिता, पत्नी आदि अनेक सम्बन्धियों की मृत्यु का वज्रपात हुआ, परन्तु द्विवेदी जी ने संसार के सामने अपना रोना नहीं रोया। कितनी ही आधि-व्याधियों ने उन्हें निपीड़ित किया तथापि उन्होंने साहित्य-सेवा को क्षति नहीं पहुँचने दी। सारी वेदनाओं को धैर्य्य और उत्साह से सहा। उनके व्यक्तिगत और सार्वजनिक कार्यों, साहित्यिक और धार्मिक वादों को लेकर लोगों में उन्हें न जाने क्या-क्या कहा, गालियाँ तक बकीं। द्विवेदी जी हिमालय की भाँति अप्रभावित और अचल रहे। जहाँ आवश्यक समझा,सत्य और न्याय की रक्षा के लिये प्रतिवाद किया, अन्यथा मौन रहे। 'कालिदास की निरंकुशता'-विषयक विवाद के सम्बन्ध में द्विवेदी जी ने राय कृष्णदास को लिखा था--"मैं तो प्रतिवादों का उत्तर देने से रहा। आप उचित समझें तो किसी पत्र में दे सकते हैं।"[1] बदरीनाथ गीता-वाचस्पति को लिखा गया पत्र उनकी सहिष्णुता की विशेष व्यंजना करता है—

"मेरी लोग निन्दा करते हैं या स्तुति, इस पर मैं कभी हर्ष, विषाद नहीं करता। आप भी न किया कीजिए। मार्गभ्रष्ट कभी न कभी मार्ग पर आ ही जाते हैं। मेरा किसी से द्वेष नहीं, न लखनऊ के ही किसी सज्जन से, न और ही किसी से। उम्र थोड़ी है। वह द्वेष और शत्रुभाव प्रदर्शन के लिए नहीं। मैं सिर्फ इतना करता हूँ कि जो मेरे हृद्गत भावों को नहीं समझते, उनसे दूर रहता हूँ।"[2]

द्विवेदी जी सस्ती ख्याति के भूखे न थे। इसी कारण हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन,अभिनन्दन,

---

१. २६. ६. ११ को लिखित, 'सरस्वती', नवम्बर, १९४४ ई०।
२. २१. ११. १४. को लिखित, सरस्वती, मई, सन् १९४० ई०।

मेले आदि से दूर रहना चाहते थे। उन्हें 'रायबहादुर' सरीखी उपाधियों की तनिक भी कामना न थी। उन्हें सच्चा सुख और सन्तोष दूसरों के सुख और शान्ति में मिलता था। उन्होने स्वयं लिखा था—"जब बदलू चमार की जूड़ी उतर जाती है तब मैं समझता हूँ कि मुझे कैसरे हिन्द का तमगा मिल गया।"[१] उन पर कुछ लिखने के लिए लोग द्विवेदी जी से उनकी अपटु-डेट कृतियों के उल्लेखसहित उनकी संक्षिप्त जीवनी माँगते, परन्तु द्विवेदी जी उनके इन पत्रों का उत्तर तक न देते थे।[२]

सूर्यनारायण ने जब उनकी जीवनी लिखकर संशोधन के लिए उनके पास भेजी तब द्विवेदी जी ने उसमें काटछाट की, कुछ घटाया बढ़ाया भी। कई बातें अपनी प्रशंसा में भी जोड़ी, यथा "विद्याविषयक वादविवाद में भी द्विवेदी जी की बराबरी शायद ही कोई और हिन्दी लेखक कर सके। हिन्दी पत्रों के पाठक इस बात को भी भली भाँति जानते हैं।" या "द्विवेदी जी हिन्दी संस्कृत दोनों भाषाओं के उत्तम कवि है।"[३] इन बातों को लेकर उन्हें आत्मश्लाघी कहना उचित नहीं। संशोधनरूप में कलित इन पंक्तियों का कारण आत्मप्रशंसा न होकर सच्चे शिक्षक की सुधारक-मनोवृत्ति ही है।

द्विवेदी जी शिष्टाचार के पूरे पालक थे। जब कोई उनके पास जाता तो अपनी डिबिया मे दो पान उसे देते और बात चीत समाप्त होने पर फिर दो पान देते जो इस बात का संकेत होता कि अब आप जाइये।[४] अपने प्रत्येक अतिथि की शुश्रूषा वे आत्मविस्मृत होकर करते थे। जुही में जब केशवप्रसाद मिश्र सोकर उठे तो देखा कि द्विवेदी-जी स्वयं लोटे का पानी लिए हुए खड़े हैं। मिश्र जी लज्जित हो गए। द्विवेदी जी ने उत्तर दिया वाह! तुम तो मेरे अतिथि हो।'[५]

उनके शिष्टाचार में किसी प्रकार की मायिकता या आडम्बर नहीं था। वे वास्तविक अर्थ में शिष्ट आचार के समर्थक थे। किसी की थोड़ी भी अशिष्टता उन्हें खल जाती थी। एक बार वे कामताप्रसाद गुरु से बातें कर रहे थे। गुरु जी बीच ही में बोल उठे। द्विवेदी जी ने चेतावनी दी—आप से बातचीत करना कठिन है। गुरु जी नतमस्तक हो गए।[६]

१. 'द्विवेदी-मीमांसा', पृ० २७५ पर उद्धृत।
२. दौलतपुर में रक्षित वैद्यनाथ मिश्र विह्वल का पत्र, २५. ४. २६।
३. द्विवेदी जी के पत्र, बंडल ३ च, काशी नागरी प्रचारिणी सभा का कार्यालय।
४. 'द्विवेदी-मीमांसा', पृ० २३।
५. 'सरस्वती', भाग ४०, सं० २, पृ० १८६।
६. ,, ,, ,, ,, १३३।

देवीदत्त शुक्ल, हरिभाऊ उपाध्याय, मैथिलीशरण गुप्त, केदारनाथ पाठक, विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक, लक्ष्मीधर वाजपेयी आदि ने उनके शिष्टाचार की भूरि भूरि प्रशंसा की है।[१]

द्विवेदी जी सम्भाषणकला में भी पटु थे। वार्तालाप के समय बीच बीच में हिन्दी, संस्कृत, उर्दू आदि के सुभाषितों का बड़ा ही चुभता हुआ साधिकार प्रयोग करते थे। उनके भावपूर्ण उद्‌गारों—'अनुमोदन का अन्त', 'कौटिल्य कुठार', 'सम्पादक की विदाई', द्विवेदी-मेले के समय आत्मनिवेदन आदि–में यह शैली सौन्दर्य की सीमा पर पहुँच गई है। उनकी रचनाओं में सर्वत्र ही प्रभावशाली वक्ता का मनोहर स्वर सुनाई पड़ता है।

द्विवेदी जी बड़े ही वत्सल और प्रेमी थे। बच्चों के प्रति उनका स्नेह अगाध था। अपनी माता जी में इतनी श्रद्धा और उनके दुख सुख का इतना ध्यान रखते थे कि जब पन्द्रह रुपए की नौकरी करते थे तब भी पाँच रुपया मासिक उन्हें भेजा करते थे। उनके पत्नी-प्रेम का पावन प्रतीक स्मृति-मन्दिर तो आज भी विद्यमान है। अपनी विधवा सरहज के प्रति उनका स्नेह कम न था। अपने १९०७ ई० के मृत्यु-लेख[२] में उन्हें भी विशिष्ट स्थान दिया था। वृद्धावस्था में उनके परिवार में भानजा, भानजे की वधू, और एक लड़की थी। ये दूर के सम्बन्धी थे परन्तु द्विवेदी जी उन्हें आदर्श पिता की भाँति प्यार करते थे। वे पर-दुख-कातर और प्रेमी थे। सम्बन्धियों और मित्रों के बाल-बच्चों, आश्रित जनों और दास-दासियों तक की सहायता और पालना उन्होंने जिस स्नेह और उदारता से की वह सर्वथा श्लाघ्य है।

मित्र या भक्त के लिए उनके मन में संकोच का लेश भी नहीं था।[३] सम्बन्धियों के स्मरण मात्र से ही उनकी आँखें सजल हो जाती थीं। उनके विरोधी भी उनके प्रेमभाव के कायल थे। अपने समीप आने वालों को वे प्रेम से मोह लेते थे। केदारनाथ पाठक की चर्चा ऊपर हो चुकी है। पंडित हरिभाऊ उपाध्याय आदि ने भी द्विवेदी जी के वात्सल्य का मुक्तकंठ से गुणगान किया है— "सम्पादक, विद्वान्, आचार्य द्विवेदी को सारा हिन्दी-संसार जानता है। परन्तु सहृदय, वत्सल पिता द्विवेदी को कितने लोग जानते होंगे? निश्चय ही सम्पादक द्विवेदी से यह पिता द्विवेदी अधिक महान् था।"[४]

---

१. इस सम्बन्ध में 'हंस', का 'अभिनन्दनांक', 'बालक', का 'द्विवेदी-स्मृतिअंक', 'द्विवेदी अभिनन्दन-ग्रन्थ', 'साहित्य-सन्देश' का 'द्विवेदी-अंक' और 'सरस्वती' का 'द्विवेदी-स्मृति-अंक' विशेष द्रष्टव्य हैं।

२. काशी नागरी प्रचारिणी सभा के कार्यालय में रक्षित।

३. राय कृष्णदास को लिखित पत्र; 'सरस्वती', भा० ४५, सं० ४, पृ० ४६७।

४. 'सरस्वती', भा० ४०, सं० २, पृ० १३८।

द्विवेदी जी सहानुभूति, करुणा कोमलता और भावुकता के अवतार थे। उनके व्यक्तिगत व्यवहारों के अतिरिक्त, 'अनुमोदन का अंत',[१] 'सम्पादक की विदाई',[२] हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के कानपुर-अधिवेशन मे स्वागताध्यक्ष पद से किया गया भाषण, अभिनन्दन के समय आत्मनिवेदन, द्विवेदी-मेले का भाषण आदि उनकी कोमल भावनाओं के स्पष्ट प्रमाण हैं। प्रयाग के साहित्यिक मेले मे तो भाषण के समय उनकी आखो में आँसू भर आए थे। अनुशासन की कठोरता और आलोचनाओ की तीव्रता के आधार पर उनकी भावुकता को कुण्ठित समझना न्याय के प्रति घोर अन्याय होगा। उत्सव मे नाचती हुई वेश्या के मुख मे 'मो सम कौन कुटिल खल कामी' और स्त्रियों के 'बिछुड गई जोड़ी, जोड़ी मोरे रामा' जैसे गीत सुन कर मूर्च्छित हो जाते थे। मनुष्य की सहृदयता का इससे अधिक और कौन सा प्रमाण चाहिए ?

वे गुणग्राहक और उदार थ, 'हम चुनी दीगरे नेस्त' और हठधर्मी से बहुत दूर। अपनी आलोचनाओं में उन्होने व्यक्तियों की महिमा और लघिमा पर ध्यान न देकर उनकी रचनाओं के गुणों और अवगुणों की अनुकूल या प्रतिकूल आलोचना की। जीवनवृत्तो मे गुणी व्यक्तियों को ही स्थान दिया। जिस नागरी प्रचारिणी सभा की बुराइयों की निन्दा की, उसी के गुणों की श्लाघा भी की। अपने सम्पादन-काल मे जिस किसी भी व्यक्ति को प्रतिभाशील और योग्य समझा उसे ही अपनी प्रार्थना, उपदेश, शिक्षा या कृपा से हिन्दी के सेवा-पथ पर अपना सहयात्री बना लिया। बनारसीदास चतुर्वेदी जी को लिखे गए अपने ३१.१२ २४ ई० के पत्र मे उनकी उदारता और सहृदयता का गुणगान किए बिना न रह सके—

"....आपके सत्संग मे जो शिक्षाएँ मैंने ग्रहण की हैं उन्हें मैं अपने जीवन मे चरितार्थ करने का प्रयत्न करूँगा।...आपके उदारतापूर्ण स्वभाव के कारण मुझे अपनी क्षुद्रता पर लज्जित होना पडा है। आप की सहृदयता पर मुग्ध हूँ।"[३]

द्विवेदी जी के विचार उन्नत और उदार थे। व्यक्तिगत और साहित्यिक जीवन दोनों मे ही उनका व्यवहार निष्पक्ष और न्याय संगत रहा। तथापि वे मानवसमाज के अपवाद न थे। महाकवि कालिदास के शब्दो मे 'भवन्ति साम्येऽपि निविष्टचेतसा वपुर्विशेषेष्वतिगौरवाः क्रियाः'। काशी विश्वविद्यालय के सेंट्रल हिन्दू स्कूल मे उन्होने एक छात्रवृत्ति प्रदान की और उसके अधिकारी का क्रम इस प्रकार निर्धारित किया—

---

१. 'सरस्वती', १९०५ ई०, पृ० ५७।

२. 'सरस्वती', १९२० ई०, पृ० १।

३. द्विवेदी जी के पत्र सं० २२, ना० प्र० सभा, कार्यालय, काशी।

१. दौलतपुर (द्विवेदी जी के गाँव) का कोई कान्यकुब्ज छात्र
२. रायबरेली जिले का कान्यकुब्ज छात्र
३. अवध का कोई कान्यकुब्ज विद्यार्थी
४. कहीं का कान्यकुब्ज विद्यार्थी
५. कोई अन्य ब्राह्मण छात्र

इतने प्रतिबन्ध ने अधिकारियों को संकट में डाल दिया। अपने १६०७ ई० के मृत्युलेख में भी उन्होंने इसी प्रकार की एक पक्षपातपूर्ण शर्त लिखी थी।[1]

द्विवेदी जी दानवीर थे। अपनी गाढ़ी कमाई के ६४०० रुपए उन्होंने काशी विश्वविद्यालय को दान कर दिए। गरीबों की लड़कियों के विवाह में, निर्धनों की विपन्नावस्था में, विधवाओं के संकटकाल में तथा अनाथों की निस्सहाय दशा में वे यथाशक्ति उनकी सहायता करते थे। परोपकार में ही उन्हें परमानन्द मिलता था। झाँसी में उन्होंने सैकड़ों नहीं हजारों आदमियों की नौकरी लगवाई।[2] आत्माभिमानी होते हुए भी एक विद्यार्थी को विलायत भेजकर शिक्षा दिलाने की मंगलभावना से प्रेरित होकर उन्होंने चापलूसी की, 'अयोध्याधिपस्य प्रशस्ति' लिखी।[3] वे इतने लोभरहित थे कि भानजियों के विवाहादि में भी लोगों को निमन्त्रण नहीं देते थे। किशोरी दास वाजपेयी के उपालम्भ देने पर उन्हें लिखा था—'निमन्त्रण देना मानों कुछ मांगना है।'[4] सम्पादनकाल में तो यदि कोई उन्हें आर्थिक सहायता देना चाहता था तो वे उससे 'सरस्वती' की सहायता करने के लिए निवेदन करते थे।[5]

---

1. The interest on my money should be utilised...by sending to Japan or any other suitable country an enterprising and deserving youth kanyakubja Brahman......"

द्विवेदी जी की will, काशी नागरी प्रचारिणी सभा का कार्यालय।

२. सूर्यनारायण दीक्षित-लिखित द्विवेदी जी की जीवनी पर स्वयं द्विवेदी जी द्वारा कलित नोट, द्विवेदी जी के पत्र, बंडल ३ च, का० ना० प्र० सभा, कार्यालय।

३. 'सरस्वती', भाग ४०, सं० २, पृ० २०५।

४. ,, ,, ,, ,, २२२।

५. आपने अपने पत्र में लिखा है कि हम अपने लिए श्रीमान् को तकलीफ देना नहीं चाहते। जो 'सरस्वती' के सहायतार्थ देंगे वह सधन्यवाद स्वीकृत होगा।" जनार्दन झा द्वारा द्विवेदी जी को लिखित पत्र, द्विवेदी जी के पत्र, सं० १११, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, कार्यालय।

दानशील द्विवेदी की संग्रह-भावना भी सराहनीय थी। पैकटों की डोरियां, लेबल के कागज, लिफाफे आदि संभाल कर रखते तथा उनका उपयोग करते थे [१]। उनके पास आई हुई चिट्ठियाँ, अनेक पत्रों की रूप-रेखाएं, रसीदें आदि आज भी उपलब्ध हैं। काशी नागरी प्रचारिणी सभा में सुरक्षित सरस्वती के स्वीकृत और अस्वीकृत लेखों की हस्तलिखित प्रतियां उनकी निजी रचनाओं की हस्तलिखित प्रतियाँ, पत्रपत्रिकाओं की कतरने, कलाभवन और कार्यालय में लगभग तीस हजार पत्र, सैकड़ों पत्रिकाओं की फुटकल प्रतियां, दस आल्मारी पुस्तकें, दौलतपुर में रक्षित पत्र, कतरनें, न्यायसम्बन्धी कागदपत्र, नकशे, चित्र, हस्तलिखित रचनाएं आदि एक महान् पुरुष की संग्रह–भावना की साक्षी हैं।

द्विवेदी जी में वदान्यता और मितव्ययिता का असाधारण संयोग था। वे अपनी आवश्यकताएँ बहुत ही सीमित रखते थे। झांसी में आय के एक तिहाई भाग में ही सब काम चला लेते थे। अपने 'सम्पत्तिशास्त्र' के नियमों को उन्होंने अपने जीवन में चरितार्थ किया। उनका सिद्धान्त था––

इदमेव हि पाडित्यमियमेव विदग्धता।
अयमेव परो धर्मो यदायान्नाधिको व्यय :॥

वे अपने आय-व्यय का पैसे पैसे का हिसाब रखते थे। बाहर से आनेवाले पत्रों अखबारों, पैकटों आदि के बन्धनों और सादे कागदों का मितव्ययिता के साथ उपयोग करते थे।

उनके अशन और वसन सभी में सादगी थी [२]। वे निरामिष सादा भोजन करते थे वृद्धावस्था में तो दूध, साग और मोटा दलिया ही एकमात्र आहार था। पहले पान और तम्बाकू खाते थे, फिर वह भी छोड़ दिया। यदा कदा देशी तम्बाकू का थोड़ा सेवन कर लिया करते थे। पहले चाय बहुत पिया करते थे, परन्तु कालान्तर में उसका स्थान दूध को दे दिया।

· रेलवे की नौकरी और सम्पादन के आरम्भिक काल में वे देशी कपड़े का कोट पतलून पहनते थे। बाद में साधारण मोटऊ धोती, कुरता, चार छः आने की मामूली टोपी और चमरौधा जूता ही उनकी वेषभूषा थी। घर में मेजकुर्सी नहीं थी। लकड़ी के तख्त पर

१. 'द्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रन्थ', पृ० ५३३।
२ राय कृष्णदास को लिखित पत्र, ३०. ६. १५,'सरस्वती', भा० ४६, सं०१, पृ० ३८
८. ७. २० ,, ,, ,, २ ८२

तकिए के सहारे बैठते और घुटने पर तख्ती रखकर लिखते थे। पैड की कभी आवश्यकता ही नहीं प्रतीत हुई साधारण कागद पर ही पत्र लिखते थे। कभी कभी तो पत्र या सम्पादकीय नोट रद्दी लिफाफे फाड़कर उसकी दूसरी ओर या अखबारों के रैपर आदि पर लिखते थे।[१]

उनकी अतिशय सादी वेषभूषा बहुधा लोगों को भ्रम में डाल देती थी। एक बार केशव प्रसाद मिश्र द्विवेदी जी से मिलने गए। द्विवेदी जी एक अमौवे की बंडी और पंडिताऊ कंटोप पहने बैठे थे। मिश्र जी ने उन्हें कोई ग्रामीण समझ कर उन्हीं से द्विवेदी जी से मिलने की इच्छा प्रकट की।[२] विश्वम्भर नाथ शर्मा कौशिक को भी कुछ ऐसी ही भ्रान्ति हुई। द्विवेदी जी पैर लटकाकर एक खरहरी चारपाई पर बैठे हुए थे। उनके शरीर पर बंडी, घुटनो तक धोती और पैर में खड़ाऊँ था। कौशिक जी ने संकोच के साथ कहा--मैं द्विवेदी जी से मिलना चाहता हूँ।[३]

स्वदेशी वस्तुओं के प्रति उनके हृदय में अगाध प्रेम था। एक बार लखनऊ में एक रेशमी और दूसरा गाढ़ा सूट सिलाने गये। दर्जी को निर्देश किया--देखो टेलर मास्टर! रेशमी सूट में कोई त्रुटि हो जावे तो कोई बात नहीं, लेकिन गाढ़े के सूट में कोई त्रुटि न होने पावे और आधे घंटे तक यही बात उसे समझाई।[४] यह थी उनकी गाढ़े के प्रति ममता! उस समय स्वदेशी-आन्दोलन का सूत्रपात भी नहीं हुआ था। बरहज आश्रम में हाथ के बने हुये कागद का विज्ञापन पढ़कर एक रुपये का कागद वी. पी. से मंगाया और अपने पत्र में ग्रामोद्योग के लिये प्रसन्नता प्रकट की।[५]

जान पड़ता है कि आरम्भ में द्विवेदी जी अंगरेजी शासन के भक्त थे। 'हिन्दी शिक्षावली तृतीय भाग की समालोचना' में उन्होंने लिखा था--

"इस पुस्तक को हमने साद्यन्त पढ़ा, परन्तु इसमें ऐसा कोई पाठ हमको न मिला, जिसमें अंगरेजी राज्य की प्रशंसा अथवा कथा होती। नादिरशाह का वृत्तान्त है, भारतेश्वरी विक्टोरिया का नहीं। बाबर की कथा बड़े प्रेमसे वर्णन की है, किसी वाइसराय की नहीं। जिसके राज्य में हम लोग सुखसे शयन करते हैं, जिसके राज्यमें हिन्दी पाठशालाएँ नियत हुई हैं और जिस के राज्य में, आज, किताबें लिखने का सौभाग्य हमको प्राप्त हुआ है, उसका अथवा उसके

---

१. **'द्विवेदी-मीमांसा'**, पृ० २२७ २८।
२. **'सरस्वती'**, भाग ४०, सं० २ पृ० १८६।
३ **'सरस्वती'**, भाग ४०, सं० २, पृ० १९०।
४. ,, ,, ,, ,, ,, १९६।
५ ,, ,, ,, ,, ,, १८६।

किसी प्रतिनिप्रधि का परिचय लड़कों को दिलाना क्या कोई अनुचित बात थी?"[1] बृटिश सरकार की इससे बढ़कर चापलूसी और क्या हो सकती है? परन्तु यह उनका व्यभिचारी भाव था जो आगे चलकर विलीन हो गया।

वस्तुत: उनका हृदय देश-प्रेम से ओतप्रोत था। यद्यपि साहित्य-सेवा से अवकाश न मिलने के कारण उन्होंने राजनैतिक उन्मेष में सक्रिय योग नहीं दिया तथापि राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रति उनकी पूरी सहानुभूति थी। गान्धी जी में उनका विशेष श्रद्धाभाव था। महात्मा जी के उपवास की चर्चा पत्रों में पढ़ कर उन्होंने स्वयम् उपवास किया और रोये भी। एक बार लिखा—'गान्धी जी को तो आधुनिक सांचे में पला हुआ महर्षि समझना चाहिए। उनके लेखों और व्याख्यानों में व्यक्त किये गये उनके विचारों से हम लोगों को यथाशक्ति लाभ उठाना चाहिए।'[2]

द्विवेदी जी को हिन्दी-भाषा और साहित्य से ही नहीं, अपनी बैसवाड़ी बोली से भी विशेष प्रेम था। 'कल्लू अल्हइत' का 'सरगौ नरक ठेकाना नाहिं' और निराला जी के पत्र[3] इस कथन का समर्थन करते हैं। भारतीयों का विदेशी भाषा में लिखना उन्हें बहुत खलता था। वे चाहते थे कि भारत भर में हिन्दी का प्रचार हो। कचहरियों, विश्वविद्यालयों और कालेजों से हिन्दी का बहिष्कार और घर के काम-काज, चिठ्ठी-पत्री, खान-पान, रहन-सहन, वेष-भूषा आदि में अँगरेजी का आधिपत्य, उनकी दृष्टि में, हिन्दी-भाषियों के पतन की चरम सीमा था। उनका हार्दिक विश्वास था कि अपने देश, अपने जनसमुदाय और अपने प्रान्त के सर्वांगीण कल्याण की रामबाण औषधि है हिन्दी भाषा का प्रचार। मातृभाषा के प्रति उदासीन शिक्षित लोगोंको लज्जित करने के लिये उन्होंने विदेशियों तक से निवेदन किया। आर० पी० ड्यूहर्स्ट को एक पत्र में लिखा—

"...हमारे देशबन्धु अँगरेजी ऐसी क्लिष्ट भाषा लिखकर उसके साहित्य को तो गंदला करते हैं पर अपनी मातृभाषा में लिखने की चेष्टा नहीं करते। यह दुर्भाग्य की बात है। क्या ही अच्छा हो यदि आप मातृ-भाषा-विषयक मनुष्य का कर्तव्य या इसी तरह के किसी और विषय पर हिन्दी में एक लेख लिख कर इन लोगों को लज्जित करें। डाक्टर ग्रियर्सन से हमने प्रार्थना की थी, उन्होंने शालीनतासूचक यह उत्तर दिया कि हिन्दी में उनकी यथेष्ट

---

१. 'हिन्दी शिक्षावली तृतीय भाग की समालोचना', पृ० ३३।
२. 'सरस्वती', सितम्बर, १९१८ ई०, पृ० १६८।
३. निराला जी के पत्र दौलतपुर में रक्षित हैं।

गति नही। आशा है सरस्वती मे आपको जो त्रुटियाँ मिलें उनकी सूचना देकर आप हमें अपना कृतज्ञताभाजन बनावेंगे। हम एक बहुत ही अल्पज्ञ जन हैं।

विनयावनत

महावीरप्रसाद द्विवेदी"[१]

द्विवेदी जी ने स्वयं भी अपने पत्रों और लेखों में अँगरेजी शब्दों का का प्रयोग किया है। 'वन्देमातरम्' कविता की पहुँच पर सत्यनारायण कविरत्न को लिखा था—

"......वन्देमातरम् पहुँचा। कविता बडी मनोहर है। थैंक्स। ऐसे ही कभी कभी लिखा कीजिए। और सब कुशल है।..."[२]

जिन पत्रों का उत्तर नहीं देना होता था उन पर प्रायः अँगरेजी मे ही No Reply लिखा करते थे। 'सरस्वती' के हस्तलिखित लेखों की प्रतियों में द्विवेदी जी के हस्ताक्षरों में अंकित आदेश बहुधा अँगरेजी मे ही हैं।[3] हिन्दी-साहित्यकारों और अपने सम्बन्धियो तक को उन्होंने अंगरेजी मे पत्र लिखे हैं।[४] आगे चलकर उन्होंने अपना सुधार किया और यह आदत छोड दी। इस विषय में अपने एक सम्बन्धी को उन्होंने लिखा था—"एक ही प्रान्त के निवासी और एक ही मातृभाषाभाषी दो समीपी सम्बन्धी छः सहस्र मील दूरस्थ द्वीप की भाषा में पत्र-व्यवहार करें यह दृश्य देवताओं के देखने

---

१. ६. ३. १९०७ ई० को लिखित, द्विवेदी जी के पत्र, सं० ६४७, का० ना० प्र० सभा, कार्यालय।

२. द्विवेदी-मीमांसा', पृ० १९८।

३. उदाहरणार्थ, सितम्बर, १९०५ ई० के अंक में प्रकाशित 'महाश्वेता' के विषय में आदेश किया था—"Note---This is a picture by Ravi Verma reproduce it. You have it already M. P. D.

'सरस्वती' की हस्तलिखित प्रतियाँ, कलाभवन, ना० प्र० सभा, काशी।

४. अंगरेजी में लिखित पत्र का मूल इस प्रकार है—

Jhansi

30th October. 1903.

"..The frankness with which you have written your letter has immensely pleased me If I have an occasion to come to Agra I will ask you kindly to come to see me at G. I. P. Ry. Agra City Booking Office in Rawatpara. Your description of Hemant will appear in Saraswati' either in December or January.

Yours sincerely

Mahavir Prasad.

सत्यनारायण कविरत्न को लिखित, 'द्विवेदी-मीमांसा', पृ० १९७, ९८।

योग्य है। ऐसा अस्वाभाविक चित्र भारत जैसे पतित देश में ही सम्भव है।"[1] अपनी भाषा की उन्नति देखकर उन्हें परमानन्द और उसकी अवनति देखकर आन्तरिक क्लेश होता था।[2] अपने मातृभाषाप्रेम को प्रमाणित करने के लिए ही उन्होंने प्रयाग के द्विवेदी-मेले के अवसर पर पचास रुपए का पुरस्कार देकर 'मातृभाषा की महत्ता' विषय पर निबन्ध-प्रतियोगिता कराई।[3]

द्विवेदी जी के लाख उद्योग करने पर भी जब बहुतेरे हिन्दी-भाषियों में अपनी भाषा और साहित्य के प्रति यथेष्ट राग उत्पन्न न हो सका तब उन्होंने अपने भाषण में उनकी धज्जी उड़ाई। हिन्दी-साहित्य के प्रति उदासीन जनों की भर्त्सना करते हुए उन्होंने कहा—

"समर्थ होकर भी जो मनुष्य इतने महत्वशाली साहित्य की सेवा और अभिवृद्धि नहीं करता अथवा उसमें अनुराग नहीं रखता वह समाजद्रोही है, वह देशद्रोही है, वह जाति-द्रोही है, किं बहुना वह आत्मद्रोही और आत्महन्ता भी है।"[4] मातृ भाषा को छोड़ कर अन्य भाषाओं में लिखनेवालों पर भी उन्होंने कठोर प्रहार किया—

"अपनी मा को निस्सहाय, निरुपाय और निर्धन दशा में छोड़ कर जो मनुष्य दूसरे की मा की सेवा शुश्रूषा में रत होता है उस अधम की कृतघ्नता का क्या प्रायश्चित्त होना चाहिए, इसका निर्णय कोई मनु, याज्ञवल्क्य या आपस्तम्ब ही कर सकता है।"[5]

भाषा और साहित्य के क्षेत्र में द्विवेदी जी ने किस प्रकार और कितना सुधार किया, इसकी समीक्षा आगे की जायगी। उनकी रचनाओं में कल्पना की ऊँची उड़ान, कला की गहराई और चिन्तन की गम्भीरता नहीं है। उनका वास्तविक गौरव शुद्ध सात्विक प्रेरणा, लगन की आभा और शिक्षक की मनोवृत्ति पर ही निर्धारित है। साहित्येतर क्षेत्रों में भी

१- अंगरेजी में लिखित मूल पत्र इस प्रकार है—

"That two persons being closely related to eaeh other, and being natives of the sama province, and speaking the same mother-tongue should carry on correspondence in a language of an island six thousand miles away is a spectacle for gods to see. Such an unnatural scene is possible only in a wretched country like this"

'द्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रन्थ', पृ० ५६७।

२. द्विवेदी-मेले के अवसर पर द्विवेदी जी का भाषण, पृ० १ और ६

३. ,, ,, ,, ,,—अन्तिम पृष्ठ।

४. हि० सा० स० के कानपुर अधिवेशन में द्विवेदी जी का भाषण, पृ० २३।

५. हि० सा० स० के कानपुर-अधिवेशन में स्वागताध्यक्षपद से द्विवेदी जी का भाषण, पृ० २३।

उन्होंने सुधार किया। अपने सुधारों द्वारा अपने गाँव को आदर्श बनाया। जो कोई भी नौसिखिया उनके सम्पर्क में आया उसका कुछ न कुछ सुधार अवश्य हुआ।

'अनन्यसामान्यमचिन्त्यहेतुकं द्विषन्ति मन्दाश्चरितं महात्मनाम्।'

कालिदास की उपर्युक्त उक्ति को चरितार्थ करते हुए कुछ लोगों ने द्विवेदी जी के चरित्र पर आक्षेप भी किया। उन्हें नास्तिक, अभिमानी, क्रोधी आदि विशेषणों से विशिष्ट तो किया ही, व्यभिचारी तक कह डाला। उन्हें नास्तिक समझने वालों की भ्रान्ति दूर करने के लिए उनका 'कथमहं नास्तिकः' ही पर्याप्त है। वे अभिमानी और क्रोधी अवश्य थे परन्तु अकारण और सज्जनों के प्रति नहीं।

द्विवेदी जी स्वाभिमानी थे। उन्होंने किसी के समक्ष कुछ पाने की आशा से शीश नहीं झुकाया। 'अयोध्याधिपस्य प्रशस्ति' परोपकार के लिए की गई। परन्तु राजा कमलानन्द की प्रशस्ति[1] का एक मात्र आधार स्वार्थ ही प्रतीत होता है। यह बात 'स्वाधीनता' के समर्पण और द्विवेदी जी के पत्रव्यवहार से पुष्ट भी हो जाती है।[2] इस स्वार्थ में भी हिन्दीसेवा का भाव था।

धन के प्रति उन्हें मोह नहीं था। वृद्धावस्था में सब कुछ दान कर के वे दरिद्र हो गए— समस्त जलराशि को भूतल पर बरसा देने वाले बादल की भाँति। दरिद्रता से अभिभूत हो कर उन्होंने जौनपुर के राजा स्वर्गीय श्री कृष्णदत्त जी दुबे को आर्थिक सहायता के लिए पत्र लिखा था।[3] घनश्यामदास बिड़ला के एक पत्र से सिद्ध होता है कि द्विवेदी जी ने उनसे भी आर्थिक सहायता माँगी थी।[4] रघुवंश कुमारी, राजमाता दियरा, उन्हें अपना बड़ा भाई समझतीं और समय-समय पर रुपया भी भेजती रहती थीं।

१९२४ ई० में वे काशी विश्वविद्यालय की एम० ए० परीक्षा के परीक्षक थे। विश्व-

---

१. द्विवेदी जी के पत्र सं० २५,१६, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, कार्यालय।

२. काशी नागरी प्रचारिणी सभा के कार्यालय में रक्षित द्विवेदी जी के पत्र।

३. वह पत्र रक्षित नहीं है। वर्तमान राजा साहब और जौनपुर राज कालेज के अध्यापक पं० नागेन्द्र नाथ जी उपाध्याय के कथनानुसार उसका सारांश था—आपका दुबे राज्य है, इसीलिये आप से सहायता की प्रार्थना की है।

९ मार्च, १९२८ ई०

४. ''पूज्य पंडित द्विवेदी जी से नमस्कार,

आप का पत्र मिला और आपको यदि मैं किसी प्रकार की सहायता कर सकूँ तो मुझे अत्यन्त प्रसन्नता होगी, मैं आपका पत्र पंडित हरिभाऊ जी उपाध्याय जो सस्ता-साहित्य-मंडल के प्रबन्धक हैं उनके पास भेजता हूँ। उनका उत्तर आनेपर फिर आप से पत्रव्यवहार

विद्यालय का आदेश था कि आप प्रश्नपत्र, ड्राफ्ट या कापी नहीं रख सकते। द्विवेदी जी ने इस आदेश की अवहेलना करके प्रश्नपत्र की एक कापी अपने पास रख ली। जो आज भी उपलब्ध है।[1]

ये अपवाद मनुष्य की सहज प्रवृत्ति के परिणाम हैं। चरित्रदोष की कोटि में इन्हें स्थान देना हृदयहीनता है। द्विवेदी जी मनुष्य थे जो सदा अपूर्ण है। मानव का गौरव इस बात में है कि वह विघ्नबाधाओं को ठेलता हुआ जीवनप्रासाद के कितने तल ऊपर चढ़ा है, लोक-कल्याण के पथ पर कितने पग आगे बढ़ा है। महान् वह है जो असंख्य जनसमुदाय के शरीर पर नहीं, हृदय पर शासन करता है। इस अर्थ में द्विवेदी जी महान् थे और रहेंगे।

करूंगा।

विनीत

घनश्यामदास बिड़ला।

दौलतपुर में रक्षित पत्र।

१. दौलतपुर में रक्षित विश्वविद्यालय के कागद-पत्रों के आधार पर।

तीसरा अध्याय

साहित्यिक संस्मरण और रचनाएं

जिस जनपद में द्विवेदी जी का जन्म हुआ था वह अनेक विद्वानों के यशःसौरभ से सुवासित था। पंडित सुखदेव मिश्र, पं० प्रतापनारायण मिश्र, पं० बंशीधर वाजपेयी ('सज्जन कीर्ति सुधाकर' के सम्पादक) आदि बैसवाड़े के ही थे। द्विवेदी जी के पितामह और मातामह स्वयं उद्‌भट विद्वान् थे। जीवनी-भाग में कहा जा चुका है कि द्विवेदी जी की प्रवृत्ति आरंभ से ही विद्याध्ययन की ओर थी। कहा नहीं जा सकता कि उनके इस विद्याविषयक संस्कार-निर्माण का श्रेय किसको है—पिता को, पितामह को, मातामह को, उपर्युक्त वातावरण को या निजी पूर्वजन्म के कृतकर्म को। बचपन से ही उनका अनुराग तुलसीकृत रामचरितमानस और ब्रजवासीदास के 'ब्रजविलास' पर हो गया था। लड़कपन में ही उन्होंने सैकड़ों कवित्त कंठस्थ कर लिए थे।[1]

आरंभ से ही उन्होंने अपनी असाधारण प्रतिभा का परिचय दिया। एक बार ग्राम-पाठशाला के शिक्षक महोदय एक पद का गलत अर्थ बता रहे थे। बालक द्विवेदी ने उसका ठीक अर्थ बतलाया। अध्यापक जी अपनी गलती स्वीकार करने को प्रस्तुत न थे। द्विवेदी जी के विवाद करने पर वे पंडितराज संजीवन के अर्थ को प्रामाणिक मानने पर सहमत हुए। द्विवेदी जी उपर्युक्त पंडित जी के घर गए और उनसे ठीक अर्थ लिखा लाए। उन्होंने द्विवेदी जी के ही अर्थ का समर्थन किया।[2] अंगरेजी स्कूल में डबल प्रोमोशन पाना भी उनकी कुशाग्रबुद्धि का प्रमाण है।[3]

यद्यपि किशोरावस्था में ही स्कूल छोड़ कर उन्हें नोन-तेल लकड़ी के कर्मक्षेत्र में जुतना पड़ा था, तथापि सेवावृत्ति की विषम परिस्थितियों में भी उनका विद्याव्यसन दिन दिन बढ़ता गया। बम्बई, अजमेर, हुशंगाबाद, झाँसी आदि स्थानों में उन्होंने स्वयं और शिक्षक रखकर

१. द्विवेदी जी का आत्मनिवेदन, 'साहित्य-सन्देश', एप्रिल, १९३१ ई०।
२. गंगाप्रसाद पाण्डेय, 'निबन्धिनी', पृ० ६१-७०।
३. इसकी चर्चा जीवनी में हो चुकी है।

हिन्दी, उर्दू, गुजराती, मराठी, बंगला, अंगरेजी और विशेषकर संस्कृत साहित्य का अध्ययन किया। तत्कालीन अराजकतापूर्ण हिन्दी-संसार को द्विवेदी-जैसे अतिरथ सेनानी की ही आवश्यकता थी।

सरस्वती और लक्ष्मी का शाश्वत वैर पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी के विषय में विशेष रूप से चरितार्थ होता है। शिशु की वाणी पर वाणी का बीजमंत्र अंकित किया गया था, इसीलिए अप्रसन्न लक्ष्मी ने उसे अपना कृपापात्र नहीं बनाया। सम्पादन-काल में यद्यपि उनकी आय उत्तरोत्तर बढ़ती गई, तथापि दैहिक और दैविक तापों ने उनके जीवन में आनन्द का संचार न होने दिया। वे भोजन और वस्त्र से विशेष अधिक न कमा सके।

वृद्धावस्था के प्रथम प्रहर में ही उन्होंने अपनी चल सम्पत्ति दान कर दी। उनके पत्रों और 'रसज्ञ-रंजन' की भूमिका आदि से पता चलता है कि वृद्धावस्था में उन्होंने एक असहाय साहित्यिक भिखारी का जीवन बिताया। अनेक प्रकाशकों ने द्विवेदी जी को अत्यन्त कष्ट और धोखा दिया।[1] दुःख की बात है कि हिन्दी-साहित्य के पाठकों और प्रकाशकों ने अपने सिद्धहस्त साहित्यसाधक की समस्त आशाओं पर पानी फेर दिया।

नवम्बर, १६०५ ई० में छत्रपुर के राजा साहब ने द्विवेदी जी से कहा था कि आप प्रतिवर्ष एक अच्छे अंगरेजी ग्रन्थ का अनुवाद कीजिए। पारिश्रमिकरूप में मैं आप को पाँच सौ रुपया दिया करूँगा। सितम्बर १६०७ ई० में द्विवेदी जी ने हर्बर्ट स्पेंसर की 'एजुकेशन' पुस्तक का अनुवाद 'शिक्षा' के नाम से प्रस्तुत किया और उपर्युक्त राजा साहब को पत्र लिखा इसके पहले द्विवेदी जी की 'स्वाधीनता' २४६ पृष्ठों में छप चुकी थी। राजा कमलानन्दसिंह ने पाँच सौ रुपया पुरस्कार दिया था। ५०० पृष्ठों की 'शिक्षा' के लिए द्विवेदी जी के नए संरक्षक ने पचीस रुपया देने की बात कही। द्विवेदी जी को उनकी हृदयहीनता पर अत्यन्त खेद हुआ। उन्होंने राजा साहब को कस कर पत्र लिखा जो द्विवेदी जी के चरित्र और हिन्दी की तत्कालीन अवस्था के अध्ययन की दृष्टि से महत्वपूर्ण है।[2] द्विवेदी जी झाँसी में थे।

---

१. क. रसज्ञ-रंजन, दूसरे संस्करण की भूमिका, १६२३।
   ख. राय कृष्णदास को लिखित पत्र, सरस्वती, भाग ४६, संख्या ४, पृष्ठ ४६८, ६६ पर प्रकाशित।
   ग. राष्ट्रीय हिन्दी मन्दिर, जबलपुर के मन्त्री नर्मदाप्रसाद मिश्र को लिखित पत्र की रूपरेखा, तिथि-रहित, सम्भवतः १६३३ ई०, दौलतपुर में रक्षित।

२. "हमें चाहे कहीं से पुरस्कार या परिश्रम का बदला मिले चाहे न मिले, हिन्दी की सेवा हम जरूर करेंगे। पर इस तरह करें जिसमें यथासम्भव भोजन वस्त्र की हमें तकलीफ न हो। अतएव हम ऐसी ही किताबें विशेष करके लिखेंगे जिनकी कुछ बिक्री

उनकी कुछ समालोचनाएं प्रकाशित हो चुकी थीं। उन्हीं दिनों इंडियन प्रेस द्वारा प्रकाशित "हिन्दी शिक्षावली तृतीय रीडर" नामक एक पुस्तक तहसीली स्कूलों में पाठ्यपुस्तक होकर आई। वह अत्यन्त सदोष थी। एक अध्यापक महोदय ने द्विवेदी जी से उसकी आलोचना करने का निवेदन किया। उन्होंने उसकी मार्मिक आलोचना प्रकाशित की। फलस्वरूप इंडियन प्रेस को घाटा उठाना पड़ा।[1] यह था द्विवेदी जी और इंडियन प्रेस का प्रथम परिचय।

उसी प्रेस से प्रकाशित 'सरस्वती' की आयु तीन बरस की हो चुकी थी। उसके एक मात्र सम्पादक श्यामसुन्दरदास भी जाना चाहते थे। रीडरों के प्रतिभाशील और प्रभविष्णु आलोचक से प्रेस के स्वामी बाबू चिन्तामणि घोष पहले ही प्रभावित हो चुके थे। १६०२ ई० में श्यामसुन्दरदास ने भी द्विवेदी जी को ही सम्पादक बनाने की राय दी।[2] लिखापढ़ी आरम्भ हुई। घोष बाबू के प्रणयानुरोध से द्विवेदी जी ने सम्पादन स्वीकार कर लिया। द्विवेदी जी के सम्पादक होने पर कुछ लोगों ने बड़ा कोलाहल मचाया। उन्होंने घोष बाबू से,यहां तक कहा कि "यह मनुष्य बड़ा घमंडी है, बड़ा कलहप्रिय, बड़ा तुनक-मिजाज है। इससे तुम्हारी कभी न पटेगी। तुमने बड़ी भूल की। साल के भीतर ही यह महाभारत मचा देगा।"[3] परन्तु घोष बाबू ने उनके अनर्गल प्रलापों पर कोई ध्यान नहीं दिया। समय ने उनकी भ्रांति को निर्मूल सिद्ध कर दिया। द्विवेदी जी ने लगभग सत्रह वर्ष तक 'सरस्वती' का सम्पादन किया परन्तु सम्पादक और स्वामी में कदापि अनबन न हुई। घोष बाबू ने अपना कर्तव्य पालन किया और द्विवेदी जी ने अपना।

द्विवेदी जी कानपुर से पत्रिका का सम्पादन करते थे। एक बार लाहौर के किसी

हो जिनसे हमें काफी आमदनी भी हो। ………हमें कुछ ऐसा परिताप हुआ है कि शायद आज से हम कभी राजदरबार में न जायं और किसी सर्मपण के बखेड़े में न पड़ें। आशा है आप हमारे इस स्पष्टवाद को क्षमा करेंगे:—

अयि दलदरविंद स्यन्दमानं मरन्दं
तव किमपि लिहन्तो मंजु गुंजन्तु भृगाः।
दिशि दिशि निरपेक्षस्तावकीनं विवृण्वन्
परिमलमयमन्यो बान्धवो गन्धवाहः॥

१ आत्मनिवेदन, 'साहित्य-संदेश', एप्रिल, १९३९ ई०, पृ० ३०१।
२. 'सरस्वती' भाग ४०, सं २, पृ० १६६।
३. द्विवेदी-लिखित 'बाबू चिन्तामणि घोष की स्मृति" सरस्वती १९२८ ई०, खंड २, पृ० २८२……

सज्जन ने 'सरस्वती' में लाटरी-सम्बन्धी विज्ञापन छपाया जो सरकारी विधान के विरुद्ध था। इलाहाबाद के डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेट ने पत्रिका के सम्पादक, मुद्रक और प्रकाशक को सम्मन द्वारा तलब किया। अभियोग की सम्भावना करके द्विवेदी जी ने घोष बाबू से कहा कि कानपुर से बार बार प्रयाग आने में बड़ा झंझट होगा। उन्होंने प्रेमपगी वाणी में उत्तर दिया "अगर हम लोगों की सम्भावना सही निकली तो आज से आप और आपके कुटुम्बी मेरे कुटुम्बी हो जायँगे और इस मुकदमे में इंडियन प्रेस की सारी विभूति खर्च कर दी जायगी।"[1] उनका यह अभिवचन सुन कर द्विवेदी जी का कंठ भर आया और शरीर पुलकित हो उठा। वस्तुतः द्विवेदी जी का उस विज्ञापन से कोई संबंध न था। वे भूल से तलब किए गए थे। उसकी चेतावनी मुद्रक तथा प्रकाशक को मिलनी चाहिए थी और उन्हें मिली। दो बजे लौट कर द्विवेदी जी इंडियन प्रेस आए तो देखा कि घोष बाबू निराहार बैठे हुए उनकी प्रतीक्षा कर रहे हैं। उन्होंने द्विवेदी जी को भोजन कराकर तब स्वयं भोजन किया। उनका द्विवेदी जी पर इतना अगाध प्रेम था कि जब वे उन्हें पहुँचाने जाते तब गठरी स्वयं ढोते और चपरासी खाली जाता। बाबू चिन्तामणि घोष ने सम्पादक की स्वतंत्रता का कभी अपहरण नहीं किया। उन्होंने सम्पादक के विरुद्ध कभी भी कुछ भी इंडियन प्रेस में छपने न दिया। एक बार एक महाशय के लेखों का संग्रह पुस्तक-रूप में छपा। जब उन्हें यह पता चला कि उसके एक दो लेखों में सरस्वती-सम्पादक पर अनुचित आक्षेप किया गया है, तब उन्हें बहुत परिताप हुआ। फलस्वरूप उस पुस्तक की सहस्रों प्रतियां कटिंग मशीन को अर्पित कर दी गईं।[2]

एक बार द्विवेदी जी बीमार पड़े। बचने की आशा न थी। उन्होंने तीन महीने की सामग्री प्रेस को भेजी और लिखा कि मेरे मरने के बाद भी इसी से तीन महीने 'सरस्वती' का सम्पादन करना तब तक कोई न कोई सम्पादक मिल ही जायगा, जिससे यह सूचना न देनी पड़े कि सम्पादक के मर जाने से 'सरस्वती' देर में निकली या बन्द रही। घोष बाबू ने अपने मैनेजर गिरिजाकुमार जी को भेजा। प्रथम श्रेणी का डिब्बा रिजर्व कराने के लिए कहकर वे द्विवेदी जी के यहाँ गए और कहा कि सब लोग इलाहाबाद चलिए। कुटुम्बियों ने द्विवेदी जी को जाने न दिया। घोष बाबू के प्रेम और औदार्य पर सभी चकित थे।

सम्पादक द्विवेदी की साहित्यसेवाओं का विवेचन 'सरस्वती-सम्पादन' अध्याय में किया

---

१. द्विवेदी-लिखित "बाबू चिन्तामणि घोष की स्मृति", 'सरस्वती', १६२८ ई०, खंड २, पृष्ठ २८१

२. " " " " " "

जायगा। उन्होंने 'सरस्वती' के मालिकों का विश्वास-भाजन बने रहने की सदैव चेष्टा की और इतने सचेत रहे कि उन्हें कभी भी उलझन में न पड़ने दिया। सम्पादन के अन्तिम वर्षों में उनकी आय उतनी ही हो गई थी जितनी नौकरी छोड़ने के समय थी। इसका कारण था द्विवेदी जी की कर्तव्य-परायणता और बाबू चिन्तामणि घोष[1] की उदारता। घोष बाबू और उनके उत्तराधिकारियों ने द्विवेदी जी को सर्वदा ही अपना कुटुम्बी समझा। 'सरस्वती' से अवकाश ग्रहण करने पर उन्हें पेंशन दी और उनके दुःख-सुख का ध्यान रखा।[1] द्विवेदी जी और इंडियन प्रेस का सम्मिलन, मैत्री और मेलजोल का एक लम्बा रेकर्ड है। स्वामी प्रकाशक और सेवक सम्पादक का यह संबंध संसार के लिए आदर्श है।

जनवरी १६०१ ई० की 'सरस्वती' में श्यामसुन्दर दास ने हिन्दी-भाषा का संक्षिप्त इतिहास लिखा। उसमे उन्होंने अयोध्याप्रसाद खत्री द्वारा किए गए सुधार का उल्लेख नहीं किया। इस पर अप्रसन्न खत्री जी ने बाबू साहब को पत्र लिखा और श्रीधर पाठक आदि से पत्रव्यवहार किया। फरवरी १६०३ ई० मे द्विवेदी जी ने 'हिन्दी-भाषा और उसका साहित्य' लेख लिखा। जिसमे जनवरी १६०१ ई०, जून १६०१ ई० और सितम्बर १६०२ ई० के लेखों की चर्चा करना भूल गए। खत्री जी ने पत्र लिख कर उन्हें इसका स्मरण दिलाया। द्विवेदी जी ने चिढ़ कर लिखा—नुक्ताचीनी करना छोड़ दीजिए। खत्री जी का पारा गरम हो गया। उन्होंने 'प्रयाग-समाचार' आदि पत्रों मे "छोटी-छोटी बातों पर नुक्ताचीनी" शीर्षक मे अनेक लेख प्रकाशित किए-कराए और द्विवेदी जी की बातों की तीव्र आलोचना की। उसी शीर्षक से पैम्फलेट भी छपाए जो काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा के कार्यालय में सुरक्षित हैं[2]।

नवम्बर, १६०५ ई० की 'सरस्वती' में द्विवेदी जी ने 'भाषा और व्याकरण' लेख लिखा। हिन्दी के अशुद्ध प्रयोगों की सोदाहरण आलोचना करते हुए उन्होंने बालमुकुन्द गुप्त के भी दोष दिखाए। उसी लेख मे प्रयुक्त 'अनस्थिरता' शब्द को लेकर क्रुद्ध गुप्त जी ने 'आत्माराम' के नाम से 'भाषा की अनस्थिरता' लेखमाला प्रकाशित की जो 'भारतमित्र' की दस संख्याओं में छपी। 'आत्माराम' के प्रतिवाद का मुँहतोड़ उत्तर गोविंदनारायण मिश्र ने अपनी 'आत्माराम की टें-टें' लेखमाला द्वारा दिया जो 'हिन्दी-बंगवासी' मे प्रकाशित हुई। 'वेंकटेश्वर-समाचार,' 'सुदर्शन' आदि पत्रों ने भी इष्ट-मित्रों का पक्ष लेकर इसमे भाग लिया।[3]

---

१. द्विवेदी-लिखित 'बाबू चिन्तामणि घोष की स्मृति',
'सरस्वती', १६२८ ई०, खंड २, पृ० २८२।

२. काशी नागरी प्रचारिणी सभा, कार्यालय, द्विवेदी जी के पत्र, बंडल ज और झ, पत्र तथा कतरनें।

३. इस विवाद से संबंधित अनेक पत्र तथा कतरनें का० ना० प्र० सभा के कलाभवन में रक्षित हैं।

[बालमुकुन्द गुप्त ने 'हम पंचन के ट्वाला मां' लेख लिख कर द्विवेदी जी की बोली बैसवाड़ी का उपहास किया। क्षुब्ध द्विवेदी जी ने उत्तर में 'सरगौ नरक ठेकाना नाहिं'-शीर्षक आल्हा 'कल्लू अल्हइत' के नाम से जनवरी, १६०६ ई० की 'सरस्वती' में प्रकाशित किया। गुप्त जी ने अपनी खिसियाहट मिटाने के लिए प्रत्युत्तर दिया—'भाई वाह ! कल्लू अल्हइत का आल्हा खूब हुआ। क्यो न हो, अपनी स्वाभाविक बोली में है न।'] फरवरी १६०६ ई० में द्विवेदी जी ने 'भाषा और व्याकरण' शीर्षक लेख में व्यंग्यपूर्ण, युक्ति-युक्त और प्रभावोत्पादक ढंग से गुप्त जी की उक्तियों का विस्तृत खंडन किया।

'भारतमित्र' और 'सरस्वती' का यह झगड़ा बरसों चला। उस वाद-विवाद में लोग सौजन्य, सहृदयता और शिष्टता को भूल गए। साहित्य के दिग्गज विद्वानों ने उसमें जो ओछापन दिखलाया वह भारती-मन्दिर के सम्माननीय और सिद्ध पुजारियों को तनिक भी शाभा नही देता।

विवाद के उपरान्त जब गुप्त जी ने द्विवेदी जी के चरणो पर सिर रख दिया तब द्विवेदी जी ने उन्हे हृदय मे लगा लिया।[1]

द्विवेदी जी के समय मे विभक्ति-विचार का जो वाद-विवाद चला उसमे उन्होंने कोई भाग नही लिया। परन्तु उनके द्वारा इस विषय की रक्षित कतरनो से[2] निस्सन्देह विदित होता है कि इसमे उनकी रुचि अवश्य थी।

भाषा और व्याकरण के आन्दोलन ने हिन्दी-संसार मे एक नवीन जागृति की सृष्टि की। भाषा की शुद्धि और अशुद्धि की चर्चा ने और भी व्यापक रूप धारण किया। हिन्दी में विभक्तियाँ सटाकर लिखी जानी चाहिएं या हटाकर—इस विषय को लेकर एकाएक बड़ा ही रोचक वाद-विवाद १६०६ ई० मे छिड़ गया। सटाऊ-सिद्धान्त के प्रतिपादक थे गोविंदनारायण मिश्र, अमृतलाल चक्रवर्ती, अम्बिका प्रसाद वाजपेयी, जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी आदि। हटाऊ-सिद्धान्त के समर्थक थे रामचन्द्र शुक्ल, लाला भगवानदीन, भगवानदास हालना आदि। द्विवेदी जी विभक्तियों को अलग लिखने के पक्ष में थे, परन्तु इस खंडन-मंडन से दूर ही रहे। उनका मत था कि अपने सुभीते के अनुसार लेखक विभक्तियो का प्रयोग सटाकर या हटाकर कर सकता है।[3]

---

१. 'द्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रंथ पृ०', ५३२।

२. कलाभवन, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।

३. हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के कानपुर अधिवेशन में स्वागताध्यक्ष पद से भाषण, पृ० ५१-५२-५३।

१९०७ ई० में द्विवेदी जी ने बी० एन्० शर्मा का एक लेख नहीं छापा। इस पर वे क्रुद्ध हुए और 'वेंकटेश्वर-समाचार' में द्विवेदी जी को अनुचित बातें कहीं। फाल्गुन, संवत् १९६४ के 'परोपकारी' में पद्मसिंह शर्मा ने बी०एन्० शर्मा की 'शिक्षा-मञ्जरी' की आलोचना की। यह शर्मा जी को पसन्द न आई। उन्होंने उसका उत्तर दिया। आषाढ़ संवत् १९६५ के 'परोपकारी' में उनकी पुनः खबर ली गई। 'आर्यमित्र' के दो अंकों में (२४ सितम्बर और १ अक्टूबर, १९०८ ई०) द्विवेदी जी के 'आर्य-शब्द की व्युत्पत्ति' लेख (सरस्वती सितम्बर, १९०८ ई०) की आलोचना करते हुए शर्माजी ने उनपर व्यक्तिगत आक्षेप किए।[1] उनका यह आक्रमण द्विवेदी जी को असह्य हुआ। उन्होंने शर्मा जी पर बीस हजार रुपये का मानहानि का दावा कर दिया। राय देवीप्रसाद द्विवेदी जी के वकील हुए।

द्विवेदी जी के पत्रों से पता चलता है कि उन्होंने मुकदमा दायर करने में जल्दी नहीं की।[2] वे चाहते थे कि बी० एन्० शर्मा और 'आर्यमित्र' अपने इस अपराध का मार्जन करें। बहुत दिनों तक प्रतीक्षा करने के बाद भी जब उन लोगों की निद्रा भंग न हुई तब द्विवेदी जी ने कचहरी का द्वार देखा। अनेक पत्रपत्रिकाओं ने द्विवेदी जी के इस कार्य की निन्दा भी की।[3]

द्विवेदी जी का नोटिस पाकर बी० एन्० शर्मा पानी पानी हो गए। क्षमा-प्रार्थना

---

१. द्विवेदी जी की डायरी, कलाभवन, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।

२. क. "...आप लोग हमें पीछे से उलाहना न दें, इससे हम अब तक कचहरी नहीं गए। पर अब बहुत दिन तक यह मामला इस तरह नहीं पड़ा रह सकता। यदि आपका उत्तर शीघ्र न आया तो हम समझेंगे कि आप और प्रतिनिधि सभा हमें मुकदमा दायर करने के लिए मजबूर करती है।

निवेदक

म० प्र० द्विवेदी"

पं० रुद्रदत्त जी को लिखित पत्र १०,९,१९०९ ई०, कला भवन, नागरी प्रचारिणी सभा काशी।

ख. "...मैंने सब बातों का दूर तक विचार किया है। जहां तक संभव था मैंने इस बात का भी प्रयत्न कर देखा है कि यह मामला न्यायालय तक न जाय। इसी लिये एक वर्ष तक मैं ठहरा रहा। पर अब लड़कों की इच्छा न्यायालय में ही न्याय कराने की है तो यही सही।

विनयावनत

म० प्र० द्विवेदी"

पं० रुद्रदत्त जी को लिखित पत्र, १०.९.१९०९ ई०, कलाभवन, ना०, प्र० सभा।

३. पत्रों की कतरनें, कला भवन, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।

द्वारा संधि करना ही उन्होंने अधिक श्रेयस्कर समझा। द्विवेदी जी के ही सुझाये हुए मसविदे के अनुसार बी० एन० शर्मा और 'आर्यमित्र' वालों की ओर से पं० भगवानदीन ने क्षमा-प्रार्थना की।[1] पत्र-पत्रिकाओं में क्षमा-याचना प्रकाशित होने के बाद शर्मा जी ने द्विवेदी जी को एक पत्र में लिखा था—

मान्यवर द्विवेदी जी हमने जो भूल करके आप को कष्ट पहुँचाया था उसे आपने अवश्य ही अपनी उदारता से क्षमा कर दिया और हम क्षमा पा चुके किन्तु हमें अब भी कभी कभी परिताप होता है कि आप से विद्वान पुरुष को हमने कष्ट पहुँचाया, देखें यह परिताप कब दूर होता है।

आपका कृपाकांक्षी वशम्वद
बी० एन० शर्मा[2]

'सरस्वती' नागरी प्रचारिणी सभा के अनुमोदन से संस्थित थी। अक्टूबर १९०४ ई० की 'सरस्वती' में द्विवेदी जी ने सभा की खोज-पूर्ण रिपोर्ट की आलोचना की,। सभा और उसके मंत्री श्यामसुन्दर दास पर भी आक्षेप किए। तदनन्तर 'पायनियर', 'इंडियन पीपुल' 'एडवोकेट' और 'इंडियन स्टूडेंट' में सभा के खोज-संबंधी काम की बड़ी प्रशंसा की गई। अपने ५ नवम्बर, १९०४ ई० के पत्र में सभा ने इंडियन प्रेस के मालिक को हिदायत की—आगे के लिए आशा है कि आप सभा के विषय में शंकापूर्ण लेख सभा से निर्णय कराके तब छापेंगे। यह पत्र दिसम्बर, १९०४ ई० की सरस्वती' में छापकर द्विवेदी जी ने इसकी ओजपूर्ण आलोचना की।

सभा की ओर से पं० केदार नाथ पाठक कानपुर में द्विवेदी जी के यहाँ गए और जाते ही गरज कर पूछा—सभा के कार्यों की इतनी कड़ी आलोचना का हमें किस रूप में प्रतिवाद करना होगा? 'विषस्य विषमौषधम्' की नीति का अवलम्बन करना पड़ेगा? द्विवेदी जी अन्दर चले गए और मिठाई, जल तथा एक मोटी लाठी लेकर आए। मुसकराते हुए कहा—सुदूर प्रवास से थके मांदे आ रहे हो, पहले हाथ-मुंह धोकर जलपान करके सबल हो जाओ, तब यह लाठी और यह मेरा मस्तक है। अपने उस प्रश्न तथा उद्दंड व्यवहार के प्रति ऐसा नम्रता-पूर्ण उत्तर और भद्रोचित सद्व्यवहार देखकर पाठक जी पर सौ घड़े पानी पड़ गया, क्रोधाग्नि को अश्रुधारा ने बुझा दिया। वे द्विवेदी जी के भक्त हो गए।[3]

---

१. द्विवेदी जी के पत्र, संख्या २-३, 'सरस्वती', नवम्बर, १९५० ई०।
२. कला-भवन, काशी नागरी प्रचारिणी सभा।
३. द्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रन्थ, पृ० ५३०।

जनवरी, १९०५ ई० में सभा ने बाबू चिन्तामणि घोष को पत्र[1] लिखकर आदेश किया कि नागरी प्रचारिणी सभा की अनुमति के बिना उसके संबंध में 'सरस्वती' कुछ न छापे अन्यथा उससे सभा का नाम हटा दिया जाय। घोष बाबू ने द्विवेदी जी के निर्णय को प्रधानता दी और 'सरस्वती' से सभा का नाम निकाल दिया।

फरवरी, १९०५ ई० की 'सरस्वती' में द्विवेदी जी ने सहृदयता और मार्मिक दुःख के साथ 'अनुमोदन का अन्त' प्रकाशित किया जो उनकी भावुकता, प्रतिभा, विद्वत्ता और शिष्टता का द्योतक है। विपक्षी के प्रति भी इतना सौम्य भाव! सज्जनता और सदाशयता की सीमा हो गई। वस्तुतः द्विवेदी जी ने नागरी प्रचारिणी सभा के कार्यों की समालोचना हिन्दी के हित के लिए की थी, सभा या सभ्यों की निन्दा के लिए नहीं।

द्विवेदी जी और नागरी प्रचारिणी सभा का विवाद बहुत दिनों तक चलता रहा। अगस्त, १९०६ ई० में सभा ने द्विवेदी जी से चन्दा मागा। द्विवेदी जी ने कभी भी उक्त सभा का सदस्य बनने का निवेदन नहीं किया था। सभा ने अपने को गौरवान्वित करने के लिए ही उन्हें अपना सदस्य बनाया। इस वाद-विवाद से क्षुब्ध होकर द्विवेदी जी ने अपना ५७ फुलस्केप पृष्ठों का वक्तव्य लिखकर विचारणार्थ सभा को भेजा, अपने को निर्दोष और सभा को दोषी प्रमाणित किया।[2]

उस लेख मे वर्णित दोषों को दूर करने का नागरी प्रचारिणी सभा ने कोई उद्योग नहीं किया। सभा से सम्बन्ध-विच्छेद कर लेना ही उन्होने अधिक श्रेयस्कर समझा। उपर्युक्त वक्तव्य को द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' मे प्रकाशित नहीं किया क्योंकि उसके प्रकाशित होने पर कुछ सज्जनों की संकीर्णहृदयता के कारण सारी सभा की बदनामी और हानि होती। एतद्विषयक एक नोट भी 'सरस्वती' मे प्रकाशित करने के लिए उन्होंने लिखा परन्तु उसे भी उपर्युक्त कारण से छपने के लिए नहीं भेजा।

'भारतमित्र' में श्यामसुन्दरदास ने द्विवेदी जी की उदारता पर लेख लिखा और अन्त मे क्षमा-प्रार्थना की।[3] उत्तर मे द्विवेदी जी ने 'हिन्दी बंगवासी' मे 'शीलनिधान जी की शालीनता' लेखमाला लिखी।[4] प्रत्येक अंक के आरम्भ में और बीच-बीच में भी हिन्दी या संस्कृत

---

१. काशी नागरी प्रचारिणी सभा के कार्यालय में रक्षित।

२. सम्पूर्ण वक्तव्य काशी नागरी प्रचारिणी सभा के कार्यालय में रक्षित है।

३ २५.५.१९०७ ई०, १.६ १९०७ ई०, और १५.६.१९०७ ई०।

ये कतरनें काशी नागरी प्रचारिणी सभा के कलाभवन में रक्षित हैं।

४. १०.६.१९०७ ई०, १७ ६.१९०७ ई, २४.६.१९०७ ई०, १.७ १९०७ ई०, ८.७, १९०७ ई०, १५.७.१९०७ ई०, २२.७.१९०७ ई० और २९.७ १९०७ ई०।

के पद उद्धृत करते हुए उन्होंने बाबू साहब की तीखी व्यंग्यात्मक प्रत्यालोचना की।[1] पूर्वोक्त वक्तव्य के परिवर्द्धित रूप में द्विवेदी जी ने एक ग्रन्थ ही लिख डाला —'कौटिल्य-कुठार।'[2]

विवाद के उपरान्त भी बहुत वर्षों तक द्विवेदी जी ने सभा के घेरे में, लोगों के आग्रह करने पर भी, पदार्पण नहीं किया।[3] बहुतदिन बीत जाने पर श्यामसुन्दरदास ने पत्र लिखकर क्षमाप्रार्थना की और अपने अपराधों का मार्जन कराया।[4] बलवान् समय ने लोगों का मनोमालिन्य दूर कर दिया। जब द्विवेदी जी १९३१ ई० की जनवरी में काशी पधारे तब नागरी प्रचारिणी सभा ने उन्हें अभिनन्दन-पत्र दिया। कुछ दिन बाद शिवपूजन सहाय ने प्रस्ताव किया कि द्विवेदी जी की सत्तरवीं वर्षगांठ के शुभ अवसर पर उनके अभिनन्दनार्थ एक ग्रन्थ प्रकाशित किया जाय।[5]

---

१. यह प्रत्यालोचना काशी नागरी प्रचारिणी सभा के कलाभवन में रक्षित कतरनों में देखी जा सकती है।

२. काशी नागरी प्रचारिणी सभा के कलाभवन में रक्षित 'कौटिल्यकुठार', का अन्तिम अवच्छेद इस प्रकार है—

'''आपने अपने ही मुंह से अपने क्षत्रियत्व की घोषणा की है। यह बड़ी खुशी की बात है। इस वर्णाश्रमधर्म-हीन युग मे कौन ऐसा अधम होगा, जिसे यह सुनकर आनन्द न हो कि आप अपना धर्म समझते हैं। हम आप को क्षत्रियकुलावतंस मानकर रघु, दिलीप, दशरथ, युधिष्ठिर, हरिश्चन्द्र और कर्ण की याद दिलाते हैं, और बड़े ही नम्रभाव से प्रार्थना करते हैं, कि हमारे लेखों में कही गई मूल बातों का रघु की तरह उदारता-पूर्वक युधिष्ठिर की तरह धर्मज्ञता-पूर्वक और हरिश्चन्द्र की तरह सत्यतापूर्वक विचार करें, और देखें, कि ब्राह्मणों के साथ आपने कोई काम ऐसा तो नहीं किया, जो इन क्षत्रिय शिरोमणियों को स्वर्ग में खटके। जिन ब्राह्मणों के लिए क्षत्रियों का यह सिद्धान्त था कि "भारत हू पा परिय तिहारे" उन्हीं ब्राह्मणों को सभा मे निकालने की तजवीज़ में आप ने सहायता दी या नहीं ? उन्हीं ब्राह्मणों की किताब का मुकाबला करने में आपने दूने से कुछ ज़ियादह शब्दों को प्रायः तिगुना बताया या नहीं ? ब्राह्मणों की लिखी हुई पुस्तक उन्हीं को न दिखाना आपने न्याय्य समझा या नहीं ? उन्हीं ब्राह्मणों के द्वारा की हुई सभा की सेवापर ख़ाक डालकर आपने उनसे चिट्ठियों तक का महसूल वसूल करके सभा की आमदनी बढ़ाई या नहीं ? ..यदि आप को सचमुच ही पश्चात्ताप हो तो कहिए--पुनन्तु मा ब्राह्मणपादरेणवः। उस समय यदि आप के सारे अपराध सदा के लिए भुला कर क्षमापूर्वक आपका दृढ़ालिंगन न करें तो आप उस दिन से हमें ब्राह्मण न समझिए।

३. राय कृष्णदास को द्विवेदी जी का पत्र २.१२.१९१०, 'सरस्वती', भाग ५५, सं० ५, पृ० ४६६

४. द्विवेदी जी के पत्र, सं० १६३, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, कार्यालय।

५. द्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रन्थ, भूमिका, पृ०१।

फाल्गुन सं० १९९८ में सभा ने द्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रन्थ का प्रकाशन निश्चित करके अपनी गुणग्राहकता और हृदय की विशालता दिखलाई। सामग्री एकत्र की गई इंडियन प्रेस ने ग्रन्थ को निःशुल्क छापकर अपनी मैत्री और उदारता का परिचय दिया। वैशाख, शुक्ल ४, सं० १९९० को अभिनन्दनोत्सव सम्पन्न हुआ। अभिनन्दन के समय कुछ लोगों ने इस बात का भी प्रयत्न किया कि द्विवेदी जी काशी न जायँ और उत्सव असफल रहे। प्रत्येक विघ्न व्यर्थ सिद्ध हुआ। यहीं पर यह भी कह देना समीचीन होगा कि श्यामसुन्दर दास चाहते थे कि काशी विश्वविद्यालय द्विवेदी जी को डाक्टर की उपाधि दे। उत्सव के समय उन्होंने द्विवेदी जी से कहा कि आप अपना भाषण मालवीय जी की वक्तृता के पश्चात् पढ़िए। अनुशासन-पालक द्विवेदी जी ने बिगड़ कर कहा कि यह कार्यक्रम में नहीं है। रामनारायण मिश्र से ज्ञात हुआ कि द्विवेदी जी के वक्तव्य का प्रभाव मालवीय जी पर अच्छा नहीं पड़ा।[1] कदाचित् इसीलिए द्विवेदी जी को डाक्टर की उपाधि नहीं मिली।

अभिनन्दनोत्सव के समय द्विवेदी जी ने एक बन्द लिफाफा सभा को दिया था और आदेश किया था कि यह लिफाफा और पत्रों के कुछ बंडल मेरे देहावसान के उपरान्त खोले जायँ। सभा ने उनकी आज्ञा का पालन किया। द्विवेदी जी का स्वर्गवास होने पर लिफाफा और बंडल खोले गए। लिफाफे में दो सौ रुपए थे जो द्विवेदी जी के निर्देशानुसार सभा के छोटे नौकरों को पुरस्कार और वेतन के रूप में वितरित कर दिए गए।[2] द्विवेदी जी के पत्र सभा के कार्यालय में आज भी सुरक्षित हैं।

जिस सभा ने द्विवेदी-कृत आलोचनाओं की निन्दा की थी, 'सरस्वती' की जननी होकर भी जिसने उससे अपना सम्बन्ध तोड़ देने का कठोर आदेश किया था और अपनी पत्रिका में सरस्वती' की कविता को 'भद्दी' कहकर उसकी प्रतिकूल आलोचना की थी, उसी सभा ने अपने आलोचक, दोषदर्शक महावीर प्रसाद द्विवेदी के अभिनन्दन की आयोजना की और उसे सफलतापूर्वक सम्पन्न किया। साहित्य-देवता के एकान्त उपासक की यथोचित अर्चना करके उसने अपने को, द्विवेदी जी और हिन्दी-संसार को धन्य प्रमाणित किया। जिस द्विवेदी जी ने एक दिन नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्ट की भयंकर आलोचना की थी अपनी टेक निभाने के लिये 'अनुमोदन का अन्त' करके सभा और 'सरस्वती' का सम्बन्ध विच्छिन्न कर दिया था, सभा द्वारा दी गई चेतावनी, उसके पत्र और कोरे सिद्धान्त

१ श्यामसुन्दरदास की 'मेरी कहानी', 'सरस्वती', अगस्त, १९४१ ई०, पृ० १४९।

२ नौकरों के लिए दातव्य पुरस्कार पर ही द्विवेदी जी ने इतना प्रतिबन्ध लगाया था—यह बात विश्वसनीय नहीं जंचती।

की खिल्ली उड़ाने की थी, उसी द्विवेदी जी ने नागरी प्रचारिणी सभा को अपनी समस्त साहित्यिक सम्पत्ति का सच्चा उत्तराधिकारी समझा, अपना बृहत् पुस्तकालय, 'सरस्वती' की स्वीकृत-अस्वीकृत रचनाओं की हस्तलिखित मूल प्रतियां, समाचारपत्रों की साहित्यिक वादविवाद-सम्बन्धी कतरनें, पत्र आदि बहुत कुछ सामग्री सभा को दान करके अपना और सभा का गौरव बढ़ाया।

द्विवेदी जी और सभा के सम्बन्ध का इतिहास वस्तुतः द्विवेदी जी और श्यामसुन्दरदास–दो साहित्यिक महारथियों––के सम्बन्ध की कहानी है जिनके पारस्परिक प्रेमप्रदेश में ही नहीं संग्रामक्षेत्र में भी रस की धारा दृष्टिगत होती है। उनके संघर्ष की धारा असुन्दर प्रतीत होती हुई भी वास्तव में सुन्दर, पावन और कल्याणकारिणी है। उनके विवाद सामयिक थे, उनमें किसी भी प्रकार की नीचता या दुर्भाव नहीं था। इसके अकाट्य प्रमाण हैं—सभा द्वारा द्विवेदी जी का अभिनन्दन, सभा को दिया गया द्विवेदी जी का दान [1] और उसमें भी महत्त्वपूर्ण है इन दोनों का पत्र-व्यवहार। [2]

अभिनन्दनोत्सव में पठित आत्मनिवेदन को द्विवेदी जी ने कई खंडों में विभाजित किया था। एक खंड का शीर्षक था 'मेरी रसीली पुस्तकें'। उसमें उन्होंने अपनी दो अप्रकाशित पुस्तकों–'तरुणोपदेश' और 'सोहागरात'–की चर्चा की थी। 'सोहागरात' के विषय में उन्होंने निवेदन किया था––"ऐसी पुस्तक जिसके प्रत्येक पद में रस की नदी नहीं तो बरसाती नाला ज़रूर बह रहा था। नाम भी मैंने ऐसा चुना जैसा कि उस समय उस रस के अधिष्ठाता को भी न सूझा था। ..आजकल तो वह नाम बाज़ारू हो रहा है और अपने अलौकिक आकर्षण के कारण निर्धनों को धनी और धनियों को धनाधीश बना रहा है। ··· अपने बूढ़े मुँह के भीतर धंसी हुई ज़बान से आप के सामने उस नाम का उल्लेख करते हुए मुझे बड़ी लज्जा मालूम होगी पर पापों का प्रायश्चित्त करने के लिए आप पंचसमाजरूपी परमेश्वर के सामने शुद्ध हृदय से उसका निर्देश करना ही पड़ेगा। अच्छा तो उसका नाम था या है––'सोहागरात'।"

द्विवेदी जी की धर्मपत्नी ने उन पुस्तकों को अश्लील समझ कर छपने नहीं दिया। उनकी मृत्यु के उपरान्त भी उन्हें प्रकाशित करने में द्विवेदी जी ने अपना और साहित्य का कलंक समझा––"मेरी पत्नी ने तो मुझे साहित्य के उस पंकपयोधि में डूबने से बचा लिया आप भी मेरे उस दुष्कृत्य को क्षमा कर दें, तो बड़ी कृपा हो।"

---

१. द्विवेदी जी के दान की पूर्ण सूची परिशिष्ट संख्या १ में दी गई है।

२. काशी नागरी प्रचारिणी सभा के कार्यालय में संचित पत्र, सं० ७१६ से ४२४ तक

'सोहागरात या बहूरानी को सीख' के रचयिता कृष्णकान्त मालवीय के मित्रों ने उन्हें सुझाया कि अपने निवेदन में द्विवेदी जी ने आप पर आक्षेप किया है। अभिनन्द-नोत्सव के समय द्विवेदी जी ने पं० मदनमोहन मालवीय को बोलने का समय नहीं दिया था। सम्भवतः इस कारण भी कृष्णकान्त मालवीय द्विवेदी जी से असन्तुष्ट थे। उन्होंने ११ जून. १९३३ ई० के 'भारत' में 'मेरी रसीली पुस्तकें' लेख लिखा जिसमें द्विवेदी जी की उक्तियों का खंडन किया-"···द्विवेदी जी की इन बातो को पढ़कर विद्वानों की दृष्टि में हिन्दी के विद्वानों का मान कम होगा, वे कहेंगे कि ये कहा पड़े हुये हैं। सेक्स के साहित्य को ये पाप और पंकपयोधि समझते हैं।···द्विवेदी जी इस अवसर पर यह सब कहकर जब कि चारों ओर से विद्वानों की दृष्टि उनकी ओर फिरी हुई थी, हिन्दी-साहित्यसेवियों की हंसी न कराते, उन्हें कूपमंडूक न सिद्ध करते तो अच्छा था। हिन्दी वाले जिन्हें आचार्य कहकर पूजते हैं, उसके विचार ये हैं, यह जानकर संसार क्या कहेगा ?"

मालवीयजी का यह आक्षेप अतिरंजित और असंगत था। अपनी 'सोहागरात' के प्रति द्विवेदी जी को किसी भी प्रकार की दृढ़ीभूत धारणा रखने का अधिकार था। और उनकी पुस्तक को देखे या उसके विषय में ज्ञान प्राप्त किए बिना उसकी आलोचना करना मालवीय जी की अनधिकार चेष्टा थी। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि यदि उनकी 'सोहागरात' प्रकाशित हो जाती तो वे साहित्य के पंकपयोधि में डूब जाते। यदि मालवीय जी उनकी पुस्तक देख लिए होते तो इस प्रकार की लोचनहीन आलोचना कदापि न करते।

द्विवेदीजी ने ईंट का जवाब पत्थर से दिया। २४,२५ जून, ३३ ई० के 'भारत' में उन्होंने 'क्षमाप्रार्थना' प्रकाशित की जो आद्योपान्त व्यंग्योक्तियों और व्यक्तिगत आक्षेपों से व्याप्त थी। 'सोहागरात या बहूरानी की सीख' के नामकरण, उसके लेखक के उद्देश्य आदि की आलोचना तीखी अतएव अप्रिय, किन्तु सत्य थी। बारम्बार क्षमाप्रार्थना करके अपने को मूर्ख और मालवीय जी को विद्वान्, अपने को टकापंथी और उनको त्यागशील आदि कहकर उन्हें लज्जित करने का अमोघ प्रयास किया। २.७.३३ई० के 'भारत' में मालवीय जी ने 'क्षमाप्रार्थना का वितंडावाद, प्रकाशित किया। उस प्रत्युत्तर में उन्होंने द्विवेदी जी के क्षमाप्रार्थना के ढंग की उचित आलोचना करके अन्त में निवेदन किया—" मैंने जो कुछ लिखा उसके लिए मैं आप से विनीतभाव से क्षमा मागता हूँ। ···आशा है आप उदारता से विचार करेंगे और यह सब लिखने के लिए मुझे क्षमा कर देंगे अब इस सम्बन्ध में मैं कुछ लिखूंगा भी नहीं।"

द्विवेदी जी ने उनकी प्रार्थना मौनभाव से स्वीकार कर ली।

द्विवेदी जी के साहित्य-सम्मेलन-सम्बन्धी पत्र-व्यवहार से सिद्ध है कि लोगों के बारम्बार आग्रह करने पर भी उन्होंने सम्मेलन का सभापतित्व स्वीकृत नहीं किया।[1] उनके निवेदन को अस्वीकृत करते हुए द्विवेदी जी तारों के पेटेन्ट उत्तर दिया करते थे— अस्वस्थता के कारण स्वीकार करने में असमर्थ हूँ। क्या सम्मेलन के लिए द्विवेदी जी सर्वदा ही अस्वस्थ रहे ? जो व्यक्ति अस्वस्थ रहकर भी असाधारण और घोर परिश्रम द्वारा 'सरस्वती' का इतना सुन्दर सम्पादन कर सकता था, क्या वह सम्मेलन के सभापतित्व के लिए अपना कुछ समय और शक्ति नहीं दे सकता था ? उनका स्वास्थ्य ठीक नहीं था, 'सरस्वती' का कार्य ही उनकी शक्ति से अधिक था, आदि कारण यदि निराधार नहीं तो गौण अवश्य थे। उनके पत्र की निम्नांकित रूपरेखा ध्यान देने योग्य है—

"......मेरे सिवा किसी अन्य व्यक्ति के आसीन होने से सभापति के आसन का यथेष्ट गौरव न होगा—इत्यादि आपकी उक्तियां भ्रमजात नहीं तो कौतूहलवर्द्धक अवश्य हैं। यदि मैं भूलता नहीं तो कलकत्ते में पहले भी सम्मेलन हो चुका है और उस सम्मेलनका अधिपति कोई और ही था पर न तो कलकत्ते में हिन्दीप्रेमी निराश ही हुए, न हिन्दी साहित्य की लाज ही गई और न बंगला के विद्वानों की दृष्टि में सम्मेलन के सभापति के पद का गौरव कम हुआ। अपनी इस धारणा के प्रतिकूल मुझे तो किसी का कोई लेख या किसी का कोई वक्तव्य पढ़ने या सुनने को नहीं मिला। मुझे तो सब तरफ से सफलता ही सफलता के समाचार मिले। अतएव आप का भय निर्मूल जान पड़ता है।...स्वागतकारिणी सभा खुशी से किसी अन्य व्यक्ति को सभापति वरण करे।

सम्मेलन के सभापति का पद प्राप्त कराने के लिए अपने मनोनीत सज्जनों के पक्षपातियों में, गत वर्ष तक, परस्पर व्यंग्यवचनों की बौछार, अशिष्टाचार, आक्षेप-प्रक्षेप और यदाकदा गाली गलौज तक होता आया है। ईश्वर ने बड़ी कृपा की जो मेरा नैरोग्य नाश करके मुझे ऐसे पद की प्राप्ति के योग्य ही न रक्खा।

विनेय

महावीर प्रसाद द्विवेदी"[2]

इस पत्र के अन्तिम दो वाक्य विशेष महत्व के हैं। उनसे स्पष्ट प्रमाणित है कि सम्मेलन

---

१. क. नागरी प्रचारिणी सभा के कलाभवन में रक्षित पत्र-व्यवहार का बंडल।
ख. द्विवेदी जी के पत्र और अनेक पत्रों की रूप-रेखाएँ,
" " " संख्या, ३७. ३९. ७७, आदि, ना० प्र० सभा कार्यालय काशी।

२. द्विवेदी जी के पत्र की रूप-रेखा, १०. २. २१ ई०, सम्मेलन-सम्बन्धी पत्र-व्यवहार, कलाभवन, काशी नागरी प्रचारिणी सभा।

के उपर्युक्त दूषित वातावरण के प्रति द्विवेदी जी के मन में अत्यन्त घृणा थी। वे इस प्रकार के विडम्बनापूर्ण बाजारू जीवन और उसकी धुक्काफजीहत से दूर रहकर ही एकान्त भाव से साहित्यसेवा करना चाहते थे।

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का तेरहवां अधिवेशन कानपुर में होने वाला था। द्विवेदी जी सार्वजनिक भीड़भक्कड़ और सभा-समाजों से विरक्त जीव थे। उन्हें साहित्य-सम्मेलन के जनसम्मर्द में खींच लाना सहज न था। स्वागतकारिणी समिति का अध्यक्ष बनाने के विचार से लक्ष्मीधर वाजपेयी आदि उन्हें मनाने गए। यद्यपि 'आर्यमित्र' के सम्पादक वाजपेयीजी ने आर्यसमाज की ओर से द्विवेदी जी के विरुद्ध बहुत कुछ लिखा और छापा था तथापि उदार-हृदय द्विवेदी जी ने इस पर कोई ध्यान नहीं दिया। उन लोगों के विशेष आग्रह पर किसी प्रकार अनुमति दे दी।[1]

३० मार्च, १९३३ ई० को उन्होंने स्वागताध्यक्ष-पद से अपना भाषण पढ़ा। शैली की दृष्टि से उनका यह भाषण उनकी समस्त रचनाओं में अपना निजी स्थान रखता है जिसके समकक्ष उनका कोई अन्य लेख या भाषण नहीं आ सका है। उनकी भाषा और शैली का आदर्श इसी में है। आरम्भ में उपचार और कानपुर की स्थिति के सम्बन्ध में कुछ शब्द कहने के अनन्तर उन्होंने हिन्दी भाषा और साहित्य की सभी प्रधान आवश्यकताओं और उनकी पूर्ति के उपायों की ओर हिन्दी-जगत का ध्यान आकृष्ट किया।

साहित्य-सम्मेलन के सदस्यों में बहुत दिनों से द्विवेदी जी का अभिनन्दन करने की चर्चा चल रही थी। श्रीनाथ सिंह ने प्रस्ताव किया कि प्रयाग में एक साहित्यिक मेले का आयोजन करके उसमें द्विवेदीजी का अभिनन्दन किया जाय।[2] श्री चन्द्र शेखर और कन्हैयालाल जी ऐडवोकेट ने उसका समर्थन किया।[3] सन् १९३२ ई० की ४ सितम्बर की बैठक में गोपाल शरण सिंह, कन्हैयालाल, धीरेन्द्र वर्मा, रामप्रसाद त्रिपाठी आदि ने मेले का निश्चय किया।[4] द्विवेदी जी ने अपनी राय मेले के विरुद्ध दी।[5] इसका समाचार सुनकर उन्हें कष्ट भी हुआ।[6] इस मेले को उन्होंने अपना उपहास समझा और रोकने की आज्ञा दी।[7] बहुत वादविवाद और

---

१. 'सरस्वती', भाग ४०, संख्या २, पृष्ठ १५० ।
२. 'भारत', ११. ८. ३२ ई० ।
३. साप्ताहिक 'प्रताप', २८. ८. ३२ ई० और 'लीडर', ८. ९. ३२ ई० ।
४. 'प्रताप', ९ ९. ३२ ई० ।
५ दौलतपुर में रक्षित देवीदत्त शुक्ल का पत्र, २०. १०. ३२ ई० ।
६. दौलतपुर में रक्षित श्रीनाथ सिंह का पत्र, २८. १०. ३२ ई० ।
७ दौलतपुर में रक्षित कन्हैयालाल का पत्र, ३०. १०. ३२ ई० ।

लिखा-पढ़ी के पश्चात् उन्होंने अपनी सम्मति दे दी [१]।

४.५.६. मई, १९३३ ई० को मेले का उत्सव मनाया गया । पं० मदनमोहन मालवीय ने उद्घाटन और डा० गंगानाथ झा ने सभापतित्व किया । सी० वाई० चिन्तामणि, जस्टिस उमाशंकर वाजपेयी आदि महान व्यक्ति भी मंच पर विराजमान थे । अपने भाषण में डा० झा ने द्विवेदी जी को अवरुद्ध कंठ मे अपना गुरु स्वीकार किया और उनका चरण-स्पर्श करने के लिए झुक पड़े । द्विवेदी जी झट कुर्सी छोड़कर अलग जा खड़े हुए । समस्त जनता इस दृश्य को मंत्रमुग्ध की भाँति देखती रही । आवेग शान्त होने पर द्विवेदी जी ने कहा—"भाइयो, जिस समय डाक्टर गंगानाथ झा मेरी ओर बढ़े, मैने सोचा, यदि पृथ्वी फट जाती और मै उसमे समा जाता तो अच्छा होता ।"[२]

पश्चिमीय देशो के लिए यह मेला कोई नूतन वस्तु भले ही न हो परन्तु हिन्दी-संसार के लिए तो यह निराला दृश्य था । हिन्दी-प्रेमियों ने तो इस मेले का आयोजन किया था अपने साहित्य के अनन्य पुजारी द्विवेदी जी की पूजा करने के लिए परन्तु अपने वक्तव्य में द्विवेदी जी ने इसका कुछ और ही कारण बतलाया—"आप ने कहा होगा—बूढ़ा है, कल्पद्रुम है, आधि-व्याधियो से व्यथित है, निःसहाय है, सुतदार और बन्धु-बान्धवों से रहित होने के कारण निराश्रय है । लाओ, इसे अपना आश्रित बना लें । अपने प्रेम, अपनी दया और अपनी सहानुभूति के सूचक इस मेले के साथ इसके नाम का योग करके इसे कुछ सान्त्वना देने का प्रयत्न करें, जिसमे इसे मालूम होने लगे कि मेरी भी हितचिन्तना करने वाले और शान्तिदान का सन्देश सुनाने वाले सज्जन मौजूद हैं" ।[३] द्विवेदी जी अपनी शालीनता और ऋजुता की रक्षा के लिए चाहे जो कुछ कहें, द्विवेदी-मेले के प्रबन्धकों ने इस अभूतपूर्व योजना द्वारा अपने साहित्य-प्रेम का परिचय देकर हिन्दी का मस्तक ऊंचा किया ।

कवि- सम्मेलन के अवसर पर 'कुछ छिछोरे छोकरों"[४] के विघ्न करने पर भी मेले की सफलता में कोई अन्तर नहीं पड़ा । द्विवेदी जी के आदेशानुसार 'मातृभाषा की महत्ता' विषय पर एक निबन्ध-प्रतियोगिता की गई और उनका प्रदत्त सौ रुपए का पुरस्कार १ मई, ३४ ई०. को सैयद अमीर अली मीर को प्रदान किया गया ।[५]

---

१. क. दौलतपुर में रक्षित कन्हैयालाल का पत्र ६. ११. ३२ ई० ।
   ख. मेले के समय द्विवेदी जी का भाषण, पृष्ठ ८ ।

२. 'सरस्वती', भाग ४०, संख्या २, पृष्ठ १६४ ।

३. मेले के अवसर पर द्विवेदी जी का भाषण, पृ० ८ ।

४. 'भारत', १ ६. ३३ ई० ।

५. 'भारत', १६. ५. ३४ ई० ।

अपने शिमला अधिवेशन में हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन ने द्विवेदी जी को 'साहित्य-वाचस्पति' की उपाधि दी।[1]

पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी की साहित्यिक कृतियां अधोलिखित हैं—

पद्य:

अनूदित

१. विनय-विनोद—रचनाकाल १८८९ ई०, भर्तृहरि के 'वैराग्यशतक' का दोहों में अनुवाद।

२. विहार-वाटिका—१८९० ई०, संस्कृत वृत्तों में जयदेव के 'गीतगोविन्द' का संक्षिप्त भावानुवाद।

३. स्नेहमाला—१८९० ई०, भर्तृहरि के 'शृंगारशतक' का दोहों में अनुवाद।

४. श्रीमहिम्नस्तोत्र—१८८५ ई० में अनूदित किन्तु १८९१ ई० में प्रकाशित, संस्कृत के 'महिम्नस्तोत्रम्' का संस्कृत वृत्तों में सटीक हिन्दी अनुवाद।

५. गंगालहरी—१८९१ ई०, पंडितराज जगन्नाथ की 'गंगालहरी' का सवैयों में अनुवाद।

६. ऋतुतरंगिणी—१८९१ ई०, कालिदास के 'ऋतुसंहार' की छाया लेकर 'देवनागरी-छन्दों में षड्ऋतु वर्णन'।

उपर्युक्त कृतियों की द्विवेदी-लिखित भूमिकाओं से सिद्ध है कि उन्होंने मूल संस्कृत रचनाओं की काव्यमाधुरी का आस्वाद कराने और हिन्दी में संस्कृत वृत्तों का प्रचार कराने के लिए ही ये अनुवाद प्रस्तुत किए।

७. सोहागरात—(अप्रकाशित) १९०० ई०, अंग्रेज कवि बाइरन के "ब्राइडल नाइट" का छायानुवाद।

८. कुमारसम्भवसार—१९०२ ई०, कालिदास के 'कुमारसम्भवम्' के प्रथम पांच सर्गों का पद्यात्मक सारांश। खड़ीबोली पद्य में कालिदास के भावों की व्यंजना का आदर्श उपस्थित करने के लिए ही द्विवेदी जी ने इस अनुवाद-पुस्तक की रचना की थी।

मौलिक

१. देवी-स्तुति-शतक—१८९२ ई०, गद्यात्मक छन्दों में चंडी की स्तुति।

२. कान्यकुब्जलीलामृतम्—१८९८ ई०, कान्यकुब्ज-समाज पर तीखा व्यंग्य।

३ समाचारपत्रसम्पादकस्तवः—१८९८ ई०, सम्पादकों पर आक्षेप।

४ नागरी—१९०० ई०, नागरी-विषयक चार कविताओं का संग्रह।

---

१. साहित्य सम्मेलन का पत्र, मिती सौर १, ५, १९१२, दौलतपुर में रक्षित।

५. काव्यमंजूषा—१६०३ ई०, १८६७ ई० से १६०२ ई० तक रचित संस्कृत और हिन्दी की मौलिक फुटकल कविताओं का संग्रह ।

६. कान्यकुब्ज-अबला-विलाप—१६०७ ई०, कान्यकुब्ज-समाज की विवाह-सम्बन्धी कुप्रथाओं पर आक्षेप ।

७. सुमन—१६२३ ई०, 'काव्यमंजूषा' का संशोधित संस्करण ।

८. द्विवेदी-काव्यमाला—१६४० ई०, द्विवेदी जी की उपर्युक्त रचनाओं और प्रायः अन्य समस्त कविताओं का संग्रह ।

६ कविता-कलाप—१६०६ ई०, द्विवेदी जी द्वारा सम्पादित, महावीरप्रसाद द्विवेदी, राय देवी प्रसाद पूर्ण, नाथूराम 'शंकर', कामता प्रसाद गुरु और मैथिली शरण गुप्त की कविताओं का प्रायः सचित्र संग्रह ।

गद्य

अनूदित

१. भामिनी-विलास—१८६१ ई०, संस्कृत-कवि पंडितराज जगन्नाथ की संस्कृत पुस्तक 'भामिनी-विलास' का समूल अनुवाद । यह द्विवेदी जी की प्रारंभिक गद्यभाषा का एक सुन्दर उदाहरण है ।

२ अमृत-लहरी—१८६६ ई०, उक्त पंडितराज के 'यमुनास्तोत्र' का समूल भावानुवाद ।

'भामिनी-विलास 'और' अमृत-लहरी' की भूमिकाओं से स्पष्ट है कि द्विवेदी जी ने केवल हिन्दी जानने वालो को मूल संस्कृत रचनाओ की सरस वाणी की आनन्दानुभूति कराने के लिए ही ये अनुवाद किए । सौन्दर्य की दृष्टि से इन कृतियो का कोई महत्त्व नहीं है किंतु द्विवेदी जी की भाषा के विकास का अध्ययन करने में ये विशेष उपयोगी हैं । आज व्याकरण की दृष्टि से असंगत कही जाने वाली तत्कालीन अनेक व्यापक प्रवृत्तियों का इन रचनाओ में दर्शन होता है ।

३ बेकन-विचार-रत्नावली—१८६६ ई० में लिखित और १६०१ ई० में प्रकाशित, अंग्रेजी के प्रसिद्ध लेखक बेकन के निबन्धों का अनुवाद ।

बेकन के ५६ निबन्धों में से २३ को द्विवेदी जी ने यह कह कर छोड़ दिया है कि उनका विषय वस्तुतः ऐसा है जो एतद्देशीय जनों को तादृश रोचक नहीं है । उनका यह कथन युक्तियुक्त नहीं है । 'Of Ambition, Of Fame' आदि निबन्ध पर्याप्त सुंदर तथा उपयोगी हैं । और अनूदित होने चाहिएँ थे । पादटिप्पणी में दिए गए ऐतिहासिक नामों के संक्षिप्त विवरण और पुस्तकान्त में व्यक्तिवाचक नामो की सूची ने अनुवाद की उपयोगिता को और भी बढ़ा

दिया है। बेकन के निबन्धों और संस्कृत के सुभाषित श्लोकों की एकवाक्यता दिखलाने के लिए प्रत्येक निबन्ध के शीर्ष पर एक या दो श्लोक भी उद्धृत किए गए हैं। इन श्लोकों में निबन्धों की भांति विचारात्मक सामग्री नहीं है, ये विचारों के निष्कर्षमात्र हैं।

४ शिक्षा—१९०६ ई०, प्रसिद्ध तत्ववेत्ता हर्बर्ट स्पेंसर की 'एज्यूकेशन' नामक पुस्तक का अनुवाद। उस समय समूचे देश में शिक्षा की दुर्दशा थी। मराठी, बंगला आदि में तो इस विषय पर ग्रन्थरचना हो रही थी किन्तु हिन्दी इससे वंचित थी। मौलिक रचनाओं की प्रतीक्षा न करके द्विवेदी जी ने अनुवाद के द्वारा ही इस अभाव की पूर्ति का प्रयास किया। इस ग्रन्थ में बुद्धि, शरीर और चरित्र की समंजस शिक्षा की विस्तृत विवेचना की गई है। ठीक ठीक अर्थग्रहण कराने के लिए अनुवादक द्विवेदी ने व्याख्या के बीच में ही व्यक्तिवाचक नामों का कुछ परिचय भी दे दिया है। उन्होंने जिन नामों को परिवर्तनीय समझा है उनके स्थान पर हिन्दी-भाषियों के परिचित भारतीय नामों का प्रयोग किया है। अपने विचारों की पुष्टि और प्रामाणिक अभिव्यक्ति करने के लिए आवश्यकतानुसार अपने पक्ष के प्राचीन तथा अर्वाचीन उदाहरणों की योजना की है। मूल लेख के गूढ़ भावों को उन्होंने 'अर्थात्' आदि के प्रयोगों द्वारा सविस्तार समझाने की चेष्टा की है। पारिभाषिक कठिन शब्दों को या तो निकाल दिया है या आवश्यकतानुसार उस अवच्छेद के आशय को मनमानी शब्दों द्वारा व्यक्त किया है।

५ स्वाधीनता—१९०७ ई०, जॉन स्टुअर्ट मिल के 'ऑन लिबर्टी' निबन्ध का अनुवाद इस ग्रन्थ में प्रस्तावना और मूल लेखक की जीवनी के पश्चात् विचार और विवेचना की स्वाधीनता, व्यक्तिविशेषता, व्यक्ति पर समाज के अधिकार की सीमा और इनके प्रयोग की समीक्षा है। मिल के दीर्घ जटिल और क्लिष्ट वाक्यों के स्थान पर द्विवेदी जी के वाक्य छोटे, सरल और सुबोध हैं। इस भावानुवाद की भाषा उर्दूमिश्रित हिन्दी और शैली वक्तृतात्मक तथा 'अर्थात्' आदि प्रयोगों से व्याप्त है।

६ जल चिकित्सा—१९०७ ई०, जर्मन लेखक लुई कोने की जर्मन पुस्तक के अंगरेजी अनुवाद का अनुवाद।

७ हिन्दी-महाभारत—१९०८ ई०, संस्कृत-'महाभारत' की कथा का हिन्दी रूपान्तर।

८. रघुवंश—१९१२ ई०, कालिदास के 'रघुवंश' महाकाव्य का हिन्दी गद्य में भावार्थबोधक अनुवाद

९ वेणी-संहार—१९१३ ई०, संस्कृत-कवि भट्टनारायण के 'वेणीसंहार' नाटक का आख्यायिका के रूप में अनुवाद।

१०. कुमार-सम्भव—१९१५ ई० कालिदास के 'कुमार-सम्भव' का गद्यात्मक अनुवाद।

११. मेघदूत—१६१७ ई०, कालिदास के 'मेघदूतम्' का गद्यात्मक अनुवाद ।
१२. किरातार्जुनीय—१६१७ ई०, भारवि के 'किरातार्जुनीयम्' का गद्यानुवाद ।

उपर्युक्त उत्तम और लोकप्रिय काव्यों के गद्यानुवाद का उद्देश था तिलिस्मी, जासूसी और ऐयारी आदि उपन्यासों के कुप्रभाव को रोकना और आख्यायिका-रूप में सुन्दर पठनीय सामग्री देकर हिन्दी पाठकों की पतनोन्मुख रुचि का परिष्कार करना। ये अनुवाद असंस्कृतज्ञ हिन्दी-पाठकों को कालिदास, भारवि, भट्टनारायण आदि महाकवियों की रचना, विचार-परम्परा और वर्णनवैचित्र्य के साथ ही साथ भारत की प्राचीन सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक व्यवस्था से भी परिचित करते हैं। ये मनोरंजक भी हैं और ज्ञानप्रद भी।

इनकी ऐतिहासिक एवं साहित्यिक विशिष्टता तथा महत्ता का ज्ञान तुलनात्मक समीक्षा द्वारा ही हो सकता है। जिस समय द्विवेदी जी ने 'रघुवंश' का अनुवाद किया था उस समय हिन्दी में उसके चार अनुवाद विद्यमान थे। लाला सीता राम तथा पंडित सरयू प्रसाद मिश्र के पद्यबद्ध और राजा लक्ष्मण सिंह एवं पंडित ज्वाला प्रसाद मिश्र के गद्यात्मक। ये अनुवाद भाषा और भाव सभी दृष्टियों से हीन थे।[1] किरातार्जुनीय का भाषान्तर करते समय द्विवेदी जी ने श्रीनारायण चितले एण्ड कम्पनी के मराठी, बाबू नवीन चन्द्र दास के बंगला, मेहरा हरिलाल नरसिंह राम व्यास के गुजराती और श्री गुरुनाथ विद्यानिधि भट्टाचार्य के बंगला-

१. उदाहरणार्थ—

कालिदास का मूल श्लोक था—

तौ स्नातकैर्बन्धुमता च राज्ञा
पुरन्ध्रिभिश्च क्रमशः प्रयुक्तम् ।
कन्याकुमारौ कनकासनस्था-
वार्द्राक्षतारोपणमन्वभूताम् ॥
'रघुवंश', ७. २८.।

राजा लक्ष्मणसिंह ने अनुवाद किया—

सोने के आसन पर बैठे हुए इन दूल्हा-दुलहिन ने स्नातकों का और बान्धवों सहित राजा का और पतिपुत्रवालियों का बारी बारी से आले धान बोना देखा।

ज्वालाप्रसाद ने अनुवाद किया—

सोने के सिंहासन पर बैठे हुए वह बर और बधू स्नातकों और कुटुम्बियों सहित राजा का तथा पति और पुत्र वालियों का क्रम क्रम से गीले धान बोना देखते हुए।

द्विवेदी जी का अनुवाद—

इसके अनन्तर सोने के सिंहासन पर बैठे हुए वर और वधू के सिर पर रोचनारंजित गीले अक्षत डाले गए। पहलेस्नातक गृहस्थों ने अक्षत डाले, फिर बन्धुबान्धवों सहित राजा ने, फिर पतिपुत्रवती पुरवासिनी स्त्रियों ने।

हिन्दी-अनुवादों का अवलोकन किया था। इस हिन्दी-अनुवाद की भी दशा अत्यन्त शोचनीय थी।[1]

द्विवेदी जी के इन अनुवादों की भाषा प्रांजल और बोधगम्य, शब्दस्थापना गौण तथा भाव ही प्रधान हैं। भावों की सुन्दर अभिव्यक्ति के लिए शब्दों के छोड़ने और जोड़ने में उन्होंने स्वच्छन्दता से काम लिया है। आबालवृद्धवनिता सबके पठनयोग्य बनाने के लिए विशेष शृंगारिक स्थलों का या तो परित्याग कर दिया है या परिवर्तित रूप में प्रकारान्तर से उल्लेख किया है।[2] विशिष्ट संस्कृत-पदावली के कारण चमत्कारपूर्ण श्लोकों के अनुवाद में मूल की सरसता की रक्षा नहीं हो सकी है।[3] भाषान्तर के इस असम्भव कार्य के लिए अनुवादक तनिक भी दोषी नहीं है। एकाध स्थलों पर द्विवेदी जी द्वारा किया गया अर्थ सुन्दर नहीं जंचता।[4] फिर भी ,इसके कारण, उनके अनुवादों की महत्ता और उपयोगिता में

---

१. यथा—

गोगण शेषरात्रि के विचरण स्थान से प्रत्यावर्तन करने वेग से भूपथ में दौड़ नहीं सकती थीं·········।

२. यथा—'प्रियानितम्बोचितसन्निवेशैः' (रघुवंश, ६, ७), दुर्योधन और भानुमती का विलास (वेणीसंहार, अंक २) आदि छोड़ दिए गए हैं।

३. यथा—ननोननुन्नो नुन्नोनो नाना नानानना ननु।
नुन्नो नुन्नो ननुन्नेनो नानेनो नुन्ननुन्ननुत् ॥ १५, १४।
देवाकानिनि कावादे वाहिकास्वस्वकाहि वा।
काकारे भभरे काका निस्वभव्यव्यभस्वनि ॥ १५, २५।
विकाशमीयुर्जगतीशमार्गणा विकाशमीयुर्जगतीशमार्जणाः।
विकाशमीयुर्जगतीशमार्गणा विकाशमीयुर्जगतीशमार्गणाः ॥ १५, ५२।

४. यथा—कालिदास की मूल पंक्ति थी—
हरिचक्रेण तेनास्य कंठे निष्कमिवार्पितम्।
कु० स०, सर्ग २।

द्विवेदी जी ने अर्थ किया—

"कंठ काट देना तो दूर रहा वह चक्र वहाँ पर वैसे ही कुछ देर चिपका रहा और तारक के कंठ का आभूषण बन गया।"

चक्रसुदर्शन का तारक के कंठ में चिपक कर निष्क (कंठहार) की भाँति आभूषण बनना सर्वथा असंभव और असंगत जंचता है। इसमें कोई सौंदर्य नहीं है। उपर्युक्त पंक्ति का अर्थ इस प्रकार होना चाहिए—

तारक के कंठ को काटने में असमर्थ चक्रसुदर्शन उसके कंठ के चारों ओर टकराता रहा। इस टक्कर से उत्पन्न चिनगारियों ने तारक के कंठ में चमकता हुआ हार-सा पहना दिया।

कालिदास के इसी भाव को सुस्पष्ट करते हुए माघ ने लिखा—

कोई अन्तर नहीं पड़ता।

१३. प्राचीन पंडित और कवि—१९१८ ई०, अन्य भाषाओं के लेखों के आधार पर भवभूति आदि प्राचीन कवियों और पंडितों का परिचय।

१४. आख्यायिका-सप्तक—१९२७ ई०, अन्य भाषाओं की आख्यायिकाओं की छाया लेकर लिखित सात आख्यायिकाओं का संग्रह।

मौलिक

१. तरुणोपदेश—१८९४ ई० अप्रकाशित-और दौलतपुर में रचित कामशास्त्र पर उपदेशात्मक ग्रन्थ।

२. हिन्दी शिक्षावली तृतीय भाग की समालोचना—१८९९ ई०।

३ नैषधचरितचर्चा—१९०० ई०, श्रीहर्षलिखित 'नैषधीयचरितम्' नामक संस्कृत-काव्य की परिचयात्मक आलोचना।

४ हिन्दी कालिदास की समालोचना—१९०१ ई०, लाला सीतारामकृत 'कुमारसम्भव भाषा, 'मेघदूत भाषा' और 'रघुवंश भाषा' की तीखी समालोचना।

५ वैज्ञानिक कोष—१९०१ ई०।

६. नाट्यशास्त्र—१९०३ ई० में लिखित किन्तु १९१० ई० में प्रकाशित पुस्तिका।

७. विक्रमाङ्कदेवचरितचर्चा—१९०७ ई०, संस्कृत-कवि बिल्हण के 'विक्रमाङ्कदेवचरितम्' की परिचयात्मक आलोचना।

८. हिन्दी भाषा की उत्पत्ति—१९०७ ई०।

९. सम्पत्तिशास्त्र—१९०७ ई०।

इस ग्रन्थ में द्विवेदी जी ने सम्पत्ति के स्वरूप, वृद्धि, विनिमय, वितरण और उपयोग एवं व्यावसायिक बातों, साख, बैंकिंग, बीमा, व्यापार, कर तथा देशान्तरगमन की विस्तृत व्याख्या और समीक्षा की है। अंग्रेजी, मराठी, बंगला, गुजराती और उर्दू के अनेक ग्रन्थों से सहायता लेने पर भी उन्होंने मौलिक ढंग से विषयविवेचन किया है। अतिविस्तार, क्लिष्टता और जटिलता के भय से उन्होंने सम्पत्तिशास्त्र-ज्ञाताओं के वादविवाद की समीक्षा नहीं की है और पश्चिमीय सिद्धान्तों को वहीं तक माना है जहाँ तक उन्हें भारतकेलिए लाभदायक समझा है। आज भी, हिन्दी-साहित्य के इतना आगे बढ़ जाने पर भी, द्विवेदी जी का 'सम्पत्तिशास्त्र' पूर्ववत् उपादेय और पठनीय है।

बृहच्छिलानिष्ठुरकंठघट्टनाद्विकीर्णलोलाग्निकणं सुरद्विषः।
जगत्प्रभोरप्रसहिष्णुवैष्णवं न चक्रमस्याक्रमताधिकन्धरम्॥ 'शिशुपालवध', सर्ग १।

१०. कौटिल्य-कुठार--१९०७ ई०, अप्रकाशित और काशी नागरी प्रचारिणी सभा के कलाभवन में रक्षित।

११. कालिदास की निरंकुशता--१९११ ई० में पुस्तकाकार प्रकाशित।

१२. हिन्दी की पहली किताब--१९११ ई०	बालोपयोगी तथा स्कूली रीडरें
१३. लोअर प्राइमरी रीडर	
१४. अपर प्राइमरी रीडर	
१५. शिक्षा-सरोज	
१६. बालबोध या वर्णबोध	
१७ जिला कानपुर का भूगोल	

१८. अवध के किसानों की बरबादी।

१९ बनिता-विलास--१९१८ ई०, 'सरस्वती' में समय समय पर प्रकाशित विदेशी और भारतीय नारियों के जीवन-चरितों का संग्रह।

२०. औद्योगिकी--१९२० ई०, 'सरस्वती' में प्रकाशित लेखों का संग्रह।

२१. रसज्ञरंजन--१९२० ई०, 'सरस्वती' में प्रकाशित साहित्यिक लेखों का संग्रह। इस संग्रह का दूसरा लेख श्रीयुत विद्यानाथ (कामता प्रसाद गुरु) का है।

२२. कालिदास और उनकी कविता--१९२० ई०, 'सरस्वती' में प्रकाशित लेखों का संग्रह।

२३. सुकवि-संकीर्तन--१९२२ ई०, 'सरस्वती' में प्रकाशित कवियों और विद्वानों के जीवन-चरित।

२४. तेरहवें हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन (कानपुर अधिवेशन) के स्वागताध्यक्ष-पद से भाषण, १९२३ ई०।

२५ अतीत-स्मृति--१९२३-२४ ई०, 'सरस्वती' में प्रकाशित लेखों का संग्रह।

२६. साहित्य-सन्दर्भ--१९२४ ई०, 'सरस्वती' में प्रकाशित लेखों का संग्रह।

२७. अद्भुत-आलाप-- ,, ,, ,, ,,

२८ महिला-मोद--१९२५ ई०, स्त्रियोपयोगी लेखों का संग्रह।

२९. आध्यात्मिकी--१९२६ ई०, 'सरस्वती' में प्रकाशित लेखों का संग्रह।

३०. वैचित्र्य-चित्रण-- ,, ,, ,, ,,

३१. साहित्यालाप-- ,, ,, ,, ,,

३२ विज्ञ-विनोद-- ,, ,, ,, ,,

३३. कोविद-कीर्तन--१९२७ ई०, 'सरस्वती' में प्रकाशित विद्वानों के संक्षिप्त जीवन-चरितों का संग्रह।

३४. विदेशी-विद्वान्--१९२७ ई०, 'सरस्वती' में प्रकाशित विद्वानों के संक्षिप्त जीवन चरितों

का संग्रह ।

३५. प्राचीन-चिन्ह—'सरस्वती' में प्रकाशित लेखों का संग्रह ।

३६. चरित-चर्या—१९२७ ई० 'सरस्वती' में प्रकाशित जीवनचरितों का संग्रह ।

३७. पुरावृत्त— ,, ,, ,, लेखों ,,

३८. दृश्य-दर्शन—१९२८ ई० ,, ,, ,, ,,

३९. आलोचनांजलि— ,, ,, ,, ,, ,,

४०. समालोचनासमुच्चय— ,, ,, ,, ,, ,,

४१. लेखांजलि— ,, ,, ,, ,, ,,

४२. चरित-चित्रण—१९२९ ई० ,, ,, जीवनचरितों ,,

४३. पुरातत्व प्रसंग— ,, ,, ,, लेखों ,,

४४. साहित्य-सीकर— ,, ,, ,, ,, ,,

४५. विज्ञानवार्ता—१९३० ई० ,, ,, ,, ,,

४६. वाग्विलास—१९३० ई०, 'सरस्वती' में प्रकाशित लेखों का संग्रह ।

४७. संकलन—१९३१ ई०, 'सरस्वती' में प्रकाशित लेखों का संग्रह ।

४८ विचार-विमर्श—१९३१ ई०, 'सरस्वती' में प्रकाशित लेखों और टिप्पणियों का संग्रह ।

४९ आत्म-निवेदन—१९३३ ई०, काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा किए गए अभिनन्दन के अवसर पर ।

५०. भाषण—१९३३ ई०, प्रयाग में आयोजित द्विवेदी मेले के अवसर पर ।

कुल रचनाएँ—८१[1]

---

१. द्विवेदी जी की रचनाओं की सूची प्रस्तुत करने में निम्नांकित सूचियों का विशेष ध्यान रखा गया है—

'हंस' के 'द्विवेदी-अभिनन्दनांक' में शिव पूजन सहाय ने द्विवेदी जी की रचनाओं की एक सूची प्रस्तुत की है। उसमें उन्होंने लिखा है कि मैंने अपनी और यज्ञदत्त शुक्ल बी० ए० की सूची मिलाकर द्विवेदी जी के पास भेजी थी और उसमें द्विवेदी जी ने यत्र तत्र संशोधन भी किया। शिव पूजन सहाय का एतत्सम्बन्धी पत्र (२७. ३. ३३ ई०) दौलत-पुर में रक्षित है वह संशोधित सूची 'हंस' के उपर्युक्त अंक में इस प्रकार दी गई है—

पद्य

१. देवी-स्तुति	२. विनय-विनोद
३. महिम्न-स्तोत्र	४. गंगा लहरी
५. स्नेह-माला	६. विहार-वाटिका
७. काव्य-मंजूषा	८. कुमार-सम्भव-सार

९. कविता-कलाप (संपादित)

१०. सुमन (काव्य-मंजूषा का संशोधित-संस्करण)

११. अमृत-लहरी—यमुना लहरी का अनुवाद।

गद्य

१. भामिनी-विलास
२. बेकन-विचार रत्नावली
३. हिन्दी कालिदास की समालोचना
४. हिन्दी शिक्षावली तृतीय भाग की समालोचना
५. अतीत-स्मृति
६. स्वाधीनता
७. शिक्षा
८. सम्पत्तिशास्त्र
९. नाट्यशास्त्र
१०. हिन्दी भाषा की उत्पत्ति
११. हिन्दी-महाभारत
१२. रघुवंश
१३. मेघदूत
१४. कुमारसंभव
१५. किरातार्जुनीय
१६. नैषधचरित चर्चा
१७. विक्रमाकदेवचरितचर्चा
१८. कालिदास की निरंकुशता
१९. आलोचनांजलि
२०. आख्यायिका-सप्तक
२१. कोविद-कीर्तन
२२ विदेशी-विद्वान
२३. जलचिकित्सा
२४. प्राचीन-चिन्ह
२५. चरित-चर्या
२६. पुरावृत्त
२७. लोअर प्राइमारी रीडर
२८ अपर प्राइमरी रीडर
२९. शिक्षा-सरोज रीडर ५ भाग
३०. बालबोध या वर्णबोध प्राइमर
३१. जिला कानपुर का भूगोल
३२ आध्यात्मिकी
३३. औद्योगिकी
३४. रसज्ञरंजन
३५. कालिदास
३६. वैचित्र्य-चित्रण
३७. विज्ञान-वार्ता
३८. चरितचित्रण
३९. विज्ञ-विनोद
४०. समालोचना-समुच्चय
४१ वाग्विलास
४२. साहित्य-सन्दर्भ
४३ वनिता-विलास
४४ महिला-मोद
४५. अद्भुत-आलाप
४६. सुकवि-संकीर्तन
४७. प्राचीन पंडित और कवि
४८. संकलन
४९. विचार विमर्श
५०. पुरातत्व-प्रसंग
५१. साहित्यालाप
५२ लेखांजलि

५३ साहित्य-सीकर　　　　५४. दृश्य-दर्शन

५५. अवध के किसानों की बरबादी　　　　५६. कानपुर के साहित्य-सम्मेलन में स्वागताध्यक्षपद से भाषण

५७. अभिनन्दन के समय आत्मनिवेदन

इस सूची में द्विवेदी जी की सभी अप्रकाशित तथा अनेक प्रकाशित रचनाएं छोड़ दी गई हैं। इसकी प्रामाणिकता इस बात में है कि इसमें परिगणित सभी कृतिया द्विवेदी जी की ही हैं।

दूसरी आलोच्य सूची प्रेम नारायण टंडन-कृत 'द्विवेदी-मीमांसा' की है—

१ विनय-विनोद　　　　२ विहार-वाटिका

३ स्नेहमाला　　　　४ ऋतु-तरंगिणी

५ गंगा-लहरी　　　　६ देवी-स्तुति-शतक

७ महिम्न-स्तोत्र　　　　८ कुमार-सम्भव-सार

९ काव्य-मंजूषा　　　　१० कविता-कलाप

११ सुमन　　　　१२ अमृत लहरी

१३ बेकन-विचार-रत्नावली　　　　१४ भामिनी-विलास

१५ नैषधचरितचर्चा　　　　१६ हिन्दी कालिदास की समालोचना

१७ हिन्दी शिक्षावली तृतीय भाग की समालोचना

१८ वैज्ञानिक कोष　　　　१९ नाट्यशास्त्र

२० जलचिकित्सा　　　　२१ शिक्षा

२२ स्वाधीनता　　　　२३ विक्रमांकदेवचरितचर्चा

२४ हिन्दी भाषा की उत्पत्ति　　　　२५ हिन्दी महाभारत

२६ संपत्तिशास्त्र　　　　२७ कालिदास की निरंकुशता

२८ रघुवंश　　　　२९ कुमारसंभव

३० मेघदूत　　　　३१ किरातार्जुनीय

३२ आलोचनाजंलि　　　　३३ आख्यायिका सप्तक

३४ कोविद-कीर्तन　　　　३५ विदेशी-विद्वान्

३६ प्राचीन-चिन्ह　　　　३७ चरित-चर्या

३८ पुरावृत्त　　　　३९ लोअर प्राइमरी रीडर

४० अपर प्राइमरी　　　　४१ शिक्षा-सरोज

४२ बालबोध या वर्णबोध　　　　४३ जिला कानपुर का भूगोल

४४ आध्यात्मिकी　　　　४५ औद्योगिकी

तीन अप्रकाशित पुस्तकें

१. तरुणोपदेश.

हिन्दी में अभी तक कोई ऐसी पुस्तक नहीं लिखी गई थी जो तरुणों को स्वास्थ्य, संयम और ब्रह्मचर्यपालन का मार्ग दिखाकर उन्हें अनिष्ट कृत्यों से बचा सके। १८९४ ई० में 'तरुणोपदेश' की रचना करके द्विवेदी जी ने इस अभाव की सुन्दर पूर्ति की। परन्तु 'रसीली' और 'अश्लील' समझी जाने के कारण यह पुस्तक छपी नहीं। २१० पृष्ठों की हस्तलिखित पुस्तक ४ अधिकरणों में विभाजित है। सामान्याधिकरण के ७ परिच्छेदों में तारुण्य, पुरुषों में क्या क्या स्त्रियों को प्रिय होता है, विवाहकाल, दाम्पत्यसंगम, इच्छानुकूल पुत्र अथवा कन्योत्पादन, अपत्यप्रतिबन्ध और सन्तान न होने के कारण, वीर्याधिकरण के तीन परिच्छेदों में वीर्यवर्णन, ब्रह्मचर्य की हानियाँ और अतिप्रसंग की हानिया, अनिष्टविदाधिकरण के चार परिच्छेदों में निषिद्ध मैथुन, हस्तमैथुन, वेश्यागमन-निषेध तथा मद्यप्राशन

---

४६ रसज्ञरंजन	४७ कालिदास
४८ वैचित्र्य-चित्रण	४६ विज्ञान-वार्ता
५० चरितचित्रण	५१ विज्ञ-विनोद
५२ समालोचना-समुच्चय	५३ वाग्विलास
५४ साहित्य-सन्दर्भ	५५ वनिता-विलास
५६ सुकवि-संकीर्तन	५७ प्राचीन पंडित और कवि
५८ संकलन	५६ विचार-विमर्श
६० पुरातत्व-प्रसंग	६१ साहित्यालाप
६२ लेखांजलि	६३ साहित्य-सीकर
६४ दृश्य-दर्शन	६५ अवध के किसानों की बरबादी
६६ वक्तृत्व कला	६७ आत्म-निवेदन
६८ वेणीसंहारनाटक	६६-७० स्पेन्सर की ज्ञेय और अज्ञेय मीमासायें

इस सूची में भी कुछ दोष समालोच्य हैं। लेखक ने द्विवेदी जी की किसी भी अप्रकाशित रचना का उल्लेख नहीं किया है। द्विवेदी जी की अनेक रचनाएं छोड़ दी गई हैं। कहीं कहीं रचना का नाम भी गलत दिया गया है, यथा 'वक्तृत्वकला' और 'कालिदास' इन दोनों के मुखपृष्ठ पर क्रमशः 'भाषण' और 'कालिदास और उनकी कविता' नाम दिए हुए हैं। स्पेंसर की ज्ञेय और अज्ञेय मीमासाओं के अनुवादक द्विवेदी जी नहीं हैं। उनके लेखक लाला कन्नोमल हैं।

इन दो सूचियों के अतिरिक्त काशी नागरी प्रचारिणी सभा, 'रूपाभ', 'साहित्यसन्देश' आदि में अनेक स्थलों पर द्विवेदी जी की रचनाओं की सूची दी गई है किन्तु वे सभी सर्वथा अपूर्ण और अनालोच्य हैं। इन अपूर्ण सूचियों ने भी पूर्ण सूची प्रस्तुत करने में बड़ी सहायता की है।

और रोगाधिकरण के चार परिच्छेदो में अनिच्छित वीर्यपात, मूत्राघात, उपदंश एवं नपुंसकत्व का विवेचन किया गया है। तरुणों के लिए ज्ञातव्य सभी बातों का बोधगम्य भाषा में प्रतिपादन हुआ है।

संस्कृत ग्रन्थों में स्त्रियों की वयःसन्धि पर तो बहुत कुछ है परन्तु पुरुषों पर अत्यल्प। प्रस्तुत ग्रन्थ में द्विवेदी जी ने पुरुषों के वर्णन मे 'नैषधचरित', 'सहृदयानन्द', विक्रमाकदेवचरित' आदि काव्यो से भी पर्याप्त उदाहरण दिए हैं। वात्स्यायन, डा० गंगादीन, डा० धन्वतरि आदि भारतीय एवं डा० फाउलर, डा० सिक्स्ट, राबर्ट डेल ओयन आदि पश्चिमीय विद्वानो के मतों को भी यथास्थान उद्धृत किया है। पूरे ग्रन्थ में आद्योपान्त ही अश्लीलता का नाम नहीं है। इस ग्रन्थ की भाषा और शैली द्विवेदी जी की आरम्भिक रचनाओं की-सी है।

२.सोहागरात.

अप्रकाशित 'सोहागरात' द्विवेदीजी की विशेष उल्लेखनीय अनूदित कृति है। यह अंगरेज कवि बाइरन की 'ब्राइडल नाइट' का छायानुवाद है। "पहले ही पहल पति के घर आई हुई एक बाला स्त्री का उसकी मैत्रिणी को पत्र है।" इस पचास पदों के पत्र में नव-विवाहिता शशी ने अपनी अविवाहिता सखी कलावती के प्रति सोहागरात मे की गई छः बार की रति का प्रस्तावनासहित आद्योपान्त सविस्तार वर्णन किया है। यह वही 'सोहागरात' है जिसकी चर्चा द्विवेदी जी ने अभिनन्दन के समय आत्मनिवेदन में की थी और जिसको लेकर कृष्णकान्त मालवीय ने निरर्थक और अनुचित विवाद उठाया था। यह रचना इतनी अश्लील है कि इसके उद्धरण देने मे अत्यन्त संकोच हो रहा है। और ऐसा करना द्विवेदी जी के प्रति अन्याय होगा। यह तो सच्चरित्र, संयमशील और आदर्श द्विवेदी जी की कृति ही नहीं प्रतीत होती। पुस्तकान्त मे द्विवेदी जी ने लिखा है--

देखो दो वेदो का पढनेवाला भी यह कहता है--
सुख भोगो, दुनिया मे आकर कौन बहुत दिन रहता है ?

३ कौटिल्यकुठार.

साहित्यिक संस्मरण के सन्दर्भ में प्रस्तुत ग्रन्थ की चर्चा भी हो चुकी है। इस ग्रंथ के आरम्भ में राय देवी प्रसाद द्वारा अंगरेजी में लिखी हुई एक संक्षिप्त भूमिका है। शेष पुस्तक तीन खंडों में विभक्त है—

क. सभा की सभ्यता
ख. वक्तव्य

ग, परिशिष्ट

द्विवेदी जी के चरित्र और उनकी शैली के अध्ययन की दृष्टि से यह रचना विशेष महत्व-पूर्ण है। स्थान स्थान पर द्विवेदी जी ने अपने क्रोध और उग्रता की अभिव्यक्ति की है। इस पुस्तक में उनकी वक्तृतात्मक और व्यंग्यात्मक शैलियां अपनी ओजस्विता की सीमा पर पहुँच गई हैं। 'भाषा और भाषासुधार' अध्याय में व्याख्यात इन शैलियों की सभी विशिष्टताएं इसमें व्याप्त हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ का अन्तिम अवच्छेद पृष्ठ ७१ पर उद्धृत किया जा चुका है।

चौथा अध्याय

कविता

"कविता करना आप लोग चाहे जैसा समझें हमें तो एक तरह दुस्साध्य ही जान पड़ता है। अज्ञता और अविवेक के कारण कुछ दिन हमने भी तुकबन्दी का आयास किया था। पर कुछ समझ आते ही हमने अपने को इस काम का अनधिकारी समझा। अतएव उस मार्ग से जाना ही प्रायः बन्द कर दिया।"[1]

द्विवेदी जी की उपर्युक्त उक्ति में शालीनोचित कोरी नम्रता ही नहीं सत्यता भी है। श्रेष्ठ काव्य की स्थायी प्रदर्शिनी में उनकी कविताओं का ऊंचा स्थान नहीं है। उनके निबन्धों को 'बातों के संग्रह' कहने वाले उनकी कविताओं को भी एक अंश की तुकबन्दी कह सकते हैं। द्विवेदी जी ने स्वयं भी उन्हें काव्य या कविता न कहकर तुकबन्दी या पद्य ही माना है।[2] परन्तु आधुनिक हिन्दी काव्य के इतिहास में उनकी कविताओं के लिए एक विशिष्ट पद

---

१. द्विवेदी जी की उक्ति, 'रसज्ञरंजन' पृ० २०।

२. 'सुमन' की भूमिकामें उसके प्रकाशन की चर्चा करतेहुए मैथिलीशरणगुप्त ने लिखा है—

"परन्तु स्वयं द्विवेदी जी महाराज इस ओर से उदासीन थे। जब मैंने इसके लिए उनसे प्रार्थना की तब उन्होंने इसे व्यर्थ का परिश्रम कहकर मुझे इस काम से विरत करना चाहा। गुरुजनों के साथ विवाद करना अनुचित समझ कर मैंने उनकी बात का विरोध न करके अपनी बात का अनुरोध बारम्बार किया। झूठ क्यों कहूँ, मन ही मन विरोध भी किया। द्विवेदी जी महाराज को कुछ भी जानने का सौभाग्य जिन्हें प्राप्त है उन्हें ज्ञात है कि वे कितने कृपालु और वत्सल हैं। इच्छा न रहने पर भी वे बालहठ को न टाल सके। मुझे किसी तरह आज्ञा मिल गई। परन्तु फिर भी एक प्रतिबन्ध लगा दिया गया। वह इस तरह—

मुझे अपने कोई पद्य पसंद नहीं।....आप की सलाह है, इससे चुनकर भेजता हूँ। नाम पुस्तक का आप ही रख दीजिए। नाम में पद्य हो, काव्य या कविता नहीं। नाम बिल्कुल ही महत्वहीनतासूचक होना चाहिए।....एक छोटी सी भूमिका आप ही लिख दीजिए। पद्यों की तारीफ में कुछ न कहिए।

ऐतिहासिक सत्य की उपेक्षा नहीं की जा सकती। हिन्दी में बोलचाल की भाषा का जो स्रोत उमड़ रहा है और कवितागत भाव में जो परिवर्तन दिखाई दे रहा है, उसका उद्गम और मार्गनिर्देश इन रचनाओं की उपेक्षा नहीं कर सकता। क्या यही एक कारण इनके प्रकाशित किए जाने के लिए पर्याप्त नहीं है?

मैथिलीशरण गुप्त"

'सुमन' की भूमिका।

सुरक्षित रहेगा—सौंदर्यमूलक आलोचना के आधार पर नहीं, किन्तु जीवनीमूलक और *ऐतिहासिक समीक्षा की दृष्टि से।*

निस्सन्देह द्विवेदी जी की कविता में वह काव्यसौन्दर्य नहीं है जिसके बल पर वे जयदेव, पंडितराज जगन्नाथ या मैथिली शरण गुप्त की भांति गर्व करते।[1] उनकी कविता में वह विशेषता भी नहीं है जो उन्हें कालिदास, तुलसी या हरिऔध की भाति विनम्र सिद्ध कर सके।[2] उन्हें अपनी कविता के सफल होने की आशा भी नहीं थी, अन्यथा वे भी भवभूति आदि की भांति अपने सन्देहसंकुल चित्त को किसी न किसी प्रकार अवश्य समझा लेते।[3]

क्षेमेन्द्र ने काव्यशास्त्र का अध्ययन करने वाले शिष्यों के जो तीन प्रकार 'कविकंठाभरण' में बताए हैं उसके अनुसार द्विवेदी जी अल्पप्रयत्नसाध्य और कृच्छ्रप्रयत्नसाध्य की मिश्रकोटि में रखे जा सकते हैं। उन्होने अपनी कविताओ की रचना कालिदास आदि की भाँति यश-प्राप्ति की लालसा से नहीं की।[4] उनमें धावक आदि प्राचीन एवं रेडियो और सिनेमा के

---

१. क. यदि हरिस्मरणे सरसं मनो यदि विलासकथासु कुतूहलम्
मधुरकोमलकान्तपदवलिं शृणु तदा जयदेवसरस्वतीम् ।।
जयदेव, 'गीतगोविन्द'।

ख. माधुर्यपरमसीमा सारस्वतजलधिमथनसम्भूता ।
पिबतामनल्पसुखदा वसुधायां मम सुधाकविता ॥
जगन्नाथ, 'भामिनीविलास'।

ग. ये प्रासाद रहें न रहें पर अमर तुम्हारा यह साकेत।
मैथिली शरण गुप्त, 'साकेत'।

कर्म-विपाक कंस की मारी दीन देवकी सी चिरकाल।
लो अबोध अन्त:पुरि मेरो अमर यही माई का लाल ॥
मैथिली शरण गुप्त, 'द्वापर'।

२. क. क्व सूर्यप्रभवो वंशः क्व चाल्पविषया मतिः।
तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम् ।। 'रघुवंश'।

ख. कवि न होउं नहि चतुर कहाऊं। या—'कवित विवेक एक नहिं मोरे।'
'रामचरितमानस'।

ग. मेरी मतिबीन तो मधुर ध्वनि पैहै कहां, एरी बीनवारी, जो न तेरी बीन बजिहै।'
'रसकलस'।

३. ये नाम केचिदिह न. प्रथयन्त्यवज्ञां, जानन्ति ते किमपि तान्प्रति नैष यत्नः।
उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोऽपि समानधर्मा, कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथिवी ॥
भवभूति, 'मालतीमाधव'।

४. क. मन्दः कवियशःप्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम्। 'रघुवंश'।

ख. मानस-भवन में आर्यजन जिसकी उतारें आरती।

भक्त अर्वाचीन कवियों की धनकामना भी न थी ।[१] और न उनकी काव्यनिबन्धना तुलसी आदि की भांति स्वान्तःसुखाय ही हुई थी। उनकी अधिकाश कविताओं का प्रयोजन है *'कान्तासम्मिततयोपदेश'* । अपने कवि-जीवन के आरम्भिक वर्षों में हिन्दी-पाठकों का संस्कृत की काव्यमाधुरी का आस्वाद कराने, संस्कृत के सुन्दर वर्णवृत्तो को हिन्दी में प्रचलित करने और अतिशृंगारिक काव्यो को सबके पढने योग्य बनाने के लिए उन्होंने संस्कृत के 'वैराग्य-शतक', 'गीतगोविंद', 'शृंगारशतक', 'महिम्नस्तोत्र', 'ऋतुसंहार' और 'गंगास्तवन', के छन्दोबद्ध अनुवाद किए। बाद की रचनाओं में सुधारक का स्वर विशेष प्रधान है। उनमें उनका उद्देश गद्य और पद्य की भाषा एक करके साहित्यसामग्री को समाजव्यापी बनाना रहा है। कवि द्विवेदी पर संस्कृत और मराठी का प्रभाव एवं खड़ी बोली तथा हिन्दू-संस्कृति के प्रति पक्षपात की प्रवृत्ति सर्वत्र ही स्पष्ट है।

द्विवेदी जी की काव्यकसौटी पर एकबार उनकी कविताओ को परख लेना सर्वथा समीचीन होगा। उन्होंने कविता की कोई मौलिक परिभाषा न देकर संस्कृतसाहित्य-शास्त्रियोके काव्यलक्षणो का निष्कर्ष मात्र निकाला है--

सुरम्यरूपे ! रसराशिरंजिते ! विचित्रवर्णाभरणे ! कहा गई ?
अलौकिकानन्दविधायिनी ! महाकवीन्द्रकान्ते ! कविते ! अहो कहा ?
सुरम्यता ही कमनीय कान्ति है अमूल्य आत्मा रस है मनोहरे ?
शरीर तेरा सब शब्दमात्र है, नितान्त निष्कर्ष यही यही, यही ॥[२]

उनके गद्यनिबन्ध-'कवि बनने के सापेक्ष साधन', कवि और कविता', 'कविता' आदि-भी उपर्युक्त लक्षण की पुष्टि करते है ।[३] कविता को कान्ता का उपमेय मानना संस्कृत के साहित्यकारो की परम्परागत साधारण बात है ।[४] संस्कृत के प्राचीन आचार्यों ने 'शरीर ताव-

---

भगवान, भारतवर्ष में गूंजे हमारो भारती ॥ 'भारत-भारती' ।

१. धावक

"धावकादीनामिव धनम्"

'काव्यप्रकाश', प्रथम उल्लास, दूसरी कारिका की वृत्ति ।

२. द्विवेदी-काव्यमाला, पृ० २९१ और २९५ ।

३. 'रसज्ञरंजन', पृ० २०, ३० और ५० ।

४. क. 'अनेन वागर्थविदामलंकृता विभाति नारीव विदग्धमंडला' ।

भामह, ३, ५७ ।

ख. यामिनीवेन्दुना मुक्ता नारीव रमणं विना ।
लक्ष्मीरिव ऋते त्यागान्नो वाणी भाति नीरसा ॥

रुद्रभट्ट, 'शृंगारतिलक' ।

इष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली'[१] आदि उक्तियों के द्वारा काव्य के शरीर का उल्लेख किया है। आनन्दवर्धन, अभिनव गुप्त, विश्वनाथ आदि ने बहुत पहले ही रस को काव्य की आत्मा स्वीकार किया था।[२] आनन्दवर्धन, पंडितराज जगन्नाथ आदि ने काव्यगत रम्यता को उसकी कांति माना है।[३] 'विविक्तवर्णाभरणासुखश्रुतिः'[४] आदि प्राचीन कथनों के आधार पर ही द्विवेदी जी ने अलंकृत वर्णों को कविताकान्ता का आभरण कहा है। अभिनव गुप्त, मम्मट, पंडितराज आदि ने अपने साहित्यग्रन्थों में रस की अलौकिकता की विवेचना की है।[५] द्विवेदी जी ने पंडितराज जगन्नाथ के काव्यलक्षण को ही सर्वमान्य घोषित किया है।[६]

रस की दृष्टि से द्विवेदी जी की कविताओं में काव्यसौंदर्य ढूंढ़ने का प्रयास निष्फल होगा। उनके 'विनयविनोद' में शान्त तथा 'विहारवाटिका', 'स्नेहमाला', 'कुमारसम्भवसार' और 'सोहागरात' में शृंगाररस की व्यंजना हुई है। इन अनुवादों की रसात्मकता का श्रेय मूल रचनाकारों को ही है। द्विवेदी जी की मौलिक रचनाओं में केवल 'बालविधवाविलाप' ही रसानुभूति कराने में समर्थ है। उसमें अंकित बालविधवा की कारुणिक दशा का चित्र निस्सन्देह मर्मस्पर्शी है--

उच्छिष्ट, रूक्ष, अरु नीरस अन्न खैहौं,
चांडालिनीव मुख बाहर मूँदि जैहौं।
गालिप्रदान निशिवासर नित्य पैहौं,
हा हन्त! दुःखमय जीवन यों बितैहौं॥
'रंडे! तुही अवसि मत्सुत लीन खाई'
त्वन्मातु नाथ! जब तर्जिह यों रिसाई।

य यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवांगनासु।
'ध्वन्यालोक', प्रथम उद्योत, चतुर्थ कारिका।

१. दंडी 'काव्यादर्श', १, ६।

२. क. 'ध्वन्यालोक', प्रथम उद्योत, कारिका ५ और उसी पर अभिनव गुप्त का लोचन।
ख. 'साहित्यदर्पण', प्रथम परिच्छेद, तीसरी कारिका।

३. क. 'ध्वन्यालोक', प्रथम उद्योत, चौथी कारिका।
ख. 'रसगंगाधर', प्रथम आनन, पृ० ४।

४. भारवि, 'किरातार्जुनीय'

५. 'काव्य-प्रकाश', पृ० २१ और 'रसगंगाधर', पृ० ४।

६. "'साहित्यदर्पण' के मत में 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' और सर्वमान्य 'रसगंगाधर' में 'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' इस प्रकार की व्याख्या की गई है।"
'हिन्दी कालिदास की समालोचना', पृ० ६७।

ह्वैहै इहै जब मदीय मताधिकाई,
पृथ्वी फटै त्वरित जाउँ तहाँ समाई ॥[1]

कविता कवि की प्रत्यक्ष अथवा स्मृतिजन्य अनुभूति का रमणीयार्थप्रतिपादक शब्दचित्र है। अपनी अनुभूति को पाठक की अनुभूति बना देने में ही कवि की सफलता है। काव्य का आनन्द लेने के लिए पाठक या श्रोता में सहृदयता और अध्ययन के विशेष भाव तथा स्वगतत्व एवं परगतत्व के विशेष अभाव की नितान्त आवश्यकता है। सौन्दर्य की दृष्टि से द्विवेदी जी की कविताओं को इतिवृत्तात्मकमात्र कहना हृदयहीनता है। उनकी सभी रचनाएं आद्योपान्त पढ़ जाइए, उनमें रति, करुणा, हास्य, निर्वेद, जुगुप्सा, क्रोध आदि भावों की विविधता है। इन विविध भावों के ऊपरी तल के नीचे एक अन्तःसलिला सरस्वती की धारा भी है—हिन्दी के प्रति उनका अमायिक और सात्विक पूजाभाव। यही उनकी कविताओं का स्थायी भाव है।[2] किसी भी कारण से सही, कवि को जहां कहीं से जो कुछ भी मिला है उसे उसने मातृभाषा के मन्दिर में श्रद्धा के साथ चढ़ा दिया है।

'समाचारपत्रसम्पादकस्तवः', नागरी तेरी यह दशा' आदि रचनाएँ हिन्दी को ही विषय मानकर लिखी गई हैं। अन्य विषयों पर लिखी गई 'आशा', 'विधिविडम्बना' आदि कविताओं में भी द्विवेदी जी का कवि हिन्दी को नहीं भूला है। 'आशा, का गौरवगान करने के पश्चात् अन्त मे उसने हिन्दी की राजाश्रयप्राप्ति की ही प्रार्थना की—

कछू प्रार्थना है हमारी सुनीजै.
जगद्धात्रि आशे ! कृपाकोर कीजै।
सबै देन को देवि ! सामर्थ्य तेरी,
यही धारणा है सविस्वास मेरी ॥
गुणग्राम की आगरी नागरी है,
प्रजा की जु सन्मानसोजागरी है।
मिलै ताहि राजाश्रयक्षेमकारी,
यही पूजियौ एक आशा हमारी ॥[3]

'विधिविडम्बना' में उसने विधाता की अन्य भूलों का निदर्शन करके अन्त में, अपनी हिन्दी-हितकामना के कारण ही, हिन्दी-साहित्य की दुर्दशा के प्रति विधाता की जघन्यतम अपटुता का निर्देश किया—

---

१. 'द्विवेदी-काव्यमाला', पृ० २१३, २१४।
२. यहां पर 'स्थायी' शब्द अपने शाब्दिक अर्थ में प्रयुक्त किया गया है।
३. द्विवेदी-काव्यमाला', पृ० २२२।

शुद्धाशुद्ध शब्द तक का है जिनको नहीं विचार,
लिखवाता है उनके करसे नए नए अखबार।[1]

और फिर मातृभाषाद्रोहियों की सृष्टि बन्द करने के लिए प्रार्थना की है —

विधे! मनोज्ञमातृभाषा के द्रोही पुरुष बनाना छोड़[2]

मातृभाषाभक्त कवि हिन्दी-हितैषियों के प्रति भी अपने आभार और प्रसन्नतासूचक मनोवेगों को व्यक्त किए बिना न रह सका—

तोसों कहौं कछु कवे! मम ओर जोवौ।
हिन्दी दरिद्र हरि तासु कलंक धोवौ।[3]

इस प्रकार की रचनाओं में काव्यकला का अभाव होने पर भी तत्कालीन संकटापन्न हिन्दी के पुजारी कवि के छलरहित हृदय की अमायिक और धार्मिक व्यञ्जना जीवनीमूलक आलोचना की दृष्टि से अपना निजी सौंदर्य रखती है।

'विनयविनोद', 'विहारवाटिका' आदि आरम्भिक अनुवादों में उन्होंने समर्थ साहित्य-सेवी बनने की तैयारी की है। संस्कृत के 'महिम्नस्तोत्र' और 'गंगास्तवन' के अनुपम काव्य का आस्वाद केवल हिन्दी जानने वालों को कराने के लिए उनके हिन्दी-अनुवाद किए।[4] 'ऋतुतरंगिणी' और 'देवीस्तुति-शतक' द्वारा संस्कृतयोग्य छन्दों में ही काव्यकथन करके देव-नागरी भाषा के काव्यों की पुस्तकमालिका में 'गणात्मक वृत्तों के अभाव की पूर्ति' करने का प्रयास किया।[5] हिन्दी कविता में कालिदास के भावों की अभिव्यक्ति का आदर्श उपस्थित करने के लिए 'कुमारसम्भव' का अंशानुवाद किया।[6] मौलिक रचनाओं में उनके सहृदय कविहृदय की व्यंजना अनेक स्थलों पर बड़ी ही मनोहर हुई है। निम्नांकित पंक्तियों में

---

१. 'द्विवेदी-काव्यमाला', पृ० २११।
२. ,, ,, ,, ,,
३. 'द्विवेदी-काव्यमाला', पृष्ठ २६२।
४. 'महिम्नस्तोत्र' और 'गङ्गालहरी' की भूमिका के आधार पर।
५. 'ऋतु-तरंगिणी' और 'देवीस्तुतिशतक' की भूमिका के आधार पर।
६. "हिन्दी कालिदास की समालोचना' लिखने के अनन्तर जब किसी ने उनसे ये व्यंग्यात्मक शब्द कहे कि भला आप ही कुछ लिखकर बतलाइए कि हिन्दी कविता में कालिदास के भाव कैसे प्रकट किए जांय तब नमूने के तौर पर द्विवेदी जी ने कुमारसंभव के आरम्भ के पांच सर्गों का अनुवाद कर 'कुमारसंभवसार' के नाम से प्रकाशित किया।"
—पण्डित देवीप्रसाद शुक्ल,
—'सरस्वती', भाग ४०, पृष्ठ २०३।

दुर्भिक्ष-पीड़ित जनों का करुणाकारक चित्र विशेष मर्मस्पर्शी है—

लोचन चले गए भीतर कहँ, कंटक सम कच छाए।
कर में खप्पर लिए अनेकन जीरण पट लपटाए।
मांसविहीन हाड़ की ढेरी, भीषण भेष बनाए,
मनहु प्रबल दुर्भिक्ष रूप बहु धरि विचरत सुख पाए॥
शक्ति नहीं जिनके बोलन की, तकि तकि मुँह फैलावैं,
सींक समान पैर लीन्हें बहु, रोवत गोबर खावैं।
गुठुली खान हेत बेरन की, ढूँढ़त सोउ न पावैं,
पग पग चलैं गिरैं पग पग पर, आरत नाद सुनावैं॥[1]

'कान्यकुब्ज-लीलामृतम्' का पहला ही पद पाखंडी कान्यकुब्ज ब्राह्मण की हृदयसंवादी रूपरेखा खींच देता है—

सदैवशुक्लारुणपीतवर्णपाटीरपंकावृतसर्वभाल !
आभूतलालम्बिदुकूलधारिन् ! हे कान्यकुब्जद्विज ! ते नमोस्तु॥[2]

'काककूजितम्' में दुष्टों के हृदय मे स्थित ईर्ष्या और निन्दाभाव की सुन्दर निबन्धना की गई है, यथा—

त्वं पंचमेन विरुतं विजहीहि नूनं
वक्तुं वसंतसमयेपि न तेधिकारः।
सम्प्रत्यहं दशसु दिक्षु सदा सहर्षं
तारस्वरेण मधुरेण रवं करिष्ये॥[3]

साहित्यमर्मज्ञों ने निर्विवादरूप से ध्वनि को श्रेष्ठकाव्य माना है। द्विवेदी जी की कविता में व्यंग्यार्थ की सुन्दरता भी कम नही है। 'कान्यकुब्जलीलामृतम्', 'ग्रन्थकारलक्षण' आदि में काक्वाक्षिप्त व्यंग्य की मनोहरता है, यथा—

इसी सम्बन्ध में 'सुदर्शन'-सम्पादक माधवप्रसाद मिश्र ने द्विवेदी जी को लिखा था—

"लाला सीताराम के आयुष्मान् को धन्य है जिसकी बात पर आपने अपनी प्रतिभा का निदर्शन तो दिखाया। पर इतने तर्जन गर्जन और आस्फालन का यही फल न हो कि आप इसे यों ही अधूरा छोड़ दें।"

—द्विवेदी जी के पत्र, संख्या ११८३, काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा का कार्यालय।

१. 'द्विवेदी-काव्यमाला', पृ० १७४।
२ ,, ,, ,, १८१।
३. ,, ,, ,, २८६।

अहो दयालुत्वमतः परं किं
यथेहितं यद्द्रविणं गृहीत्वा।
निन्द्यानपि त्वं विमलीकरोषि
तदीयकन्याकरपीडनेन ॥[1]

'गर्दभकाव्य', 'बलीवर्द', 'सरगौ नरक ठेकाना नाहिं', जम्बुकी न्याय', 'टेसू की टाँग' आदि में अन्योक्तियों या अप्रस्तुतविधानों के द्वारा प्रस्तुत विषय का हास्यमिश्रित व्यंग्यपूर्ण वर्णन है, उदाहरणार्थ—

हरी घास खुरखुरी लगै अति, भूसा लगै करारा है,
दाना भूलि पेट यदि पहुंचै काटै अस जस आरा है।
लच्छेदार चीथड़े, कूड़ा जिन्हें बुहारि निकारा है,
सोई सुनो सुजान शिरोमणि, मोहनभोग हमारा है ॥[2]

सदसद्विवेकहीनता के कारण सुन्दर रचनाओं का बहिष्कार और असुन्दर का स्वागत करने वाले सम्पादक का उपर्युक्त व्यंग्यशब्दचित्र बड़ी सफलता से अंकित किया गया है। गर्दभ में सम्पादक का आरोप करके लक्षणा के सहारे अभीष्ट भाव की मार्मिक अभिव्यक्ति की गई है। (हरी घास=सरस और सुन्दर रचनाएं, भूसा=नीरस रचनाएं, दाना=सारगर्भित लेख आदि, चीथड़े···=रद्दी रचनाएं मोहनभोग=ग्रहणीय प्रिय वस्तु)। आदरणीय और महान् अभ्यागत के मानापमान का ध्यान न करनेवाले अभिमानी पुरुष के उपमानरूप में बलीवर्द का स्वीकार भी सुन्दर हुआ है—

गज भी जो आवै तुम उसकी ओर न आंख उठाते हो,
लेटे कभी, कभी बैठे हो, कभी खड़े रह जाते हो।[3]

निम्नांकित पंक्तियों में शब्द और अर्थ दोनों का चमत्कार लोकोत्तर है —

इन कोकिलकंठी कामिनियों ने जो मधुर गीत गाये,
सुधासदृश कानों से पीकर वे मुझको अति ही भाये।
इनका यह गाली गाना भी चित में जब यों चुभ जाता,
यदि ये कहीं और कुछ गातीं बिना मोल मैं बिक जाता ॥[4]

---

१. द्विवेदी-काव्यमाला', पृ० १८२।
२. ,, ,, ,, २१६।
३. ,, ,, ,, २७५।
४ ,, ,, ,, ४२१।

'कोकिलकंठी कामिनियां', 'गीत गाये', 'सुधा-सदृश 'आदि में अनुप्रास का लालित्य है। 'सानन्द सुनकर' की व्यंजना के लिए 'कानों से पीकर' में प्रयुक्त प्रयोजनवती लक्षणा सुन्दर है! 'मधुर गीत' को 'सुधासदृश' मानकर कवि ने ठीक समय पर उपमा अलंकार का ग्रहण किया था और 'कानों से पीकर' में उचित समय पर उसका त्याग कर दिया। उसे दूर तक व्यर्थ ही खींचा नहीं। यदि वे नारियां गाली के बदले कवि के प्रति प्रणयनिवेदन के गीत गातीं तो वह आत्मसमर्पण कर देता। 'गाली गाना', 'चुभ जाता' तथा 'और कुछ' की ध्वनि ने पद के सौन्दर्य को और भी उत्कृष्ट बना दिया है।

उनकी कविता में कहीं अलंकार-विधान के सहारे काव्यसौंदर्य की सृष्टि की गई है, यथा—

> अभी मिलेगा ब्रजमंडलान्त का सुभुक्त भाषामय वस्त्र एक ही।
> शरीरसंगी करके उसे सदा, विराग होगा तुझको अवश्य ही॥
> इसीलिए ही भवभूतिभाविते! अभी यहां हे कविते! न आ, न आ॥
> बता तुही कौन कुलीन कामिनी सदा चहेगी पट एक ही वही॥[1]

वह खड़ीबोली का निर्माणकाल था। उसके पद्यों में कवित्व नहीं आ रहा था। ब्रज-भाषा के समर्थक इस बात को लेकर आलोचना की धूम बाँधे हुए थे। इस भाव की भूमिका में कवि ने उत्प्रेक्षालंकार की योजना की है। सुन्दर वेषभूषा में सहजप्रवृत्ति रखने वाली कुलीन कामिनी एक ही सुभुक्त वस्त्र पर जीवननिर्वाह नहीं कर सकती। कामिनी से कविता की उपमा परम्परागत होते हुए भी नवीन विशेषणों के कारण अधिक मनोहर हो गई है। कहीं मानव-हृदय की मर्मस्पर्शी अभिव्यक्ति ने कवित्व की सृष्टि की है, उदाहरणार्थ—

> हे भगवान! कहाँ सोये हो? विनती इतनी सुन लीजै,
> कामिनियों पर करुणा करके कमले? जरा जगा दीजै।
> कनवजियों में घोर अविद्या जो कुछ दिन से छाई है,
> दूर कीजिए उसे दयामय! दो सौ दफे दुहाई है॥[2]

नारी स्वभावतः कोमलता और करुणा की मूर्ति होती है। सजातीय के प्रति सहानुभूति रखना भी स्वाभाविक ही है। इसी कारण कामिनियों के कल्याणार्थ भगवान् को जगाने के लिए कवि ने कमला से प्रार्थना की है। कहीं हास्य का पुट देकर कवि-समय के सहारे रमणीय पंक्तियों की रचना की गई है, यथा—

---

१. 'द्विवेदी-काव्यमाला', पृ० २१४।
२. ,, ,, ,, ३२७।

ज़रा देर के लिए समझिए, आप षोडषी क़ारी हैं,
(क्षमा कीजिए असभ्यता को हम ग्रामीण अनारी हैं)।
मान लीजिए नयन आपके कानों तक बढ़ आये हैं,
पीन-पयोधर देख आपके कुञ्जर-कुंभ लजाये हैं ॥[1]

द्विवेदी जी की भाषा और भावव्यञ्जना के सात्विक और शिष्ट होने पर भी उनकी कविता में एकाध स्थलों पर ग्राम्यता और अश्लीलता का दोष आ ही गया है। अधोलिखित पद में वे अभिमानी व्यक्ति के मुखदर्शन की अपेक्षा वृषभ के अंडकोष का अवलोकन करना अधिक श्रेयस्कर समझते हैं—

मैं कुबेर, मैं ही सुरगुरु हूँ, मेरा ही सब कहीं प्रमाण,
यह घमण्ड रखने वालों का मुखदर्शन है पापनिधान।
तदपेक्षा हे वृषभ ! तुम्हारा पीवर अंडकोष समुदाय,
अवलोकन करना अच्छा है, सच कहते हैं भुजा उठाय ॥[2]

अपनी उन्नीसवीं शती की रचनाओं, विशेषकर 'विहार-वाटिका', 'स्नेहमाला' और 'ऋतुतरंगिणी' में ही द्विवेदी जी ने बरबस अलङ्कार-योजना की चेष्टा की है।[3] 'ऋतुतरंगिणी में तो आद्योपान्त ही शब्दालङ्कार ठूँस ठूँस कर भरे गए हैं। कहीं कहीं अलङ्कारसौंदर्य लाने के लिए भाव की निर्दयतापूर्वक हत्या कर दी गई है। भावाभिव्यञ्जन में असमर्थ यमकच्छटामयी पदावली का एक उदाहरण निम्नांकित है—

सुबिच कैरव कैरव राजहीं।
रुत सना रसना रस लाजहीं ॥
सुनत सारस सारस गान हीं
बधिक बान नवान न तानहीं ॥[4]

---

१. 'द्विवेदी-काव्यमाला', पृ० ४३८।
२. „ „ „ २७६।
३. उदाहरणार्थ—

सुधा बाहा थाहा सुथल अवगाहा हरि तबै।
प्रिया भाई लाई हियहि सुख पाई छकि जबै ॥
कही बामा श्यामा मुदित अभिरामा रस भरे।
गहौ बाँही नाहीं करि कि कर जाहीं कर करे ॥

'द्विवेदी-काव्यमाला', पृ० २२।

४. 'ऋतुतरङ्गिणी', 'द्विवेदी-काव्यमाला', पृ० ६३।

यदि पुस्तक की पादटिप्पणी में शब्दार्थ न दिया गया होता तो उपर्युक्त पंक्तियों में निहित कवि के अभिप्राय को अन्तर्यामी के अतिरिक्त और कोई न समझ पाता। यह अलङ्कारदोष उनकी प्रारंभिक हिन्दी-रचनाओं तक ही सीमित है। इस अलङ्कारप्रेम का कारण संस्कृत-कवियों, विशेष कर अश्वघाटीकार पंडितराज जगन्नाथ, और हिन्दी-कवि केशवदास का प्रभाव ही है। द्विवेदी जी की संस्कृत और खड़ीबोली की कविताओं में अनायास ही सन्निविष्ट उत्प्रेक्षा, अर्थान्तरन्यास, श्लेष, अनुप्रास आदि अलंकार अपने नाम को वस्तुतः सार्थक करते हैं, यथा--

क्व मामनादृत्य निशान्धकारः पलाय्य पापः किल यास्यतीति।
ज्वलन्निवक्रोधभरेण भानुरंगाररूपः सहसाविरासीत् ॥[1]

अन्धकार ने सूर्य का कभी अपमान नहीं किया, वह कभी भागा नहीं और सूर्य उसके प्रति क्रोध से कभी जला नहीं। फिर भी हेतूत्प्रेक्षा के सहारे कवि ने विलीन होते हुए अन्धकार और प्रभातकालीन रक्तिम सूर्य का रमणीयार्थप्रदिपादक चित्रांकन किया है। ज्यों ज्यों चन्द्रमा की छाया बढ़ती जा रही थी त्यों त्यों सूर्य का तेज मन्द पड़ता जा रहा था। इस दृश्य को लेकर द्विवेदी जी ने निम्नांकित पद में सुन्दर अर्थान्तरन्यास किया है--

छायां करोति वियति स्म यदा यदेन्दुः,
श्यामप्रभां वितनुते स्म तदा तदार्कः।
आपत्सु दैवविनियोगकृतागमासु,
धीरोऽपि याति वदने किल कालिमानम् ॥[2]

अधोलिखित पंक्तियों में श्लेष और अनुप्रास का मनोहर चमत्कार है--

सुरम्यरूपे! रसराशिरंजिते! विचित्रवर्णाभरणे! कहाँ गई?
अलौकिकानन्दविधायिनी! महाकवीन्द्रकान्ते! कविते! अहो कहाँ ॥[3]

पहली पंक्ति में 'र', 'ण' और 'व' की तथा दूसरी में 'क' और न' की आवृत्ति के कारण पद में अधिक लालित्य आ गया है। कान्तारूपिणी कविता के लिए श्लिष्ट विशेषणों का प्रयोग भी मनोहर है। जिस प्रकार कान्ता सुरम्यरूपा (रमणीय रूपवाली), रसराशिरंजिता (सुन्दर अनुराग के भावों से भरी हुई), विचित्रवर्णाभरणा (रंगबिरंगे आभूषणों से सजी हुई) अलौकिकानन्दविधायिनी (असाधारण आनन्द देनेवाली) और कवीन्द्रकान्ता (कवियों के काम

---

१. 'द्विवेदी-काव्यमाला', पृ० १६१।
२. ,, ,, ,, २०६।
३. ,, ,, ,, २६१।

की वस्तु) है, उसी प्रकार कविता भी सुरम्यरूपा (रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करनेवाली शब्दस्वरूपा), रसराशिरंजिता (शृंगार आदि रसों से पूर्ण), विचित्रवर्णाभरणा (अनेक प्रकार के चित्रमय शब्दालंकारों से समन्वित), अलौकिकानन्दविधायिनी (लोकोत्तर चमत्कार की सृष्टि करनेवाली) और कवीन्द्रकान्ता (महाकवियों की अभिप्रेत) वस्तु है।

कवित्वसौन्दर्य का उपस्थापन करने के लिए कल्पना की ऊंची उड़ान अनिवार्य नहीं है। द्विवेदी जी के यथार्थवादी पदों में भी कहीं कहीं उत्तम काव्यचमत्कार है—

केचिद्वधूवदनचन्द्रविलोकनाय, केचिद्धनस्य हरणाय परस्य केचित्
कूलेययुर्ग्रहणदुष्परिणामदुःखनाशाय सन्निकटवर्तिजलाशयस्य ॥[1]

ग्रहण आदि अवसरों पर मेलों में जाने वाले सज्जन और असज्जन लोगों का यह चित्र परम स्वाभाविक है। कुछ ही लोग ऐसे होते हैं जो अमायिक धर्मभावना से प्रेरित होकर स्नानादि के निमित्त जाते हैं। प्रायः दुष्टजनों की ही अधिकता रहती है जो पाप-भावना से प्रेरित होकर उस अवसर का दुरुपयोग करते हैं।

द्विवेदी जी की 'विनय-विनोद', 'विहार-वाटिका', 'स्नेहमाला' आदि आरंभिक कृतियों में ओज और प्रसाद गुणों की न्यूनता होते हुए भी माधुर्य की मनोहरता है।[2] उनमें भी कहीं कहीं प्रसन्नता दिखाई पड़ जाती है।[3] ऋतुतरंगिणी में प्रासादिकता का सार्वत्रिक अभाव है। *उनकी संस्कृत और खड़ीबोली की कविताएं व्यापक रूप से प्रसादगुण-सम्पन्न हैं, यथा—*

किं विद्यया किं तव वर्षणेन व्यापारवृत्त्या किमु चापि भृत्या
जयत्यहो स श्वशुरालयस्ते त्वं कल्पवृक्षीयसि यं सदैव ॥[4]

अथवा—

नित्य असत्य बोलने में जो तनिक नहीं सकुचाते हैं,
सींग क्यों नहीं उनके सिर पर बड़े बड़े उग आते हैं ?

---

१. 'द्विवेदी-काव्यमाला', पृ० २०४।

२. उदाहरणार्थ—

वसन आसन आलनि दास के,
विहग पी रस की हँसि हाँस के।
दग लसै विलसै अलसै गही,
सुमनहार बिहार विहाय ही ॥—'द्विवेदी-काव्यमाला', ३१

३. यथा—

शरणागत मांगत प्रभो हे अनाथ के नाथ।
युगुलचरणारविन्द महँ राखन दीजे माथ ॥—'द्विवेदी-काव्यमाला', १९।

४. 'द्विवेदी-काव्यमाला', पृ० १८४।

घोर घमंडी पुरुषों की क्यों टेढ़ी हुई न लंक ?
चिन्ह देख जिसमें सब उनको पहचानते निशंक ।। [1]

उपर्युक्त पंक्तियों में व्यंग्य का बहुत कुछ चमत्कार है। संस्कृत-श्लोक में उन कान्यकुब्ज ब्राह्मणों पर आक्षेप किया गया है जो विद्याध्ययन, खेती, व्यापार या नौकरी न करके अपनी ससुराल को कल्पवृक्ष समझते और उसी के धन से सानन्द जीवन-यापन करते हैं। हिन्दी-पद में मिथ्यावादियों के सिर पर सींग उगवाने और घमंडियों की कटि टेढ़ी करा देने की कवि-कल्पना निस्सन्देह चमत्कारकारिणी है। परन्तु द्विवेदी जी की अधिकांश कविताओं में अर्थ की अतिशय प्रकाशता होने के कारण प्रसन्नता का यह गुण दोष बन गया है।[2] 'आगे चले बहुरि रघुराई'-जैसे नीरस किन्तु स्पष्ट पद पद-पद पर मिल सकते हैं।[3]

पद्य-निबन्धों की वर्णनात्मकता और अतिप्रकाशता के कारण द्विवेदी जी की कविताएं प्रायः इतिवृत्तात्मक हैं। उनकी सभी पद्यकृतियां कविता नहीं हैं। इन इतिवृत्तात्मक रचनाओं में भी स्थान स्थान पर कवित्व है। यह उपर्युक्त विवेचन और उद्धरणों से प्रमाणित है। उनकी कविताओं की इतिवृत्तात्मकता और नीरसता के अनेक कारण हैं। द्विवेदी जी ने अपनी अधिकांश कविताओं की रचना अराजकता-काल में की थी, द्विवेदी-युग में नहीं। उस समय हिन्दी-साहित्य के भीतर और बाहर सर्वत्र ही अराजकता थी। भूमिका में वर्णित राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक आदि आन्दोलन कवियों की एकान्त साधना में बहुत कुछ बाधक हुए। एक ओर तो यह दशा थी और दूसरी ओर द्विवेदी जी का ज्ञानसम्बल संस्कृत-साहित्य और पुरानी परिपाटी के पंडितों के अध्यापन पर ही अवलम्बित था। उनका

---

१. द्विवेदी-काव्यमाला', पृ० २६० ।

२.
नान्ध्रीपयोधर इवातितरां प्रकाशो,
नो गुर्जरीस्तन इवातितरां निगूढ़ः ।
अर्थो गिरामपिहितः पिहितश्च कश्चित्,
सौभाग्यमेति मरहट्टवधूकुचाभः ॥ —राजशेखर ।

३. यथा—
घर में सबको भाती है यह, पति का चित्त चुराती है यह ।
सखियों में जब आती है यह, मधु मीठा टपकाती है यह ॥
'द्विवेदी-काव्यमाला', पृ० ३७८ ।

या—
'शरीर ही से पुरुषार्थ चार, शरीर की है महिमा अपार ।
शरीररक्षा पर ध्यान दीजै, शरीरसेवा सब छोड़ कीजै ॥
'द्विवेदी-काव्यमाला', पृ० ४१४ ।

कवि एक संस्कृत पढ़े-लिखे देहाती के कूपमंडूकत्व से ऊपर नहीं उठ सका था। अनध्याय, अनभ्यास और असंगति के कारण वे परम्परागत हिन्दी-काव्यभाषा ब्रज और अवधी पर अधिकार नहीं कर सके थे। इसी कारण उनके भावों में सचाई और सुन्दरता के होते हुए भी उनकी रचनाओं में कविता का लालित्य नहीं आ पाया। आगे चलकर जिस प्रकार द्विवेदी जी ने मैथिलीशरण गुप्त आदि का गुरुत्व किया यदि उसी प्रकार उन्हें भी कोई गुरु मिल गया होता तो बहुत सम्भव था कि वे भी एक अच्छी कोटि के कवि हो गए होते।

सम्पादक द्विवेदी की ज्ञानभूमिका का असाधारण रूप से विस्तार हुआ किन्तु उसके साथ ही उनके कर्तव्य की परिधि भी अनन्तरूप से विस्तृत हो गई। अर्धशिक्षित हिन्दी-पाठकों को शिक्षित करना था। हिन्दी के प्रति उदासीनों को हिन्दी का प्रेमी बनाना था। पथभ्रष्ट समाज, लेखकों और पाठकों को प्रशस्त मार्ग पर लाना था। हिन्दी-साहित्य को दूषित करने वाले कूड़ाकरकट को साफ करना था। अभिव्यंजन में असमर्थ हिन्दी को प्रौढ़, संस्कृत और परिष्कृत रूप देना था। तिरस्कृत देवनागरी लिपि और हिन्दी-भाषा की उचित प्रतिष्ठा करनी थी। विपन्न हिन्दी-साहित्य को सम्पन्न बनाने के लिए विविधविषयक साहित्यकारों के निर्माण की आवश्यकता थी। इस प्रकार की सर्वतोमुख आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए द्विवेदी जी के कवि को, अपना निजत्व खोकर, शिक्षक, उपदेशक, आलोचक, सुधारक और निर्माता बन जाना पड़ा। वह काव्यभाषा खड़ीबोली का शैशवकाल था। अभिव्यंजना का निर्बल माध्यम कलासौन्दर्य धारण ही नहीं कर सकता। इसीलिए खड़ीबोली की तत्कालीन रचनाओं में कविता की अभीष्ट रमणीयता न आ सकी। द्विवेदी-युग का प्रथम चरण योग्य माध्यम-निर्माण की साधना में ही व्यतीत हो गया।

द्विवेदीसम्पादित 'सरस्वती' में प्रकाशित कविताओं का काव्योचित संशोधन इस बात का साक्षी है कि द्विवेदी जी में भी कविप्रतिभा थी। गोपाल शरण सिंह की मूल पंक्तियां थीं --

> मधुपपंक्ति नित पुष्पप्रेमधारा में बहती
> या वह अति अनुरक्त बौर पर भी है रहती।[1]

द्विवेदी जी ने उसका संशोधन किया--

> मधुपपंक्ति जो पुष्पप्रेमरस में नित बहती,
> आम्रमंजरी पर क्या वह अनुरक्त न रहती ?

रस', 'आम्रमंजरी' और प्रश्नवाचक चिन्ह की योजना ने इस पद को निस्सन्देह सरस, मार्मिक

---

१. 'माता की महिमा', 'सरस्वती' की हस्तलिखित प्रतियां, १९१४ ई०, काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा के कलाभवन में रक्षित।

और अधिक भावाभिव्यंजक बना दिया है। उनके पत्रों में भी कहीं कहीं काव्य की रमणीयता मिलती है।[1] यत्र तत्र सरस, रमणीय और कवित्वमय होने पर भी ये कविताएं द्विवेदीजी को कवि के उच्च आसन पर प्रतिष्ठित नहीं कर सकतीं। इनका वास्तविक महत्व छन्द, भाषा और विषय की दृष्टि से है।

विधान की दृष्टि से द्विवेदी जी की कविताओं के पाँच रूप हैं—
प्रबन्ध, मुक्तक, प्रबन्धमुक्तक, गीत और गद्यकाव्य। उन्होंने खंडकाव्य या महाकाव्य के रूप में कोई काव्यरचना नहीं की। उनकी प्रबन्धात्मक कविताओं को पद्यप्रबन्ध कहना ही अधिक युक्ति-युक्त है। ये रचनाएं भी दो प्रकार की हैं—कथात्मक और वस्तुवर्णनात्मक। कथात्मक पद्यप्रबन्धों में गद्य की लघु कहानी की भांति किसी नन्हे-से यथार्थ या कल्पित कथानक का उपस्थापन किया गया है, यथा 'सुतपंचाशिका' 'द्रौपदी-वचन-बाणावली,' 'जंबुकीन्याय', 'टेसू की टाँग' आदि। ये पद्य खंडकाव्य के भी संक्षिप्त रूप हैं। वस्तुवर्णनात्मक पद्यप्रबन्धों में बिना किसी कथानक के किसी वस्तु या विचार का प्रबन्धकाव्य की भाँति कुछ दूर तक निर्वाह किया गया है और फिर कविता समाप्त होगई है, यथा 'भारतदुर्भिक्ष' 'समाचारपत्रसंपादकस्तव' 'गर्दभकाव्य' 'कुमुदसुन्दरी' आदि। द्विवेदी जी की अधिकांश कविताएं इसी वर्ग की हैं। भारतेन्दुयुग और द्विवेदीयुग में पद्यप्रबन्धों की अपेक्षाकृत अधिकता का प्रधान कारण उन युगों की हलचल और खड़ीबोली की अप्रौढ़ता ही है। मुक्तकों की काव्यमाधुरी लाने के लिए अपरिपक्व खड़ीबोली की गागर में सागर भरना असम्भव था। खण्डकाव्य या महाकाव्य लिखने के लिए पर्याप्त अवकाश की आवश्यकता थी। बहुधंधी कवि इन परिस्थितियों के ऊपर न उठ सके।

द्विवेदी जी के काव्यविधान का दूसरा रूप मुक्तक है। उनकी मुक्तक रचनाओं के मूल में दो प्रधान प्रवृत्तियां काम करती रही हैं—सौन्दर्यमूलक और उपदेशात्मक। 'विहारवाटिक', 'स्नेहमाला' आदि अनुवादों और 'प्रभातवर्णनम्', 'सूर्यग्रहणम्' आदि मौलिक रचनाओं का उद्देश्य सौन्दर्यनिरूपण ही था।[2] 'शिवाष्टकम्', 'कथमहं नास्तिकः' आदि आत्म-निवेदनात्मक कविताओं में भी भावसौन्दर्य का चित्रण होने के कारण सौन्दर्यमूलक प्रवृत्ति की ही प्रधानता

१. यथा—
राय कृष्णदास को लिखित पत्र १५. ६. ३० ।
'सरस्वती', भाग ४५, खण्ड २, संख्या ४, पृ० ४६१ ।

२. यथा— सुपक्व जम्बूफल गुच्छकारी, इतै उठी श्याम घटा करारी।
महावियोगानलदग्ध बाला, उतै परी मूर्छित ह्वै बिहाला॥
'ऋतुतरङ्गिणी', 'द्विवेदी-काव्यमाला', पृ० ८५ ।

है। उपदेशात्मक मुक्तकों में नीति आदि का उपदेश देने के लिए मुक्त विचारों की निबन्धना की गई है, यथा-विनय-विनोद, 'विचार करने योग्य बातें' आदि।[1] द्विवेदी जी की कविता के तीसरे रूप प्रबन्ध मुक्तकों में एक ही वस्तु या विचार का वर्णन होने के कारण प्रबन्धता और प्रत्येक पद दूसरे से मुक्त होने के कारण मुक्तत्व दोनो ही एक साथ हैं, उदाहरणार्थ-- 'विधिविडम्बना', 'ग्रन्थकार-लक्षण' आदि। भारतेन्दुयुग से चली आने वाली समस्यापूर्ति की प्रवृत्ति ने द्विवेदी जी को मुक्तकरचना के प्रति प्रभावित नहीं किया। सम्भवतः इसका वास्तविक कारण यह है कि वे तादृश समस्यापूरक कवि-समाजों के निकट संपर्क में कभी रहे ही नहीं।

कतिपय गीतों ने द्विवेदी जी की कविता का चौथा रूप प्रस्तुत किया। मौलिकता की दृष्टि से इन गीतो के चार प्रकार हैं। 'भारतवर्ष[2]' में वे संस्कृत के 'गीत गोविन्द' से, 'वन्देमातरम्[3]' में बंगला से और 'सरगौ नरक ठेकाना नाहिं[4]' में लोक-प्रचलित आल्हे से प्रभावित हैं। इस अंतिम गीत में प्रबन्धता होते हुए भी लोकप्रचलितगेयता के कारण इसकी गणना गीतो के अन्तर्गत की गई है। कहीं कहीं उन्होंने भारतीय परम्परा का ध्यान किए बिना ही स्वतन्त्र रूप से भी गीतों की रचना की है। 'टेसू की टाग' और 'महिला परिषद् के गीत' इसी प्रकार के हैं। इनकी लय पर उर्दू का बहुत कुछ प्रभाव परिलक्षित होता है।[5]

---

१. यथा— यौबन वन नव तन निरखि मूढ़ अचल अनुमानि।
हठि जग कारागार मँह परत आपदा आनि॥
—'द्विवेदी-काव्यमाला', पृ० ५।

२. यथा— इष्टदेव आधार हमारे, तुम्हीं गले के हार हमारे,
भुक्ति मुक्ति के द्वार हमारे, जै जै जै जै देश॥
जै जै सुभग सुवेश॥
'द्विवेदी-काव्यमाला', पृ० ४२४।

३. यथा— मलयानिल मृदु मृदु बहती है, शीतलता अधिकाती है,
सुखदायिनि वरदायिनि तेरी, मूर्ति मुझे अति भाती है।
वन्देमातरम्॥
—'द्विवेदी-काव्यमाला', पृ० ३८३।

४. होत बनिअई आई हमरे, को अब तुमसे झूठ बताय,
हमहूँ धिउ बरसन ल्यांचा है छोटी बड़ी बजारन जाय।
हियां की बातैं हियैं रहि गईं, अब आगे का सुनौ हवाल,
गाउँ छाँड़ि हम सहर सिधायन लागेन लिखै चुटकुला ख्याल॥
'द्विवेदी-काव्यमाला', पृ० ३८८।

५. यथा— विद्या नहीं है, बल नहीं है, धन भी नहीं है,
क्या से हुआ है क्या यह गुलिस्तान हमारा।
'द्विवेदी-काव्यमाला', पृ० ३८३।

शरीर की दृष्टि से ये गीत दो प्रकार के हैं—एकछन्दोमय और मिश्रछन्दोमय। उदाहरणार्थ—*'सरगौ नरक ठेकाना नाहिं', 'मेरे प्यारे हिन्दुस्तान'* आदि एक छन्दोमय और *'भारतवर्ष'* आदि मिश्र छन्दोमय हैं। द्विवेदी जी की कविता का पांचवां रूप गद्य-काव्य है। 'समाचार-पत्रों का विराट रूप' और 'प्लेगराजस्तव' इसी रूप की रचनाएं हैं। इन गद्यकाव्यों में न तो संस्कृत-गद्यकाव्यों की-सी कवि-कल्पना का उत्कर्ष ही है और न हिन्दी-गद्य-काव्यों की-सी धार्मिक भाव-व्यञ्जना। किन्तु ये हिन्दी-गद्यकाव्य के प्रारम्भिक रूप हैं अतएव इनका ऐतिहासिक महत्त्व है।

द्विवेदी जी ने 'विनयविनोद' की रचना अभ्यासार्थ और स्वान्तःसुखाय ही की थी। तब हिन्दी की न्यूनतापूर्ति की भावना उनमें न थी। हिन्दी के परम्परागत दोहा का ही प्रयोग उन्होंने उसमें किया। मराठी और संस्कृत के अध्ययन ने उन्हें संस्कृत-वृत्तों की ओर प्रवृत्त किया। 'विहारवाटिका' में हिन्दी के दोहा और हरिगीतिका के कुछ पदों के अतिरिक्त सारी पुस्तक संस्कृत के स्रग्धरा, शार्दूलविक्रीडित, द्रुतविलम्बित, वंशस्थ, शिखरिणी, भुजंगप्रयात मालिनी, मन्दाक्रान्ता, नाराच, चामर, वसन्ततिलका, उपजाति, उपेन्द्रवज्रा इन्द्रवज्रा और इन्द्रवंशा में ही हैं। 'स्नेहमाला' में उन्होंने फिर दोहोंका ही प्रयोग किया किन्तु आगे चलकर 'महिम्नस्तोत्र' के अधिकांश पद शिखरिणी, मालिनी, भुजंगप्रयात, तोमर और प्रज्झटिका छन्दों में ही रचे गये। 'ऋतुतरंगिणी' की रचना उन्होंने वसंततिलका, मालिनी, द्रुतविलम्बित, इन्द्रवज्रा और उपेन्द्रवज्रा मे की। 'गंगालहरी' में सवैयो का ही विशेष प्रयोग हुआ किन्तु उनकी आगामी कृति 'देवीस्तुतिशतक' आद्योपान्त वसन्ततिलका में ही लिखी गई। इस गणना का अभिप्राय केवल यह सिद्ध करना था कि अपने कविजीवन के आरम्भिक काल में द्विवेदी जी ने संस्कृत के छन्दों की ओर अपेक्षाकृत अधिक ध्यान दिया था। उस युग की प्रवृत्ति की दृष्टि से यह बात अनुपेक्षणीय जंचती है। आगे चलकर भी उन्होंने 'शिवाष्टकम्', 'प्रभातवर्णनम्', 'काककूजितम्' आदि में भी गणात्मक छन्दो का प्रयोग किया। वस्तुतः छन्द के क्षेत्र में द्विवेदी जी की देन गणात्मक छन्दों की दृष्टि से ही महत्वपूर्ण है। हिन्दी-साहित्य में केशवदास ने इस ओर ध्यान दिया था। उनके पश्चात् हिन्दी-कवियों ने छन्द की इस प्रणाली के प्रति विशेष प्रवृत्ति नहीं दिखलाई। द्विवेदी जी ने इन छन्दों का प्रयोग करके हिन्दी में इनकी विशेष प्रतिष्ठा की। इस प्रकार 'प्रियप्रवास' आदि गणात्मक-छन्दोमय काव्यों की भूमिका प्रस्तुत हुई। कवि द्विवेदी की अपेक्षा युगनिर्माता द्विवेदी ने इस दिशा में भी अधिक कार्य किया। संस्कृत-छन्दों के अतिरिक्त उन्होंने उर्दू, बंगला, अंगरेजी आदि के तथा स्वतन्त्र छन्दों के प्रयोग और प्रचार के लिए हिन्दी-कवियों को

प्रोत्साहित किया। उनके प्रयास के फलस्वरूप खड़ीबोली इन छन्दों की सुन्दरता से भी सम्पन्न हुई। इसकी प्रमाणसम्मत विवेचना 'युग और व्यक्तित्व' अध्याय में आगे चलकर की गई है।

भाषा की दृष्टि से द्विवेदी जी के कविता-काल के तीन विभाग किए जा सकते हैं—

क. १८८६ ई० से १८९२ ई० तक।

ख. १८९७ ई० से १९०२ ई० तक।

ग. १९०२ ई० के उपरान्त।

'विनयविनोद' (१८८६ ई०), 'विहारवाटिका'(१८९० ई०), 'स्नेहमाला'(१८९० ई०), 'महिम्नस्तोत्र' (१८९१ ई०), 'ऋतुतरंगिणी' (१८९१ ई०), 'गंगालहरी' (१८९१ ई०), और 'देवीस्तुतिशतक' (१८९२ ई०) ब्रजभाषा की रचनाएँ हैं। उनका यह काल प्रायः अनुवादों का ही है। उस समय हिन्दी की काव्यभाषा संक्रान्ति की अवस्था में थी। भारतेन्दुकृत खड़ीबोली के प्रयोगों के पश्चात् श्रीधर पाठक आदि ने खड़ीबोली का व्यवहार प्रचलित रखा। अयोध्याप्रसाद खत्री आदि के खड़ीबोली-आन्दोलन ने भी हलचल मचादी थी। तत्कालीन ब्रजभाषा के कवि उसका कोई सर्वसम्मत आदर्श रूप उपस्थित न कर सके। इसका भी कुछ न कुछ प्रभाव द्विवेदी जी पर अवश्य पड़ा होगा। द्विवेदी जी ने संस्कृत-ग्रन्थों के अनुवाद प्रायः संस्कृत-छन्दों में ही किए। उनका हिन्दी-भाषा और साहित्य का ज्ञान भी अपरिपक्व था अतएव उनकी उपर्युक्त प्रारम्भिक रचनाओं की भाषा का रूप काव्यमय और निखरा हुआ नहीं है।[1]

द्वितीय काल में उन्होंने ब्रजभाषा, खड़ी बोली और संस्कृत तीनों ही को कविता का माध्यम बनाया। १९०२ ई० में प्रकाशित 'काव्यमंजूषा' इसी प्रकार की कविताओंका संग्रह है।

---

१. क. यथा— विधाता है कैसो रचत त्रय लोके किमि सुई।
धरे कैसी देही, सकल किन वस्तू निरमई॥
कुतर्कै है मूर्खा कहि सुहृमि माया भ्रम परे।
न जाने ऐश्वर्यो सकत नहिं जो खण्डन धरे॥

—'द्विवेदी-काव्यमाला', पृ० १६६।

ख. दूषित भाषा के संबंध में द्विवेदी जी का निम्नांकित निवेदन अवेक्षणीय है—

"इसमें बहुत सा संस्कृत वाक्य प्रयोग होने से रोचकता में विरोध हुआ है परन्तु असाधारण छन्द होने के कारण नियतस्थान में शुद्ध हिन्दी शब्द की योजना नहीं हो सकी। इस न्यूनता का मुझे बड़ा खेद है।"

—'ऋतुतरङ्गिणी' की भूमिका।

उनकी 'संस्कृत-पदावली विशेष प्रसन्न, धारावाहिक तथा काव्योचित है।[1] 'सरस्वती'-सम्पादनके पूर्व द्विवेदी जी ने भाषा-संस्कार की ओर कोई ध्यान नहीं दिया था इसीलिए उनकी खड़ी-बोली की तत्कालीन रचनाओं की भाषा को ब्रज, अवधी आदि के पुट ने विकृत कर दिया है।[2] १६०२ ई० में 'कुमारसम्भव-सार' के द्वारा उन्होंने काव्य-भाषा के रूप में खड़ीबोली की विशेष प्रतिष्ठा की।[3] यत्र तत्र ब्रजभाषा, अवधी या तोड़े मरोड़े हुए शब्दों का प्रयोग उसके महत्व को घटा नहीं सकता।[4] उनकी काव्य भाषा में मुहावरों और कहावतों का अभाव-सा है। लाक्षणिकता, ध्वन्यात्मकता या चित्रात्मकताका समावेश भी नगण्य ही है। तथापि हिन्दी-काव्य-भाषा के एकातपत्र सिंहासन पर खड़ीबोली को आसीन कर देने का प्रायः समस्त श्रेय सम्पादक-द्विवेदी को ही है।[5] उन्होंने स्वयं तो सरल, प्रांजल, प्रवाह-युक्त और व्याकरण-सम्मत खड़ीबोली में पद्यात्मक रचनाएँ कीं ही; अपने आदर्श, उपदेश और प्रोत्साहन से अन्य कवियों को भी खड़ीबोली में कविता लिखने के लिए प्रेरित किया। इसका विस्तृत विवेचन 'युग और व्यक्तित्व' अध्याय में यथास्थान किया गया है।

उन्नीसवीं शती के अन्तिम चरण में, विविध आन्दोलनों के कोलाहल में, भी संस्कारजन्य धार्मिक भावना ने नवयुवक द्विवेदी के हृदय को विशेष प्रभावित किया। भारतेन्दु-युग की धार्मिक कविता में भक्ति-काल की परम्परा का निर्वाह, जनता की धार्मिक भावना का प्रतिबिम्ब

---

१. प्रभातवर्णनम्', 'समाचारपत्रसम्पादक स्तवः' आदि कविताएं उदाहरणीय हैं, यथा—

कुशेशयैः स्वच्छजलाशयेषु
वधूमुखाम्भोजदलैर्गृहेषु।
वनेषु पुष्पैः सवितुः सपर्या
तत्पादसंस्पर्शनया कृतासीत्॥

—'द्विवेदी काव्यमाला', पृ० १६६।

२. यथा— 'दिखा पड़ै है तव रम्यरूपता' आदि

—'द्विवेदी-काव्यमाला', पृ० २६१।

३.— क्यों तुम एकादश रुद्र अधोमुख सारे ?
हैं गये कहां हुंकार कठोर तुम्हारे ?
क्या तुमसे भी बलवान देवगण कोई
जिसने तुम सब की आज प्रतिष्ठा खोई ?॥

—'द्विवेदी-काव्यमाला', पृ० ३१५।

४ यथा— 'लगाय' सर्ग १, पद २६, 'प्रणमामी' सर्ग ६, पद ३, 'जाला' सर्ग २, पद ४, 'टपकै है' सर्ग ५, पद ६७ आदि।

५ उसी काल में ठेठ अवधी में लिखित और जनवरी, १६०६ ई० की 'सरस्वती' में प्रकाशित 'सरगौ नरक ठेकाना नाहिं' भाषाविषयक एक अपवाद है।

और उपदेशक का स्वर स्पष्ट है। द्विवेदी जी संस्कृत की काव्य-सरसता और भावपूर्ण स्तुति की ओर विशेष आकृष्ट हुए। 'महिम्नस्तोत्र' और 'गंगालहरी' इसी प्रवृत्ति के परिणाम हैं। संस्कृत के परमेश्वरशतक, सूर्यशतक, चंडीशतक आदि की पद्धति पर दैहिक तापों से मुक्ति पाने के लिए उन्होंने १८६२ ई० में 'देवीस्तुतिशतक' की रचना की। धर्मों के परस्पर संघर्षकाल में भी वे मतमतान्तर और धार्मिक वाद-विवाद से दूर ही रहे। उनकी रचनाएँ युग की धार्मिक भावना से परे और एकान्त भक्तिप्रधान हैं। उनमें आराध्य देवता का स्तवन और उसके प्रति आत्मनिवेदन है। उनका यह निवेदन कहीं तो निजी कल्याण भावना से और कहीं लोककल्याण भावना से अनुप्राणित है। उदाहरणार्थ 'देवीस्तुतिशतक' में उन्होंने अपने अमंगलनाश के लिए और अन्य कविताओं में स्थान स्थान पर देश, जाति, समाज आदि के मंगल के लिए देवी-देवताओं एवं ईश्वर से प्रार्थना की है।[1]

शोकार्त बालविधवाओं की दयनीय दशा से अभिभूत द्विवेदी जी ने हिन्दू-धर्म की कठोर रूढ़ियों के विरुद्ध लेखनी चलाई और विधवाविवाह को धर्मसंगत बतलाया।[2] टीकाधारी कट्टर कान्यकुब्जों ने क्रोधान्ध होकर उन्हें नास्तिक तक कह डाला। 'कथमहं नास्तिकः' द्विवेदी जी के उसी आहत हृदय की धार्मिक अभिव्यक्ति है। उस एक ही रचना में उनकी धार्मिक भावनाओं का समन्वय है। परम्परागत धर्माचार के नाम पर बालविधवाओं को बलात अविवाहित रखना समाज की मूढ़ता, हठधर्म, दम्भ, धर्माडम्बर और नृशंसता है। ईश्वर की प्रसन्नता मूर्तिपूजन, गंगास्नान या सविध सन्ध्योपासन में नहीं है। सत्यनिष्ठा में ही मंत्रजप की पावनता, सज्जनों के प्रति भक्तिभाव में ही भगवद्भक्ति, उनकी पूजा में ही देवपूजा और प्राणिमात्र के प्रति दया तथा परोपकार में ही निखिल व्रतों का फल एवं शाश्वत शान्ति है। एकमात्र करुणा ही समस्त सद्धर्मों का सार है।

भारतेन्दुयुग से ही हिन्दीकवि-समाज असाधारण मानवता से साधारण समाज की ओर आकृष्ट होता आ रहा था। काल की इस अनिवार्य गति का प्रभाव द्विवेदी जी पर भी पड़ा। उन्होंने अपनी कविताओं द्वारा समाजसुधार का भी प्रयास किया। वे चाहते थे कि भारतीय समाज अपनी सभ्यता-संस्कृति को अपनावे, साहित्यकार सच्चे ज्ञान का प्रसार करें, समाज की

---

१ यथा— किए विलम्ब प्रलय पूरी इत ह्वैहै तब पछितैहौ,
स्वकर बनाये को बिगारि के अंत ताप हिय पैहौ।
नहि नहि अम कदापि करिहौ नहि, दयादृष्टि तुम देहौ,
प्रणतपाल यहि काल उबारन ऐहौ, ऐहौ, ऐहौ॥
'द्विवेदी काव्यमाला', पृ० १८१।

२. 'बालविधवविलाप', 'द्विवेदी काव्यमाला', पृ० २१०।

धार्मिक दृष्टि उदार और व्यापक तथा उसके हृदय मे पीड़ितों के प्रति सहानुभूति हो। उनकी सामाजिक भावना चार विशिष्ट रूपों में व्यक्त हुई। कहीं तो उन्होंने पीड़ित और दयनीय वर्ग के प्रति सहानुभूति दिखलाई,[1] कहीं समाजसुधार का स्पष्ट उपदेश दिया,[2] कहीं धार्मिक कट्टरपंथियों तथा साहित्यिक वंचकों आदि का व्यंग्यात्मक उपहास किया[3] और कहीं समाज के पथभ्रष्ट हठधर्मियों की कठोर भर्त्सना की।[4]

भारतेन्दुयुग ने समाज की अधोगति के विविध चित्र अंकित किए थे। यज्ञ, श्राद्ध, जातिपाँति, वर्णाश्रमधर्म, स्त्रीशिक्षा, छुआछूत, अन्धविश्वास, धर्मपरिवर्तन, विधवाविवाह, बालविवाह, गोरक्षा, विदेशगमन, मूर्तिपूजा आदि पर लेखनी चलाई थी। सबको सब कुछ कहने की चाट थी। कवियों की रूढिवादिता या सुधारवादिता के कारण उनकी रचनाओं में सहानुभूति की अपेक्षा आलोचनाप्रत्यालोचना का ही स्वर अधिक प्रधान था। द्विवेदी जी ने समाज के सभी अंगों पर लेखनीचालन नहीं किया, किसी एक विषय पर भी बहुत सी रचनाएँ नहीं की। कान्यकुब्ज ब्राह्मणों के धर्माडम्बर, बालविधवाओं की दुरवस्था और ठहरौनी की कुप्रथा ने उन्हें विशेष प्रभावित किया। 'कान्यकुब्जलीलामृतम्' मे पाखंडी समाज का चित्रण भारतेन्दु-युग की सामाजिक कविताओं की आलोचना-पद्धति पर किया गया है। 'बालविधवाविलाप', 'कान्यकुब्जअबलाविलाप' और 'ठहरौनी' मे बालविधवाओं और अबलाओं के प्रति समानुभूति की निदर्शना परवर्ती द्विवेदी-युग की सामाजिक कविता की विशेषता है।

आधुनिक हिन्दी-साहित्य मे देश और स्वदेशी पर रचित कविताओं मे निहित भावनाओं

---

१ उदाहरणार्थ–'भारतदुर्भिक्ष', 'त्राहि नाथ त्राहि' आदि कविताएं 'द्विवेदीकाव्यमाला', मे संकलित।

२. यथा—

हे देश! सप्रण विदेशज वस्तु छोड़ो,
सम्बन्ध सर्व उनसे तुम शीघ्र तोड़ो।
मोड़ो तुरन्त उनमे मुंह आज से ही,
कल्याण जान अपना इस बात मे ही॥

'द्विवेदीकाव्यमाला', पृ० ४२३।

३. यथा— 'जन्मभूमि', 'ग्रन्थकारलक्षण', कर्तव्यपञ्चदशी आदि 'द्विवेदीकाव्यमाला' में संकलित।

४. यथा—

क्यों हैं तुझे पट विदेशज देश भाये?
क्यों है तदर्थ फिरता मुंह नित्य बाये?
तूने किया न मन में कुछ भी विचार,
धिक्कार भारत तुझे शत कोटि बार!

'द्विवेदीकाव्यमाला', पृ० ४२२।

के क्रमिक इतिहास की रूपरेखा इस प्रकार है। भारतेन्दु-युग के कुछ कवियों ने भारत के अतीत गौरव की ओर संकेत करके अभिमान का अनुभव किया, देश की दयनीयता का चित्रांकन करके उसे दूर करने के लिए भगवान् से प्रार्थना की। द्विवेदी-युग के अधिकांश कवियों ने अतीत की अपेक्षा वर्तमान पर ही अधिक ध्यान दिया, भगवान् से सहायतार्थ प्रार्थना करने के साथ ही आत्मबल का भी अनुभव किया। वर्तमान क्रान्तिवादी युग तो प्रस्तुत समस्याओं को लेकर अपने ही बल पर संसार को उलट देने के लिए कटिबद्ध है। इस विकास-क्रम में द्विवेदी जी की कविताएं भारतेन्दुयुग और द्विवेदीयुग की मध्यस्थ शृंखला की भाँति हैं। शासकों के गुणगान और भारत के सहायतार्थ ईश्वर से प्रार्थना करने में वे भारतेन्दु-युग के साथ हैं। किन्तु अतीत को छोड़कर वर्तमान के ही चित्र खींचने में वे भारतेन्दु-युग से एक पग आगे बढ़कर द्विवेदी-युग की भूमिका में खड़े हुए हैं।

द्विवेदी जी की राजनैतिक या राष्ट्रीय कविभावना चार रूपों में व्यक्त हुई है। पहला रूप शासकों के गुणगान का है। 'कृतज्ञताप्रकाश' आदि रचनाओं में कुछ सुविधाएं देने वाली सरकार की मुक्तकंठ से प्रशंसा और हर्ष की इतनी असंवृत अभिव्यक्ति की है मानो किसी बच्चे को अभीष्ट खिलौना मिल गया हो। परन्तु ये कविताएं द्विवेदीयुग के पूर्व की हैं। अपने जीवन के आरम्भिक वर्षों में द्विवेदी जी विदेशी सरकार के भक्त थे—यह बात 'चरित और चरित्र' अध्याय में सप्रमाण कही जा चुकी है। इसके दो प्रधान कारण परिलक्षित होते हैं—एक तो भारतेदु-युग से चली आनेवाली राजभक्ति की परम्परा और दूसरे अंग्रेजों द्वारा देश में स्थापित की गई शान्ति तथा उन्हें प्रसन्न करके हिन्दी के लिए कुछ प्राप्त करने की भावना। राजनैतिक कविता के दूसरे रूप में द्विवेदी जी ने देश की वर्तमान अधोगति के प्रति क्षोभ प्रकट किया है।[1] इस सम्बन्ध में एक विशेष अवेक्षणीय बात यह है कि उन्हो ने भारतेन्दु की मुकरियों या द्विवेदीयुग के राष्ट्रीय कवियों की भांति अंग्रेजो को देश की दुर्दशा का कारण नहीं माना है और इसीलिए कहीं भी उनके अत्याचारों का निरूपण नहीं किया है। उनकी राजनैतिक कविता का तीसरा रूप भारत के गौरवगान का है। इस भाव की अभिव्यक्ति मुख्यतः चार रूपों में हुई है। कहीं तो उन्होने भारत के अतीत वैभव की महिमा का वर्णन

१. यथा—

यदि कोई पीड़ित होता है,
उसे देख सब घर रोता है।
देशदशा पर प्यारे भाई
आई कितनी बार रुलाई

'द्विवेदीकाव्यमाला', पृ० ३६७।

किया है,[1] कहीं देवरूप में उसकी प्रतिष्ठा की है,[2] कहीं उसके रमणीय प्राकृतिक दृश्यों का रूपांकन किया है[3] और कहीं देश तथा स्वदेशी वस्तुओं के प्रति सरल प्रेम की व्यंजना की है।[4] पाचवें रूप में कवि द्विवेदी की स्वतंत्रता की आकांक्षा का व्यक्तीकरण हुआ है। यह अभिव्यक्ति प्रधानतया पाँच प्रकार से हुई है। कहीं देश के कल्याण के लिए देवीदेवताओं की दुहाई दी गई है,[5] कही उत्थान के लिए देशवासियों को विनम्र प्रोत्साहन दिया गया है,[6] कहीं अतीत की तुलना मे वर्तमान का चित्रण करके भविष्य सुधारने की चेतावनी दी गई[7] है, कही राष्ट्रीय जागृति के लिए मेलजोल का राग अलापा गया है[8] और कहीं देश के उद्धार के लिए बाहुबल से क्रान्ति कर देने का संकेत किया गया है।[9]

---

१. यथा— जहां हुए व्यास मुनि प्रधान, ।
रामादि राजा अति कीर्तिमान ।
जो थी जगत्पूजित धन्यभूमि
वही हमारी यह आर्यभूमि ॥ 'द्विवेदी-काव्यमाला' पृ० ४०६ ।

२. यथा— इष्टदेव आधार हमारे
तुम्हीं गले के हार हमारे,
जै जै जै जै देश । 'द्विवेदी-काव्यमाला' पृ० ४५४ ।

३. यथा— वह जंगल की हवा कहां है ? वह इस दिल की दवा कहां है ?
कहां टहलने का रमना है ? लहरा रही कहां जमुना हैं ?
वह मोरों का शोर कहां है ? श्याम घटा घनघोर कहां है ?
कोयल की मीठी तानों को , सुन सुख देते थे कानों को ?
'द्विवेदी-काव्यमाला' पृ० ३११ ।

४. यथा—'जन्म भूमि' मे, 'द्विवेदी-काव्यमाला' मे संकलित ।

५. यथा— आलस्य, फूट, मदिरा, मद दोष सारे,
छाये यहा सब कही टरते न टारे ।
हे भक्तवत्सल ! उन्हे उनसे बचाओ,
हस्तारविन्द उनके सिर पै लगाओ। 'द्विवेदीकाव्यमाला' पृ०३६२।

६. यथा 'द्विवेदी-काव्यमाला' मे संकलित 'जन्मभूमि' में ।

७. यथा 'द्विवेदी-काव्यमाला' मे संकलित 'आर्यभूमि' और 'देशोपालम्भ' में ।

८ उदाहरणार्थ—
हिन्दू मुसलमान ईसाई, यश गावें सब भाई भाई,
सबके सब तेरे शैदाई, फूलो फलो स्वदेश।
'द्विवेदी-काव्यमाला' 'पृ०४५३, ४५४ ।

९. यथा कवि—हे स्वतंत्रते ! जन्म तुम्हारा कहा ? बता यह प्रश्न हमारा ।
स्वतंत्रता—शूर देशहित तजते जहा प्राण जन्म मेरा है वहाँ ।
'द्विवेदी-काव्यमाला' पृ० ४२० ।

हिन्दी-भाषा और साहित्य के पुजारी द्विवेदी जी हिन्दी की दीन दशा से विशेष प्रभावित थे। साहित्यसम्बन्धी विषयों पर लिखित उनकी कविताएं तत्कालीन साहित्य का बहुत कुछ आभास देती हैं। उनमें कहीं मायावी सम्पादकों की वंचक लीलाओं का निरूपण है,[१] कहीं हिन्दीभाषियों द्वारा नागरी के त्यागे जाने और विदेशी भाषाओं के अपनाए जाने पर खेदप्रकाश है,[२] कहीं सरकारी कार्यालयों, कचहरियों आदि में हिन्दी को उचित स्थान दिलाने के लिए निवेदन है,[३] कहीं संस्कृत बंगला, मराठी, अँगरेजी आदि के सामने हिन्दी की हीनता, तुकड़ों की अलंकारवादिता, कवित्वहीन पद्यरचना और समस्यापूरकों तथा खड़ीबोली के विरोधी ब्रजभाषाभक्तों की विडम्बना से व्यथित कविहृदय का व्यक्तीकरण है,[४] कहीं यशोलोलुप, ईर्ष्यालु, चोर और अपंडित हिन्दी ग्रन्थकर्ताओं की यथार्थ झांकी है,[५] कहीं कविता का अंगभंग करने वाले हिन्दीपद्यकारों के प्रति क्रोध, शोक तथा उपहास की व्यंजना है[६] और कहीं हिन्दी को आश्रय देने के लिए देशी नरेशों से विनय की गई है।[७] यही प्राग्द्विवेदीयुग—अराजकता-युग—का चित्र है। 'समय नहीं है', 'मुझे लिखना नहीं आता' आदि बहानों के आधार पर विदेशीभाषाप्रेमी हिन्दुओं और हिन्दीभाषियों को हिन्दीसेवा के पथ का पथिक बनाने के लिए ही युगनिर्माता द्विवेदी ने 'संदेश' की रचना की।

रविवर्मा आदि चित्रकारों के चित्रों ने हिन्दीकवियों का ध्यान विशेष आकृष्ट किया। उन चित्रों की वस्तु पर द्विवेदी जी ने स्वयं कविताएं लिखीं और दूसरों से भी लिखवाईं। द्विवेदी-सम्पादित 'कविताकलाप' इसी प्रकार की कविताओं का संग्रह है। द्विवेदी जी की 'रम्भा', 'कुमुद-सुन्दरी', 'महाश्वेता', 'उपास्वप्न' आदि चित्रपरिचयात्मक रचनाओं का आलम्बन पौराणिक या आधुनिक युग की नारी है। आदर्श नारियों के चरित्र अंकित करके वे भारतीय नारी-समाज को सुधारना और सरल, परिष्कृत तथा मंजी हुई पद्यभाषा खड़ीबोली की प्रतिष्ठा एवं प्रचार करना चाहते थे। रविवर्मा के चित्रों का गुणानुवाद भी इन रचनाओं का उद्देश जान पड़ता है। द्विवेदी जी ने हिन्दी-हितैषियों की प्रशंसा में और अवसर-विशेष पर भी अनेक कविताएं लिखीं।[८] 'बलीवर्द', 'काककूजितम्', 'जम्बुकी-न्याय', 'टेसू की टाग'

---

१ यथा—'द्विवेदी-काव्यमाला' में संकलित 'समाचारपत्रसम्पादकस्तवः' में।
२. ,, ,, ,, 'नागरी तेरी यह दशा' में।
३. ,, ,, ,, 'नागरी का विनयपत्र' में।
४ ,, ,, ,, 'हे कविते' में।
५. यथा— द्विवेदी-काव्यमाला' में संकलित 'ग्रन्थकारलक्षण' में।
६. ,, ,, ,, 'स्वप्न' में।
७. ,, ,, ,, 'प्रार्थना' में।
८. ,, ,, ,, 'श्रीहार्नलीपंचक', 'विवाहसंबंधी कवितायें' आदि।

आदि में व्यक्तिगत आक्षेप भी है किन्तु उसका विवेचन उचित नहीं प्रतीत होता।

द्विवेदी जी के प्रकृतिवर्णन में वस्तु की नवीनता नहीं है। 'ऋतुतरंगिणी', 'प्रभात-वर्णनम्', 'सूर्यग्रहणम्', 'शरत्सायंकाल', 'कोकिल', 'वसन्त' आदि कविताओं में उन्होंने प्रकृति के रूढ़िगत विषयों को ही अपनाया है। उनका महत्व विधानशैली की दृष्टि से है। वस्तुतः द्विवेदी जी प्रकृति के कवि नहीं हैं। प्रकृति पर उन्होंने कुछ ही कविताएं लिखी हैं जिनका न्यूनाधिक महत्व ऐतिहासिक आलोचना की दृष्टि से है। भाव की दृष्टि से उनकी कविताओं में कहीं तो प्रकृति का भावचित्रण हुआ है और कहीं रूपचित्रण। भावचित्रण में उन्होंने प्रकृतिगत अर्थ का ग्रहण कराने का प्रयास[1] और रूपचित्रण में प्रकृति के दृश्यों का चित्र-सा अंकित किया है।[2] सौन्दर्य की दृष्टि से द्विवेदी जी ने प्रकृति के कोमल और मधुर रूप को ही देखा है, उसके उग्र और भयंकर रूप को नहीं जैसा कि सुमित्रानन्दन पन्त ने अपने 'परिवर्तन'[3] में किया है। 'ऋतुतरंगिणी' में ग्रीष्म का वर्णन यथार्थ होने के कारण द्विवेदी जी की उग्रताविषयक प्रवृत्ति का द्योतक नहीं हो सकता। निरूपित और निरूपयिता की दृष्टि से द्विवेदी जी के प्रकृति-वर्णन में केवल दृश्य-दर्शक सम्बन्ध की व्यंजना हुई है, तादात्म्य-सम्बन्ध की नहीं। यही कारण है कि उनकी प्रकृतिविषयक कविताओं में गहरी अनुभूति की अपेक्षा वर्णनात्मकता ही अधिक है। विधान की दृष्टि से उन्होंने प्रकृति-निरूपण दो प्रकार से किया है--प्रस्तुत-विधान और अप्रस्तुत-विधान। उदाहरणार्थ-'ऋतुतरंगिणी' आदि में प्रकृतिचित्रण ही कवि का लक्ष्य रहा है किन्तु 'काककूजितम्' आदि में अप्रस्तुत काक आदि के चित्रण के द्वारा कवि ने प्रस्तुत दुष्टों के चरित्रचित्रण का ही प्रयास किया है। विभाव की दृष्टि से उन्होंने प्रकृति का चित्रण दो रूपों में किया है-- उद्दीपनरूप में और आलम्बनरूप में। रीतिकालीन परम्परा ने प्रकृति के विविध दृश्यों को शृंगार के उद्दीपनरूप में ही प्रायः अंकित किया था। जगमोहन सिंह और श्रीधरपाठक उसके आलम्बन-पक्ष की ओर भी प्रवृत्त हुए। प्राकृतिक दृश्यों का आलम्बनरूप में चित्रांकन करके द्विवेदी जी ने इस

---

१. यथा—कुमुदपुष्पसुवाससुवासिता, वकुलचम्पकगन्धविमिश्रिता।
मृदुल वात प्रभात भये बहै, मदनवर्द्धक अर्द्धकला कहैं॥
'द्विवेदी-काव्यमाला' पृ० ८२।

२. यथा—क्व मामनादृत्य निशान्धकारः पलाय्य पापः किल यस्तीति।
ज्वलन्निव क्रोधभरेण भानुरंगाररूपः सहसाविरासीत्॥
'द्विवेदी काव्यमाला' पृ० १६१।

३. 'आधुनिक कवि' २ 'में संकलित।

प्रणाली को और आगे बढ़ाया।[1] इसी काव्यभूमिका में गोपाल शरण सिंह, राम नरेश त्रिपाठी, रामचन्द्र शुक्ल, सुमित्रानन्दन पन्त आदि ने आलम्बनरूप मे प्राकृतिक दृश्यों का अर्थग्रहण और बिम्बग्रहण कराया।

---

१. यथा—

विशुष्क पत्र द्रुम में अनेका, धसे धसे कीचक एक एका।
अनन्त जीवान्तक दुःखदाई, दशों दिशा पावक देत लाई ॥

'द्विवेदी काव्यमाला' पृ० ८०।

या समाधिरात् सम्भविता समाप्तिः शुभ्रा हृदीतीव विचिन्तयन्ती।
उष प्रकाशप्रतिभामिषेण विभावरी पांडुरतां बभार ॥

'द्विवेदी-काव्यमाला' पृ० १६८।

पांचवां अध्याय

आलोचना

पश्चिमीय साहित्य में समालोचना का अर्थ किया जाता है रचना के विषय के इतिहास, सौंदर्यसिद्धान्त, रचनाकार की जीवनी आदि की दृष्टि से रचना के गुणदोष और रचनाकार की अन्तर्वृत्तियों तथा प्रवृत्तियों का सूक्ष्म विवेचन। संस्कृत-साहित्यकारों ने इस अर्थ में न तो आलोचना ही की है और न उस शब्द का ही प्रयोग किया है। हिन्दी में प्रचलित समालोचना, समालोचन, आलोचना और आलोचन एक ही अर्थवाचक शब्द हैं। ये शब्द संस्कृत के होते हुए भी अंगरेजी के 'क्रिटिसिज़्म' के समानार्थी हैं। समीक्षा और परीक्षा भी आलोचन के पर्याय हैं। 'क्रिटसिज़्म' के लिए इन शब्दों के चुनाव का आधार क्या है? अपने 'ध्वन्यालोकलोचन' में अभिनवगुप्तपादाचार्य ने लिखा है—

"अपने लोचन (ज्ञान या मन) द्वारा न्यूनाधिक व्याख्या करता हुआ मैं काव्यालोक (ध्वन्यालोक) को जनसाधारण के लिए विशद (स्पष्ट) करता हूँ।"[1]

'चन्द्रिका" (ध्वन्यालोक पर लिखी गई व्याख्या) के रहते हुए भी लोचन के बिना लोक या ध्वन्यालोक का ज्ञान असम्भव है। इसीलिए अभिनवगुप्त ने प्रस्तुत रचना में (पाठकों की) आँखें खोलने का प्रयास किया है।"[2]

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि लोचन लोचक द्वारा भावक को दिया गया वह ज्ञानलोचन है जिसकी सहायता से वह लोचित रचना का उचित भावन कर सके। परीक्षा और समीक्षा शब्द भी इसी अर्थ की पुष्टि करते हैं। संस्कृत के लक्षणग्रन्थों का नामकरण भी इसी अर्थ की भूमिका पर आलम्बित दिखाई देता है। आनन्दवर्धन, मम्मटाचार्य, शारदा-

---

१. यत्किंचिदप्यनुरणन्स्फुटयामि काव्य-
लोकं स्वलोचननियोजनया जनस्य ॥
'ध्वन्यालोकलोचन', पृ० २।

२. किं लोचनं विना लोको भाति चन्द्रिकयापिहि।
तेनाभिनवगुप्तोऽत्र लोचनोन्मीलनं व्यधात् ॥
'ध्वन्यालोकलोचन', पृ० १६४।

तनय, जयदेव, विश्वनाथ आदि के 'ध्वन्यालोक', 'काव्यप्रकाश', 'भावप्रकाश', 'चन्द्रालोक', 'साहित्यदर्पण' आदि शब्द लोचन के उपर्युक्त अर्थ के ही समर्थक हैं 'सम्' और 'आ' उपसर्गों के सहित लोचन ही समालोचन है। व्याकरण, दर्शन, इतिहास आदि-विषयक ग्रन्थों की समालोचना भी समालोचना ही है। समालोचना की चाहे जो भी परिभाषा की जाय, उसका निम्नांकित लक्षण सर्वव्यापक है--साहित्यिक समालोचना वह रचना है जो आलोचित साहित्यिक कृति के अर्थ या बिम्ब का भली भाँति ग्रहण करने में पाठक, श्रोता या दर्शक की सहायता करे।

इस उद्देश की दृष्टि से संस्कृत ही नहीं, हिन्दी-साहित्य में भी छः प्रकार की आलोचना-पद्धतियां दिखाई देती हैं।

१. आचार्य-पद्धति
२. टीका-पद्धति
३. शास्त्रार्थ-पद्धति
४. सूक्ति-पद्धति
५. खंडन-पद्धति
६. लोचन-पद्धति[1]

द्विवेदी जी की आलोचना भी इन्हीं छः वर्गों के अन्तर्गत होती है।

संस्कृत के आचार्य अपने लक्षणग्रन्थों में काव्यादि के लक्षणों का निरूपण करते थे। जिन लक्ष्यग्रन्थों को वे उत्कृष्ट समझते थे उन्हें रस, अलंकार आदि के सुन्दर उदाहरणों के रूप में और जिन्हें निकृष्ट समझते थे। उन्हें अधम काव्य या दोषों के उदाहरणों के रूप में उद्धृत करके उनके गुणदोषों की यथोचित समीक्षा करते थे। 'ध्वन्यालोक', 'काव्यप्रकाश', 'साहित्यदर्पण' आदि इसी प्रकार के ग्रन्थ हैं। हिन्दी-आचार्यों ने अपने रीतिग्रन्थों में मम्मट आदि का अनुकरण न करके पंडितराज जगन्नाथ आदि का अनुकरण किया--सिद्धान्त-निरूपण में दूसरों की रचनाओं के स्थान पर अपनी ही रचनाओं के उदाहरण दिए और दोष-प्रकरण की अवहेलना कर दी। आधुनिक हिन्दी-साहित्य में भी संस्कृत की आचार्यपद्धति पर अनेक ग्रन्थ लिखे गए--जैसे गुलाब राय का 'नवरस', कन्हैया लाल पोद्दार का 'काव्य-

१. पंडित रामचन्द्र शुक्लको संस्कृत-साहित्य में आलोचना के केवल दो ही ढंग दिखाई पड़े हैं--आचार्यपद्धति और सूक्तिपद्धति। उनका यह मत है कि 'समालोचना का उद्देश हमारे यहां गुणदोष-विवेचन ही समझा जाता रहा है।'

'हिन्दी साहित्य का इतिहास', पृ० ६३०-६३१

शुक्ल जी का यह चिन्त्य निर्णय अंशतः सत्य है।

कल्पद्रुम', अर्जुन दास केडिया का 'भारती-भूषण', अयोध्या सिंह उपाध्याय का 'रस-कलस' आदि। इस पद्धति में सिद्धान्तनिरूपण ही प्रधान और उदाहृत रचनाएं गौण हैं। अतएव यह पद्धति वस्तुतः आलोचना की पीठिका है।

'रसज्ञरंजन', 'नाट्यशास्त्र' आदि आलोचनाएं द्विवेदी जी ने आचार्यपद्धति पर की हैं। उनकी आचार्यपद्धति और संस्कृत की परम्परागत आचार्यपद्धति में रूप का ही नहीं आत्मा का भी अन्तर है। सिद्धान्त का निरूपण करते समय उन्होंने संस्कृत-आचार्यों की भांति सगुण या दुष्ट रचनाओं का न तो उद्धरण दिया है और न उनका गुणदोषविवेचन ही किया है यत्र तत्र आए हुए एक दो उदाहरण अपवादस्वरूप हैं।[1] द्विवेदी जी की आचार्य-पद्धति पर की गई आलोचनाओं की पहली विशेषता यह है कि उन्होंने हिन्दी-विद्यापीठ के वास्तविक आचार्यपद से ही सिद्धान्तसमीक्षा की है। छन्द-अलंकारादिनिदर्शक के आसन से कोरा सिद्धान्तनिरूपण ही उनका ध्येय नहीं रहा है।[2] नाटक के क्षेत्र में यथार्थ नाट्यकला से अनभिज्ञ नाटककारों और 'इन्द्रसभा', 'गुलेबकावली' आदि में रुचि रखने वाले दर्शकों को प्रशस्त पथ पर लाने के लिए उन्होंने 'नाट्यशास्त्र' की रचना की।[3] हिन्दी-कविता अतिशय

---

१. 'रसज्ञरंजन' में 'रामचरितमानस' पृ० ४१.४२.४३ और 'एकान्तावासी योगी' पृ० ४५ के उद्धरण।

२ क "छन्द, अलंकार, व्याकरण आदि तो गौण बातें हुईं उन्हीं पर जोर देना अविवेकता-प्रदर्शन के सिवा और कुछ नहीं।" 'विचार-विमर्श', पृ० ४५।

ख. "ये सब पूर्वोक्त भेद हमने, यहां पर वाचकों के जानने के लिए दिखा तो दिए हैं, परन्तु हमारा यह मत है कि हिन्दी में नाटक लिखने वालों के लिए इन सब भेदों का विचार करना आवश्यक नहीं। इन भेदों का विचार करके इन में से किसी एक शुद्ध प्रकार का नाटक लिखना इस समय प्रायः असम्भव भी है। देश, काल और अवस्था के अनुसार लिखे गये सभी नाटक, जिनसे मनोरंजन और उपदेश मिले प्रशंसनीय हैं। वे चाहे हमारे प्राचीन आचार्यों के सारे नियमों के अनुकूल बने हों चाहें न बनें हों उनमें लाभ अवश्य ही होगा। इससे यह अर्थ न निकालना चाहिए कि नाट्यशास्त्र के आचार्यों में हमारी श्रद्धा नहीं है। हमारे कहने का तात्पर्य इतना ही है कि ये सब जटिल नियम उस समय के लिए थे जिस समय भरत और धनंजय आदि ने अपने ग्रंथ लिखे हैं। इस समय उनको यदि कोई परिवर्तितदशा में प्रयोग करे, और ऐसा करके, यदि वह सामाजिकों का मनोरंजन कर सके, तथा, अपने खेल के द्वारा वह सदुपदेश भी दे सके, तो कोई हानि की बात नहीं।"

'नाट्यशास्त्र', पृ० २६।

३. "नाट्यकला का फल उपदेश देना है। उसके द्वारा मनोरंजन भी होता है और उपदेश भी मिलता है। चाहे जैसा नाटक हो, और चाहे जिसने उसे बनाया हो, उससे कोई न कोई शिक्षा अवश्य मिलनी चाहिए। यदि ऐसा न हुआ तो नाटककार का प्रयत्न व्यर्थ है और दर्शकों

शृंगारिकता से आक्रान्त थी। लोग कविता के वास्तविक अर्थ को नहीं समझ रहे थे। भाषा आदि बहिरंगों को लेकर विवाद चल रहा था। ऊर्मिला-जैसी नारियों के प्रति उपेक्षा थी। सम्पादक, समालोचक, लेखक सभी अपने कर्तव्य के प्रति उदासीन थे। द्विवेदी जी ने इन बातों की ओर ध्यान दिया। हिन्दी की परिस्थितियों और आवश्यकताओं को दृष्टि में रखकर उन्होंने आलोचनाएं कीं। 'कवि बनने के सापेक्ष साधन', 'कवि और कविता', 'कविता', 'नायिका-भेद', 'कवियो की ऊर्मिलाविषयक उदासीनता', 'उर्दू शतक', 'महिषशतक की समीक्षा', 'आधुनिक कविता', 'बोलचाल की हिन्दी में कविता', 'सम्पादकों, समालोचकों तथा लेखकों के कर्तव्य' आदि लेखों में स्थान स्थान पर साहित्य और आलोचना का शास्त्रीय विवेचन करते समय वे सचमुच ही आचार्य बन गए हैं।

उनकी दूसरी विशेषता यह है कि उनका सिद्धान्तनिरूपण सभी आलोचनाओं में यथास्थान बिखरा हुआ है। इसका कारण यह है कि उन्होने संस्कृत-आचार्यों की भांति सिद्धान्तों को साध्य और लक्ष्य रचनाओं को साधन न मानकर लक्ष्य रचनाओं को ही साध्य और सिद्धान्तों को ही साधन माना है। लेखक या उसकी कृति की आलोचना करते समय जहा कहीं अपने कथन को प्रमाणित या पुष्ट करने की आवश्यकता पड़ी है वहा पर उन्होंने अपने या अन्य आचार्यों के सिद्धान्तो का उपस्थापन किया है।[1]

उनकी सिद्धान्तमूलक आलोचनाओं की तीसरी विशेषता यह है कि उन्होंने अपने सिद्धान्तों को किसी वाद के बन्धन मे नहीं बाधा है। वे न तो भरत, विश्वनाथ आदि की भाँति रसवादी हैं, न भामहादि की भाति अलङ्कारवादी हैं, न वामन आदि की भाति रीतिवादी हैं न कुन्तक आदि की भाँति वक्रोक्तिवादी हैं, न आनन्दवर्द्धन, अभिनवगुप्त आदि की भांति ध्वनिवादी हैं, न पंडितराज जगन्नाथ की भाति चमत्कारवादी हैं और न पश्चिमीय समीक्षाप्रणाली से प्रभावित आलोचक की भांति अन्तःसमीक्षावादी हैं। उनकी आलोचनाओं में सभी वादों के सार का समन्वय है। उन्होने अपनी आलोचनाओ में व्यवहारबुद्धि से काम लिया है, किन्तु कोरे उपयोगितावादी भी नहीं है। उन्होने किसी वाद का खंडन

का नेत्रव्यापार भी व्यर्थ है। जो लोग 'इन्दर-सभा' और गुलेबकावली' आदि खेल, जो पारसी थियेटर वाले आजकल प्रायः खेलते हैं, देखने जाते हैं उन्हें अपना हानि-लाभ सोचकर वहा पधारना चाहिए।"

'नाट्यशास्त्र' पृ० ५७।

१. उदाहरणार्थ, कालिदास के ग्रन्थों की आलोचना करते हुए वे लिखते हैं—"जिस साहित्य में समालोचना नहीं वह विटपहीन महीरुह के समान है। उसे देखकर नेत्रानन्द नहीं होता। उसके पाठ और परिशीलन से हृदय शीतल नहीं होता। वह नीरस मालूम होता है।"

'कालिदास और उनकी कविता', पृ० १११।

मंडन करने के लिए लेखनी नहीं उठाई। अतएव उनकी रचनाओं को किसी वाद के उपनयन से देखने का मार्ग सर्वथा गलत है।

साहित्य और मनुष्यत्व में बहुत गहरा सम्बन्ध है। द्विवेदी जी का कथन है कि साहित्य ऐसा होना चाहिए जिसके आकलन से बहुदर्शिता बढ़े, बुद्धि की तीव्रता प्राप्त हो, हृदय में एक प्रकार की संजीवनीशक्ति की धारा बहने लगे, मनोवेग परिष्कृत हो जायं और आत्मगौरव की उद्भावना हो।[1] महाकवि इस काम को समुचित रूप से कर सकते हैं। महाकवि वस्तुतः है भी वही जिसने उच्च भावों का उद्बोधन किया है। उसे भी आचार्यों के नियमों का न्यूनाधिक अनुशासन मानना ही पड़ता है। महाकवि का काव्य उच्च, पवित्र और मङ्गलकारी होता है।[2] वह कवि के स्वान्तःसुखाय ही नहीं होता। वह परार्थ को स्वार्थ से अधिक श्रेयस्कर समझता है। उसका लक्ष्य बहुजनहिताय है।[3] अन्तःकरण में रसानुभूति कराकर उदार विचारों में मन को लीन कर देना कविता का चरम लक्ष्य है। कविता एक सुखदायक भ्रम है जिसके उपभोग के लिए एक प्रकार की भावुकता, सात्विकता और भोलेपन की अपेक्षा है।[4] कविता कवि की कल्पना द्वारा अंकित अन्तःकरण की वृत्तियों का चित्र है।[5] सुन्दर कविता का विषय मनुष्य के जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है। वह उसकी आत्मा और आध्यात्मिकता पर गहरा असर डालता है।[6] कवि की प्रतिभा द्वारा किया गया जीवन के सत्य का चमत्कारपूर्ण उपस्थापन आनन्द की सृष्टि करता है।[7] कवि के कल्पना-प्रधान जगत् में सर्वत्र सम्भवनीयता ढूंढ़ना व्यर्थ है।[8] कविता और पद्य का अन्तर स्पष्ट करते हुए द्विवेदी जी ने बतलाया कि वास्तव में कविकर्म बहुत कठिन है। वह पिंगलशास्त्र के अध्ययन और समस्यापूर्ति के अभ्यास का ही परिणाम नहीं है।[9] वह किसी एक ही भाषा की सम्पत्ति नहीं है।[10] उस सक्रांन्ति-काल के हिन्दी-कवियों के लिए उन्होंने

---

१. हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के तेरहवें अधिवेशन के अवसर पर स्वागताध्यक्षपद से द्विवेदी जी द्वारा दिए गए भाषण के पृ० ३२ के आधार पर।

२. 'समालोचना-समुच्चय', 'हिन्दी-नवरत्न', पृष्ठ २२८ के आधार पर।

३. 'समालोचना-समुच्चय', 'भारतीय चित्रकला', पृष्ठ २६ के आधार पर।

४ 'रसज्ञरंजन', 'कविता', पृष्ठ ५५ के आधार पर।

५. 'रसज्ञरंजन', 'कविता', पृ० ५० के आधार पर।

६ 'विचार-विमर्श', 'आधुनिक कविता' के आधार पर।

७. 'रसज्ञरंजन', 'कवि बनने के सापेक्ष साधन', पृष्ठ २६ के आधार पर।

८. 'समालोचना-समुच्चय', 'हिन्दी नवरत्न', पृष्ठ २१८ के आधार पर।

९. 'रसज्ञरंजन', 'कवि बनने के सापेक्ष साधन', पृष्ठ २० के आधार पर।

१०. 'समालोचना-समुच्चय', 'उर्दू शतक', पृष्ठ १४३ के आधार पर।

स्पष्ट सन्देश दिया था। रस, भाव, अलङ्कार, छन्दःशास्त्र और नायिकाभेद से मानवजाति का बहुत ही कम उपकार हो सकता है। उसका त्याग आवश्यक है। इस प्रकार का साहित्य समाज की दुर्बलता का चिन्ह है। इसके न होने से साहित्य का लाभ होगा।[1] लोक-रुचि के अनुसार सहज मनोहर काव्य-रचना की अपेक्षा है जिससे जनता में नवीन कविता के प्रति अनुराग उत्पन्न हो। नवीन भाव-विचार को लेकर कल्पित अथवा सत्य आख्यान के द्वारा सामाजिक, नैतिक आदि विषयो पर काव्य-निबन्धना होनी चाहिए।

आलोचना के विषय में भी द्विवेदी जी के विचार निश्चित थे। 'हिन्दी कालिदास' की समालोचना में उन्होंने सुबन्धु की 'वासवदत्ता' के निम्नांकित श्लोक को उद्धृत करके आलोचना के अर्थ और प्रयोजन की ओर संकेत किया था--

गुणिनामपि निजरूपप्रतिपत्तिः परत एव संभवति।
स्वमहिमदर्शनमक्ष्णोर्मुकुरतले जायते यस्मात् ॥

अपने इस विचार को उन्होंने 'कालिदास और उनकी कविता' में स्पष्ट किया है--

"कवि या ग्रन्थकार जिस मतलब से ग्रन्थरचना करता है उससे सर्वसाधरण को परिचित कराने वाले आलोचक की बड़ी ही जरूरत रहती है। ऐसे समालोचकों की समालोचना से साहित्य की विशेष उन्नति होती है और कवियो के गूढ़ाशय मामूली आदमियों की समझ में आ जाते हैं। कालिदास की शकुन्तला, प्रियम्वदा और अनसूया में क्या भेद है? उनके स्वभावचित्रण में कवि ने कौन कौन सी खूबियां रक्खी है? उनसे क्या क्या शिक्षा मिलती है? ये बातें सब लोगों के ध्यान में नहीं आ सकतीं अतएव वे उनसे लाभ उठाने से वंचित रह जाते हैं। इसे थोड़ी हानि न समझिए। इससे कवि के उद्देश का अधिकाश ही व्यर्थ जाता है। योग्य समालोचक समाज को इस हानि से बचाने की चेष्टा करता है। इसी से साहित्य में उसका काम इतने आदर की दृष्टि से देखा जाता है--इसी से साहित्य की उन्नति के लिए उसकी इतनी अवश्यकता है।"[2]

परम्परागत भारतीय समालोचनाप्रणाली के भक्त होते हुए भी द्विवेदी जी ने पाश्चिमात्य नवीन प्रणाली के गुणो को अपनाया।[3] दोषदर्शन को उन्होंने बुरा नही समझा। उनका कथन है कि समालोचक को न्यायाधीश की भांति निष्पक्ष और निर्भय होना पड़ता है। सच्चे समालोचक को बड़े बड़े कवि, विज्ञानवेत्ता, इतिहास-लेखक और वक्ताओ की कृतियों पर

१. 'रसज्ञरंजन', 'नायिकाभेद', पृष्ठ ६२ के आधार पर।
२. 'कालिदास और उनकी कविता', पृ० १३।
३ 'प्राचीन कवियों के काव्यों में दोषोद्भावना', 'आलोचनांजलि', पृ० ३।

फैसला सुनाने का अधिकार होता है। ढंग सभ्यतापूर्ण और युक्ति-संगत होना चाहिए। पांडित्यसूचक आलोचना भूलों के प्रदर्शन तक ही रह जाती है। प्रमुख बात तो आलोचक की वस्तूपस्थापन-शैली, मनोरंजकता, नवीनता, उपयोगिता आदि है। जिसके कार्य या ग्रन्थ की समालोचना करनी है उसके विषय में समालोचक के हृदय में अत्यन्त सहानुभूति का होना बहुत आवश्यक है। लेखक, कवि या ग्रंथकार के हृदय में घुसकर समालोचक को उसके हर एक परदे का पता लगाना चाहिए। अमुक उक्ति लिखते समय कवि के हृदय की क्या अवस्था थी, उसका आशय क्या था, किस भाव को प्रधानता देने के लिए उसने वह उक्ति कही थी—यह जब तक समालोचक को नहीं मालूम होगा तब तक वह उस उक्ति की आलोचना कभी न कर सकेगा। किसी वस्तु या विषय के सब अंशो पर अच्छी तरह विचार करने का नाम समालोचना है। वह तबतक संभव नहीं जब तक कवि और समालोचक के हृदय में कुछ देर के लिए एकतान्न स्थापित हो जाय।[1] व्यवहार के क्षेत्र में आकर समालोचकों को अनेक बातों का ध्यान रखना पड़ता है। समाज के भय की चिन्ता न करके विचारों को स्वतन्त्रतापूर्वक उपस्थित करने का उनमें गुण होना चाहिए। उनका कथन स्पष्ट, सोद्देश्य, तर्कसम्मत और साधिकार होना चाहिए।[2] आलोचन का लक्ष्य मत का निर्माण और रुचि का परिष्कार है। अनर्गल बातें और अत्युक्तिया तो सर्वथा त्याज्य हैं।[3] जहां पारस्परिक तुलना और श्रेष्ठता का प्रश्न हो वहां युग, परिस्थिति, व्यक्ति, लक्ष्य, कल्याणकारिता आदि पर भलीभांति विचार करना पड़ता है। आलोचक की तुली हुई और संयत भाषा में गहरे चिन्तन एवं मूल्यांकन का आभास मिलना चाहिए। द्विवेदी जी ने अपने उपर्युक्त सभी सिद्धान्तों को कार्यान्वित करने का भरसक प्रयास किया परन्तु युग की बहुमुखी आवश्यकताओं ने पूर्ण सफलता न पाने दी। इसकी समीक्षा आगे की जायगी।

टीकापद्धति ने सिद्धान्त की अपेक्षा आलोच्य कृति को अधिक महत्व दिया है। मल्लिनाथ आदि कोरे टीकाकार ही न थे, समालोचक भी थे। टीका लिखते समय उन्होंने कवि के आशय को तो स्पष्ट करके बता ही दिया है, उसकी उक्तियों की विशेषताएं भी बताई हैं और रस, अलङ्कार, ध्वनि आदि का भी उल्लेख किया है। इस पद्धति ने रचनागत अर्थ और व्याकरणपक्ष पर ही अधिक ध्यान दिया। सम्भवतः संस्कृत के उस उत्थान-काल में काव्य-जैसे सरल विषय की विस्तृत आलोचना अनपेक्षित समझी गई थी। रूपकों के टीकाकारों

१. 'कालिदास और उनकी कविता', पृ० ११२।
२. 'समालोचना-समुच्चय', 'हिन्दी नवरत्न', पृ० २००, २११, २३३ के आधार पर।
३. 'समालोचना-समुच्चय', हिन्दी नवरत्न, पृ० २३५ के आधार पर।

ने स्थान स्थान पर शास्त्रीय दृष्टि से उनकी बहुत कुछ आलोचना की है, यथा नान्दी, प्रस्तावना, सन्धियां, सन्ध्यङ्गों आदि के अवसरों पर। व्याकरण, दर्शन आदि काव्येतर विषयों की आलोचना पर्याप्त और विशद हुई, उदाहरणार्थ पतंजलि का 'महाभाष्य', 'शाकरभाष्य' आदि। इस पद्धतिकी विशेषता अर्थव्याख्या के साथ साथ रस, अलङ्कार आदि के निर्देशन में है। हिन्दी में 'मानसपीयूष', पद्मसिंहशर्मा की 'बिहारी-सतसई', जगन्नाथदास का 'बिहारी-रत्नाकर' आदि इसी कोटि की कृतियाँ हैं। हिन्दी के श्रेष्ठ समालोचक रामचन्द्र शुक्ल भी अपनी आलोचनाओं के बीच बीच में इस पद्धति पर चले बिना नहीं रह सके हैं।[1]

केवल हिन्दी जानने वालों को 'भामिनी-विलास' आदि की काव्यमाधुरी का आस्वाद कराने के लिए द्विवेदी जी ने उनके हिन्दी-भाषान्तर प्रस्तुत किए। उन अनुवादों में आलोचनात्मक टीकापद्धति की कोई विशेषता नहीं है। संस्कृत-टीकापद्धति का उद्देश था सरल वर्णनात्मक शैली में पाठकों को आलोचित ग्रंथ के अर्थ और गुणदोषका ज्ञान कराना। इस उद्देश और शैली के अनुकूल चलने वाली द्विवेदीकृत आलोचना में हम इस पद्धति के तीन विकसित या परिवर्तित रूप पाते हैं। पहला रूप है उनके द्वारा की गई काव्य-चर्चा।[2] 'नैषधचरितचर्चा' और 'विक्रमांकदेवचरितचर्चा' में 'नैषधचरित' और 'विक्रमांकदेवचरित' की परिचयात्मक आलोचना है। काव्य के रचयिता और कथा के परिचय के साथ कहीं कहीं कवित्वमय सुन्दर स्थलों की व्याख्या भी की गई। 'कालिदास की वैवाहिकी कविता',[3] 'कालिदास की कविता में चित्र बनाने योग्य स्थल'[4] आदि व्याख्यात्मक आलोचनाएं संस्कृत-टीकापद्धति के अधिक समीप हैं। दूसरा रूप है 'सरस्वती' में प्रकाशित पुस्तक-परिचय। इसमें संस्कृत टीकापद्धति की भांति पदगत अर्थ या गुणदोषविवेचन आलोचक का लक्ष्य नहीं है। पुस्तक की परीक्षा व्यापक रूप में की गई है। द्विवेदीलिखित व्याख्यात्मक आलोचना के तीसरे रूप में साहित्यकारों की जीवनियां हैं। 'कोविदकीर्तन

---

१ 'भ्रमरगीतसार' की भूमिका में सूर की आलोचना।

२. "संस्कृत ग्रन्थों की समालोचना हिन्दी में होने से यह लाभ है कि समालोचित ग्रन्थों का सारांश और उनके गुणदोष पढ़ने वालों को विदित हो जाते हैं। ऐसा होने से सम्भव है कि संस्कृत में मूल ग्रन्थों को देखने की इच्छा से कोई कोई उस भाषा का अध्ययन करने लगें, अथवा उसके अनुवाद देखने की अभिलाषा प्रकट करें। अथवा यदि कुछ भी न हो, संस्कृत का प्रेममात्र उनके हृदय में अंकुरित हो उठे, तो इसमें भी थोड़ा बहुत लाभ अवश्य ही है।"

'विक्रमांकदेवचरितचर्चा', पृ० १।

३. 'सरस्वती', जून, १९०५ ई०।

४. 'सरस्वती', एप्रिल, १९११ ई०

'प्राचीन पण्डित और कवि', 'सुकविसङ्कीर्तन' आदि इसी प्रकार की आलोचना-पुस्तकें हैं। संस्कृत-साहित्य में रचना की व्याख्या में रचनाकार को कोई स्थान नहीं दिया गया था। इसका कारण था उन आलोचकों का दृष्टिभेद। वे अर्थ की व्याख्या करते चले जाते थे और जहा प्रयोजन समझते थे, न्यूनाधिक आलोचना भी कर देते थे। उन आलोचकों के समक्ष एक ही प्रश्न था--आलोच्य वस्तु क्या है? उसके रचनाकार तक जाना उन्होंने निष्प्रयोजन समझा। द्विवेदी जी ने रचयिताओं की आलोचनाद्वारा उनकी कृतियों से भी पाठकों को परिचित कराया। उपर्युक्त रचनाओं के अतिरिक्त 'अश्वघोषकृत सौन्दरानन्द',[१] 'महाकवि भास के नाटक',[२] वेंकटेश्वर प्रेस की पुस्तकें',[३] 'गायकवाड़ की प्राच्यपुस्तकमाला'[४] आदि फुटकल लेख भी इसी कोटि मे हैं।

पूर्ववर्ती समीक्षको से असहमत होने के कारण उनके परवर्ती आलोचकों ने तर्कपूर्ण युक्तियो के द्वारा दूसरो के मत का खंडन और अपने विचारों का मंडन करने के लिए शास्त्रार्थपद्धति चलाई। इन आलोचको ने विपक्ष के दोषो और अपने पक्ष के गुणों को ही देखने की विशेष चेष्टा की। कहीं तो समीक्षक ने तटस्थभाव से ईर्ष्यामत्सरादिरहित होकर सूक्ष्म विवेचन किया, यथा आनन्दवर्द्धन ने 'ध्वन्यालोक' के तृतीय उद्योत में और मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' के चतुर्थ और पंचम उल्लास मे। कहीं पर उसने गर्व के वशीभूत होकर पूर्ववर्ती आचार्यों के सिद्धान्तों का खंडन और अपने विचारों का मंडन किया यथा पंडितराज जगन्नाथ ने 'रसगंगाधर' में; और कहीं पर उसने शत्रुभाव से विपक्ष का सर्वनाश करने की चेष्टा की। इस दृष्टि से महिमभट्ट का व्यक्ति-विवेक' अत्यन्त रोचक और निराला है। आधुनिक हिन्दी के आलोचना-साहित्य मे भी 'बिहारी और देव', 'देव और बिहारी' आदि शास्त्रार्थपद्धति पर की गई रचनाएं है।

'चरित और चरित्र' अध्याय मे यह कहा जा चुका है कि किसी विषय में विवाद उपस्थित हो जाने पर द्विवेदी जी अपने कथन को पाडित्य और तर्क के बल से अकाट्य प्रमाणित करके ही छोड़ते थे। आलोचनाक्षेत्र में भी उनकी यह विशेषता कम महत्वपूर्ण नहीं है। 'नैषध-चरितचर्चा और सुदर्शन',[५] 'भट्टी कविता',[६] 'भाषा और व्याकरण',[७] 'कालिदास की

१. 'सरस्वती', १९१३ ई०, पृ० २८०।
२. 'सरस्वती', १९१३ ई०, ,, ६३।
३ ,, १९१७ ई०, ,, १४०, १९७, २६५।
४. ,, १९१६ ई०, ,, १६३।
५. 'सरस्वती', १९०१ ई०, ,, ३४५।
६. ,, १९०६ ई०, ,, ३६३।
७. ,, ,, ,, ६०।

निरंकुशता पर विद्वानों की सम्मतियां',[१] 'प्राचीन कवियों के काव्यों में दोषोद्भावना'[२] आदि उनकी आलोचनाएं शास्त्रार्थपद्धति पर की गई हैं। विपक्ष का खंडन और स्वपक्ष का मंडन करते समय उन्होंने कठोर तर्क से काम लिया है। ओज लाने के लिए उन्होंने निस्संकोचभाव से संस्कृत, फारसी आदि के शब्दो का प्रयोग किया है। कहीं कहीं आक्षेपों की तीव्रता असह्य हो गई है।[३] स्थान स्थान पर सन्दर्भों, सिद्धान्तो आदि का सन्निवेश करके अपने मत को पुष्ट सिद्ध करने में उन्हें सफलता मिली है।[४]

सुन्दर जँचनेवाली वस्तु की प्रशंसा करना मनुष्य का स्वभाव है। संस्कृत-काव्यों और कवियों के विषय में भी प्रशंसात्मक सुभाषित लोकोक्तियों के रूप में प्रचलित हुए यथा—

उपमा कालिदास्य भारवेरर्थगौरवम्।
नैषधे पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः॥

१. ,, १९११ ई०, पृ० १६२।

२. ,, ,, , १९६, २२३, २७२।

३. "अपने पहले लेख में एक जगह हमने लिखा—मन में जो भाव उदित होते हैं वे भाषा की सहायता से दूसरों पर प्रकट किए जाते हैं। इस पर उम्र भर कवायददानो की सोहबत और ज़ुबादानो की खिदमत करके नामपाने वाले हमारे समालोचकों में से एक समालोचकशिरोमणि ने दूर तक मसखरापन छांटा है। आप की समझ में यहां पर सहायता गलत है। अब आप को चाहिए कि ज़रा देर के लिए ज़ुबांदानी का चोगा उतार कर मेक्समूलर के सामने आवें। या अगर उर्दू फारसी ही के जाननेवाले आप की समझ में सर्वज्ञ हों तो हेचमदानी का जामा पहन कर आप पंडित इकबाल कृष्ण कौल एम० ए० के ही सामने सिर झुकावें। 'रिसाले तालीम व तरबियत' नाम की अपनी किताब के शुरू ही में पंडित साहब फ़रमाते हैं—"अशयाए ख़ार्जिया का इल्म हमको इन्ही कुवतों के ज़रिए होता है। ...हवास के ज़रिए जो ख़यालात पैदा होते हैं...।" लेकिन दूसरों को भी कुछ समझने और उनकी बात मानने वाले जीव और ही होते हैं। बहुत तरफ की बातें फाकने का ख्याल आते ही इन जीवों को तो जूड़ी आ जाती है। वे इन्हे हजम ही नहीं होतीं। हजम होती है सिर्फ एक चीज़—प्रलाप। उसे वे इतना खा जाते हैं कि उगलना पड़ता है।"

सरस्वती, 'भाग ७, सं० २, पृ० ६३।

४. "योग्य समालोचक के लिए यह कोई नहीं कह सकता कि जिसकी पुस्तक की तुम समालोचना करना चाहते हो उसके बराबर विद्वत्ता प्राप्त कर लो तब तो समालोचना लिखने के लिए कलम उठाओ। होमर ने ग्रीक भाषा में 'इलियड' काव्य लिखा है। वाल्मीकि और कालिदास ने संस्कृत में अपने काव्य लिखे हैं। फिरदौसी ने फारसी में 'शाहनामा' लिखा है। कौन ऐसा समालोचक इस समय है जो इन भाषाओं में पूर्वोक्त विद्वानों के सदृश योग्यता रखने का दावा कर सकता हो?"

"आलोचनांजलि", पृ० ३।

तावद्भा भारवेर्भाति यावन्माघस्य नोदयः ।
उदिते नैषधे काव्ये क्व माघः क्व च भारविः ॥
रुचिरस्वरवर्णपदा नवरसरुचिरा जगन्मनोहरति ।
किं सा तरुणी ? नहि नहि वाणी बाणस्य मधुरशीलस्य ॥

अपनी तथा दूसरों की प्रशंसा में महान् कवियों और आचार्यों ने भी सूक्तियों की रचना की।[1] हिन्दी में भी प्रशंसात्मक सूक्तिया लोकप्रचलित हुईं, यथा—

सूर सूर तुलसी ससी उडुगन केसवदास ।
अब के कवि खद्योत सम जहं तहं करहिं प्रकास ॥
कविताकर्त्ता तीन हैं तुलसी केसव सूर ।
कविता खेती इन लुनी कांकर बिनत मंजूर ॥
तुलसी गङ्ग दुऔ भए सुकबिन के सरदार ।
इनके काव्यन में मिली भाषा विविध प्रकार ॥
साहित्यकानने ह्यस्मिंश्जङ्गमस्तुलसीतरुः ।
कवितामञ्जरी यस्य रामभ्रमरभूषिता ॥

आधुनिक हिन्दी-साहित्य मे भी सूक्तिपद्धति पर रचनाएं हुई हैं। डाक्टर रसाल का 'उद्धवशतक' का प्राक्कथन, 'शेषस्मृतिया' की रामचन्द्र शुक्ल-लिखित भूमिका आदि कृतियां आधुनिक समालोचना के साचे मे ढली हुई प्रवर्द्धित, संस्कृत, गद्यमय और प्रशंसात्मक

---

१. क नीलोत्पलदलश्यामां विज्जिकां मामजानता ।
वृथैव दंडिना प्रोक्तं सर्वशुक्ला सरस्वती ॥
विज्जिका देवी ।

ख. कवीनामगलद्दर्पो नूनं वासवदत्तया ।
बाणभट्ट, 'हर्षचरित' की भूमिका ।

ग. यदि हरिस्मरणे सरसं मनो यदि विलासकलासु कुतूहलम् ।
मधुरकोमलकान्तपदावलिं शृणु तदा जयदेवसरस्वतीम् ॥
जयदेव, 'गीतगोविन्द' की भूमिका ।

घ. भासनाटकचक्रेऽपिच्छेकैः क्षिप्ते परीक्षितुम् ।
स्वप्नवासवदत्तस्य दाहकोऽभून्न पावकः ॥
बाण—'हर्षचरित'

निमग्नेन क्लेशैर्मननजलधेरन्तरुदरं
मयोन्नीतो लोके ललितरसगंगाधरमणिः ।
हरन्नन्तर्ध्वान्तं हृदयमधिरूढो गुणवता—
मलंकारान् सर्वानपि गलितगर्वान् रचयतु ॥
पंडितराज जगन्नाथ, 'रसगंगाधर', पृ० २१ ।

सूक्तियां ही हैं। मैत्री, विज्ञापन आदि से अप्रभावित गुणवाचक आलोचना भी रचनाकारों और भावकों का विशेष हित कर सकती है।

द्विवेदी जी द्वारा सूक्तिपद्धति पर की गई आलोचनाएँ अपेक्षाकृत बहुत कम हैं। 'महिषशतक की समीक्षा'-जैसे लेख 'गर्दभकाव्य' और 'बलीवर्द' का औचित्य सिद्ध करने और 'हिन्दी-नवरत्न'[1] आदि दोषान्वेषण के अयश से बचने के लिए ही लिखे गए जान पड़ते हैं। श्रीधर पाठक की 'काश्मीर-सुषमा', मैथिलीशरण गुप्त की 'भारत-भारती', 'गोपालशरण सिंह की कविता' आदि की जो आलोचनाएँ द्विवेदी जी ने की हैं वे वस्तुतः प्रशंसात्मक हैं।[2] परम्परागत सूक्तिपद्धति और द्विवेदीकृत सूक्तिसमीक्षा में केवल रूप और आकार का ही अन्तर है। द्विवेदी जी की आलोचनाएं गद्यमय और विस्तृत हैं। हां, प्रभावोत्पादकता लाने के लिए कहीं कहीं प्रशंसात्मक पदों की योजना अवश्य कर दी गई है।[3] द्विवेदी जी की सूक्तियों में किसी प्रकार की मायिकता या पक्षपात नहीं है।[4] धर्मसंकट की दशा में जिस रचना की प्रशंसा करना उन्होंने अनुचित समझा उसकी आलोचना करना ही अस्वीकार कर दिया।[5]

---

१. 'सरस्वती', १९१२ ई०, पृ० ३०।

२. ये तीनों आलोचनाएँ 'सरस्वती' में क्रमशः जनवरी, १९०५ ई०, अगस्त, १९१४ ई० और सितम्बर, १९१४ ई० में प्रकाशित हुई थीं।

३. "यही स्वर्ग सुरलोक यही सुरकानन सुन्दर।
यहि अमरन को ओक, यहीं कहुं बसत पुरन्दर॥
ऐसे ही मनोहर पद्यों में आपने 'काश्मीर-सुषमा' नाम की एक छोटी सी कविता लिखकर प्रकाशित की है काश्मीर को देखकर आपके मन में जो जो भावनाएं हुई हैं उनको उसमें आपने मधुमयी कविता में वर्णन किया। पुस्तक के अन्त में आपकी 'शिमलाप्रेक्षणम्' नाम की एक छोटी सी संस्कृत कविता भी है। हम कहते हैं कि—
ताहि रसिकवर सुजन अवसि अवलोकन कीजै।
मम समान मनमुग्ध ललकि लोचनफल लीजै।"
'सरस्वती', भाग ६, पृ० २।

४. "मित्रता के कारण किसी की पुस्तक को अनुचित प्रशंसा करना विज्ञापन देने के सिवा और कुछ नहीं।"
द्विवेदी जी—'विचार-विमर्श', पृ० ४५।

५. " 'साधना' उत्कृष्ट छपाई और बंधाई का आदर्श है। देखकर चित्त बहुत प्रसन्न हुआ बाबू मैथिली शरण पर और आप पर भी मेरा जो भाव है वह मुझे इस पुस्तक की समालोचना करने में बाधक है। अपनी चीज को समालोचना ही क्या ? अतएव क्षमा कीजिएगा।"
रायकृष्ण दास को लिखित, २१.७.१९१८ ई०, 'सरस्वती', भाग ४६ सं० २, पृ० ८२।

मनुष्य के जो लोचन केवल गुण ही देख सकते हैं, उनमें केवल दोष ही देखने की भी प्रवृत्ति है। इसी सहजबुद्धि ने पंडितराज जगन्नाथकृत 'चित्रमीमांसाखण्डन' आदि को जन्म दिया। हिन्दी-समालोचनासाहित्य में कृष्णानन्द गुप्त-लिखित 'प्रसाद जी के दो नाटक' आदि इसी प्रकार की रचनाएं हैं। संस्कृत-साहित्य में आचार्यपद्धति में भी दूसरों का खण्डन किया गया था। परन्तु वह खंडन-पद्धति से बहुत कुछ भिन्न था। वह केवल खंडन के लिए न था। वह साध्य नहीं था, साधन था। अपने मत को भली भांति पुष्ट और आप्त सिद्ध करने के लिए विरोधी मतों का समुचित खण्डन अनिवार्य था। खंडनपद्धति सोलहों आने दोषदर्शनप्रणाली है। ईर्ष्या, द्वेष आदि से रहित होकर की गई दोषवाचक आलोचना भी, दूषित और भ्रष्ट रचनाओं का प्रचार रोकने तथा साहित्यकारों को त्रुटियों और दोषों के प्रति सावधान करने लिए, साहित्य की महत्वपूर्ण आवश्यकता है।

संस्कृत-साहित्य में खण्डनपद्धति के दो रूप मिलते हैं। एक तो आचार्यों द्वारा उन सिद्धान्तों या अर्थों का खण्डन जिनको उन्होंने स्वीकार नहीं किया; उदाहरणार्थ अभिनव गुप्त-कृत भट्ट लोल्लट, श्री शंकुक और भट्ट नायक की रस-विषयक व्याख्या का दोषनिरूपण। इसका उद्देश था वास्तविक ज्ञान का प्रचार। दूसरे रूप में वह खंडन है जिसमें मत्सरादिग्रस्त आलोचक ने अपने पांडित्य और आलोचित की अज्ञता या हीनता का प्रदर्शन करने का प्रयास किया है, यथा जगन्नाथ राय का 'चित्रमीमांसा-खण्डन'। इस पद्धतिकी विशेषता है केवल त्रुटियों या अभावों की समीक्षा। द्विवेदी जी की खंडनपद्धति दो प्रकार की है — अभाव-मूलक और दोषमूलक। पहली का उद्देश था हिन्दी के अभावों की आलोचना द्वारा उनकी पूर्त्ति के लिए हिन्दी-साहित्यकारों को प्रेरित करना। इसके दो रूप हैं—एक का उदाहरण है 'हिन्दी-साहित्य'[1] सरीखे व्यंग्यचित्र और दूसरी के उदाहरण 'कवियों की उर्मिला विषयक उदासीनता'[2] आदि लेख हैं जिनमें हिन्दी की आवश्यकताओं की ओर ध्यान दिया गया है। 'हिन्दी-नवरत्न' आदि लेखों में भी यत्र तत्र आलोचना की इस पद्धति का पुट है।[3]

---

१. 'सरस्वती', १६०२ ई०, पृ० ३२।

२. 'रसज्ञरंजन' में संकलित।

३. "वे दिखलाते कि कौन कौन सी बातें होने से किसी कवि की गणना रत्न कवियों में हो सकती है। फिर कविरत्नों की कवितादीप्ति की भिन्न भिन्न प्रभाओं की मात्रा निर्दिष्ट करते, जिससे यह जाना जा सकता कि कितनी प्रभा होने से बृहत्, मध्य और लघुत्रयी में उन कवियों को स्थान दिया जा सकता है। यदि वे ऐसा करते तो उनके बतलाए हुए लक्षणों की जांच करने में सुभीता होता, तो लोग इस बात की परीक्षा कर सकते कि जिन गुणों के होने से लेखकों ने कवि को कविरत्न की पदवी के योग्य समझा है वे गुण

द्विवेदी जी की दोषमूलक आलोचना के अनेक उद्देश थे। हिन्दी में बढ़ते हुए कूड़ाकरकट के संहार के लिए 'भाषा-पद्य-व्याकरण' आदि की खंडनप्रधान तीव्र आलोचना[1] की अनिवार्य अपेक्षा थी। लाला सीताराम आदि लेखकों के अनुवादों की दोषमूलक समीक्षा का लक्ष्य था कालिदासादि महान् कवियों के गौरव की रक्षा।[2] 'हिन्दी-नवरत्न' आदि की आलोचना द्वारा वे लेखकों को सुधार कर साहित्य-रचना के आदर्श मार्ग पर लाना चाहते थे।[3] 'कालिदास की निरंकुशता'-जैसी समीक्षा साहित्यमर्मज्ञों के मनोरंजनार्थ लिखी गई थी।[4] इन समालोचनाओं के शरीर भी अनेक प्रकार के थे। 'कलासर्वज्ञसम्पादक',[5] 'काशी

वैसे ही हैं या नहीं, और वे प्रस्तुत कवियों में पाये भी जाते हैं या नहीं।"

'समालोचना-समुच्चय', पृ० २०७।

१. आपने कैसे पद्य में व्याकरणविषय सिखाये हैं सो भी देख लीजिए। अनुवाद विषय पाठ आप यों पढ़ते हैं--

प्रथम स्वभाषा वाक्य को स्यामपटल पर लिखौ।
बालकगण स्वकापी पर प्रतिलेख सबै लिखौ॥
प्रथम कर्ता क्रिया कहै अन्य भाषा जानै।
प्रश्नद्वारा शब्द रचै तुल्य कारक जानै॥
क्रियापद स्थान देखि क्रियापदे प्रकाशै।
कर्ता कर्म क्रिया जोड़ि लघुवाक्य प्रकाशै॥

भगवान पिंगलाचार्य ही आपके इस छन्द का नामधाम बतावैं तो बता सकते हैं, और आपके इस समग्र पाठ का अर्थ भी शायद कोई आचार्य ही अच्छी तरह बता सके।....

आपने पुस्तकादि में जो एक छोटी सी भूमिका लिखी है, उसका पहला ही वाक्य है 'मैंने यह पुस्तक बड़े परिश्रम से बनाई है और आज तक ऐसी पुस्तक भारतवर्ष में किसी से नहीं लिखी गई।' सचमुच ही न लिखी गई होगी। आपके इस कथन में ज़रा भी अत्युक्ति नहीं। भारतवर्ष ही में क्यों शायद और भी किसी देश में भी ऐसे पद्य में ऐसा व्याकरण न लिखा गया होगा।....

आचार्य जी ने अपने व्याकरण का आरम्भ इस प्रकार किया है-

श्री गुरु चरण सरोज रज निज मन मुकुर सुधारि।
रचौं व्याकरण पद्य में जो दायक फल चारि॥

सो अब धार्मिक हिन्दुओं को चतुर्वर्ग की प्राप्ति के लिए पूजापाठ, दानपुण्य छोड़कर केवल आपके व्याकरण का पारायण करना चाहिए। तुलसीदास पर जो आपने कृपा की है उसके लिए हम गोसाईं जी की तरफ से कृतज्ञता प्रकट करते हैं।

'विचार-विमर्श', पृ० १८५-८६।

२. देखिए 'हिन्दी कालिदास की समालोचना', पृ० ७२

३. 'समालोचना-समुच्चय', पृ० २८६।

४. देखिए 'कालिदास की निरंकुशता', पृ० ३।

५. 'सरस्वती', १९०३ ई०, पृ० ३६।

का साहित्य-सूत्र',[1] 'शूरवीर समालोचक'[2] आदि व्यंग्यचित्र हैं। 'हिन्दी कालिदास की समालोचना', 'हिन्दी शिक्षावली तृतीय भाग की समालोचना' और 'कालिदास की निरंकुशता'[3] पुस्तकाकार प्रकाशित हुईं। 'नायिकाभेद',[4] 'हिन्दी-नवरत्न',[5] आदि आलोचनात्मक निबन्ध हैं। 'हे कविते'[6] 'ग्रन्थकारलक्षण',[7] आदि कविताओं में भी आलोचना की प्रधानता है। 'भाषा-पद्य व्याकरण',[8] आदि की आलोचनाएं पुस्तक-परिचय के रूप में लिखी गई थीं। (इन आलोचनाओं के लेखकरूप में उन्होंने अपना नाम न देकर कल्पित नामों का भी प्रयोग किया है। 'समाचारपत्रों का विराट् रूप'[9] के लेखक पंडित कमला किशोर त्रिपाठी और 'राम कहानी की समालोचना'[10] के श्री कंठ पाठक एम० ए० हैं।) इन आलोचनाओं की अभिव्यंजनाशैली अपेक्षाकृत अधिक व्यंग्यात्मक, आक्षेपपूर्ण और कहीं कहीं हास्यमिश्रित है।[11] द्विवेदी-कृत खंडनात्मक, आलोचनाओं का कारण किसी प्रकार का ईर्ष्याद्वेष नहीं है। हिन्दी का सच्चा उपासक उसके मन्दिर में किसी भी प्रकार का व्यभिचार नहीं देख सका है। इसीलिए उसमें कटुता आ गई है किन्तु वह सार्वत्रिक न होकर यथास्थान है। सच तो यह है कि हिन्दी-साहित्य के ढीठ चोरों और कलंककारियों की असंगतगति को रोकने के लिए द्विवेदी जी-जैसे नैतिक समालोचक की ही आवश्यकता थी।

संस्कृत-साहित्य में आलोचना का उत्कृष्टतम रूप लोचनपद्धति में दिखाई देता है। यह पद्धति पूर्वोक्त पांचों पद्धतियों के अतिरिक्त कोई पदार्थ नहीं है। अन्तर केवल इतना ही है कि इसमें आलोचक आलोच्य विषय के अर्थ को पूर्णतया हृदयंगम करके रचनाकार की अन्तर्दृष्टि की विशद समीक्षा करता है। यह टीका-पद्धति से अनेक बातों में भिन्न है। टीका-पद्धति का क्षेत्र व्यापक किन्तु दृष्टि सीमित है। उसकी पहुँच काव्य, साहित्य आदि

---

१. 'सरस्वती', १९०३ ई०, पृ० ४०६।
२. 'सरस्वती', १९०३ ई०, ,, २९५।
३. पहले लेखरूप में 'सरस्वती' १९१२ ई० पृ० ७,७५ और १०७ में प्रकाशित।
४. 'सरस्वती', १९०१ ई०, पृ० १९५।
५. ,, १९१२ ई०, ,, ६९।
६. ,, १९०१ ,, १९८।
७. ,, ,, २५५।
८. ,, अगस्त १९१३ ई०।
९. ,, १९०४ ई० पृ० ३९७।
१०. ,, १९०९ ई०, ,, ४५०।
११. क. हिन्दी शिक्षावलीतृतीय भाग की समालोचना, पृ० ६।
ख. 'भाषा और व्याकरण', 'सरस्वती' भाग ७, सं० २, पृ० ७० और ८१।

के सभी विषयों तक है। परन्तु वह रचनागत साधारण अर्थ, व्याकरण, रस, अलङ्कार आदि से आगे नहीं बढ़ सकी है। लोचन-पद्धति की दृष्टि रचनाकार की अंत:समीक्षा और तुलनात्मक आलोचना तक आगे तो बढ़ी किन्तु उसका विषय साहित्यशास्त्र तक ही सीमित रह गया। काव्यों पर इस प्रकार की आलोचनाएं नहीं हुई। सम्भवतः इन कवियों ने काव्यसम्बन्धी रचनाओं की विस्तृत समीक्षा को व्यर्थ समझा। संस्कृत में अभिनवगुप्त का 'ध्वन्यालोकलोचन' और 'अभिनवभारती' आदि इसी प्रकार की रचनाएं हैं। रामचन्द्र शुक्ल के इतिहास आदि की समीक्षा-शैली इसी लोचन-पद्धति और पाश्चात्य समालोचना-प्रणाली का मिश्ररूप है। संस्कृत में लोचन-पद्धति पर की गई आलोचना सौन्दर्यमूलक रही है। भारतीय 'आलोचक ने आलोच्य रचना सुन्दर या असुन्दर क्यों है' इस प्रश्न का उत्तर देने के लिये रचनाकार की जीवनी, विषय के इतिहास, तत्कालीन समाज आदि को दृष्टि में रखकर आलोचना नहीं की। ये विशेषताएं पश्चिमीय साहित्य ने ही हिन्दी को दी हैं।

'मेघदूत-रहस्य',[1] 'रघुवंश' और 'किरातार्जुनीय' की भूमिकाएं आदि लोचन-पद्धति पर द्विवेदी जी द्वारा की गई आलोचनाएं हैं इनमें उन्होंने रचना के विषय में मुख्यतः चार दृष्टियों से विचार किया है— सौन्दर्य, इतिहास, जीवनी और तुलना। सौन्दर्य-दृष्टि से उन्होंने केवल रचना के अन्तर्गत सौन्दर्य तथा उसके गुण-दोष का विवेचन किया है। इतिहास-दृष्टि से रचनाविषयक इतिहास और रचनाकाल की सामाजिक आदि परिस्थितियों की भूमिका में उसकी समीक्षा की है। जीवनी-दृष्टि से रचना में रचनाकार के व्यक्तित्व, अनुभव आदि का प्रतिबिम्ब खोजते हुए उसकी आलोचना की है। तुलना-दृष्टि से उसी वर्ग की अन्य रचनाओं या रचनाकारों की तुलना में प्रस्तुत रचना या रचनाकार की उत्कृष्टता या निकृष्टता की जाँच की है। भारवि पर लिखी गई आलोचना इस पद्धति का विशिष्ट आदर्श है। उसमें उन्होंने भारवि की काव्य-कला पर उपर्युक्त सभी दृष्टियों से विचार किया है।[2] 'कालिदास के मेघदूत का रहस्य' में सौन्दर्य, 'अकबर के राजत्वकाल में

---

१. 'सरस्वती', अगस्त, १६१२ ई०।

२. उदाहरणार्थ—

क. तुलनात्मक—"शिशुपालवध के कर्ता माघ पंडित भारवि के बाद हुए हैं। जान पड़ता है, माघ ने किरातार्जुनीय को बड़े ध्यान से पढ़कर अपने काव्य की रचना की है। क्योंकि दोनों में कथावतरणसम्बन्धिनी अनेक समताएं हैं।......"

'किरातार्जुनीय' की भूमिका, पृ० १३.१४।

ख. सौन्दर्यमूलक—"भारवि को लिखना था महाकाव्य। पर कथानक उन्होंने ऐसा चुना जिसके विस्तार के लिए यथेष्ट सुभीता न था।...आलंकारिकों की आज्ञा के पाश में फंसने के कारण ही भारवि को कथा का अस्वाभाविक विस्तार करना पड़ा और ऐसी ऐसी विशेषताएं रखनी पड़ीं जिनसे काव्यानन्द की प्राप्ति में कमी आ जाती है।"

'किरातार्जुनीय' की भूमिका, पृ० २७ और ३०।

हिन्दी'[1] में इतिहास और 'गोपालशरणसिंह की कविता'[2] में जीवनी की ही दृष्टि प्रधान है। लोचनपद्धति की ही नहीं अन्य पद्धतियों की आलोचनाओं में भी उन्होंने आलोच्य रचनाकार की अन्तर्दृष्टि का आवश्यकतानुसार विवेचन किया है। टीका या परिचय की पद्धति पर 'नैषधचरित' की अथवा खंडन-पद्धति पर 'हिन्दी कालिदास' या कालिदास की सौन्दर्यमूलक आलोचना करते हुए द्विवेदी जी ने रचनाकारों के भावों की तह तक जाने का प्रयास किया है।[3] 'हिन्दी-नवरत्न' में मिश्रबन्धुओं ने किसी सारगर्भित और तर्क-सम्मत विवेचन के बिना ही रत्नकोटि में कवियों की मनमानी आयोजना की थी। उनके आलोचन की समालोचना में द्विवेदी जी ने एक रत्न कवि की विशिष्टताओं, उसकी ऐतिहासिक और तुलनात्मक छानबीन को विशेष गौरव दिया।[4]

आलोचनापद्धतियों का पूर्वोक्त वर्गीकरण गणित का-सा नहीं है। एक पद्धति की विशिष्टताएं दूसरी पद्धति की आलोचनाओं में अनायास ही समाविष्ट हो गई हैं। उनके विशिष्ट व्यपदेश का एकमात्र कारण प्राधान्यही है। द्विवेदी जी की आलोचनाओं की उपर्युक्त समीक्षा प्रायः सौन्दर्य-दृष्टि से की गई है। केवल सौन्दर्य के आधार पर उनकी आलोचनाओं को चर्चा या परिचयमात्र कह कर टाल देना आधुनिक समालोचना की दृष्टि से बुद्धि-संगत नहीं है। उनकी आलोचनाओं का वास्तविक मूल्य ऐतिहासिक, तुलनात्मक और जीवनीमूलक दृष्टियों से आँका जा सकता है। उनकी आलोचना-पुस्तकों पर अलग से भी कुछ कह देने की आवश्यकता है।

ग. ऐतिहासिक—"भारवि के जमाने में इन बातों (अप्रासंगिक विस्तार और रचनाविषयक चातुर्य) की गणना शायद दोषों में न होती रही हो। सब प्रकार के वर्णन करना और कठिन से कठिन शब्द चित्र लिख डालना, अब भी पुराने ढंग के कितने ही पंडितों की दृष्टि में दोष नहीं, प्रशंसा की बात है।"

'किरातार्जुनीय' की भूमिका, पृ० ३७।

घ. जीवनीमूलक—"उनके काव्य में दार्शनिक विचार बहुत कम, पर नैतिक विचार बहुत अधिक हैं। वे नीतिशास्त्र के बहुत बड़े पंडित थे। सम्भव है; वे किसी राजा के सभापंडित, धर्माध्यक्ष, न्यायाधीश या और कोई उच्चपदस्थ कर्मचारी रहे हों।··· जहां कहीं मौका मिला है वहां वे नीति की बात कहे बिना नहीं रहे।···राजनीतिज्ञ, नैयायिक और सुकवि होने ही के कारण भारवि ने अपनी वक्तृताओं में अपूर्व योग्यता प्रकट की है"

'किरातार्जुनीय' की भूमिका, पृ० ३३, ३४ और ३५।

१. 'समालोचना-समुच्चय' में, संकलित।
२. 'विचार-विमर्श' में संकलित।
३. उदाहरणार्थ 'नैषधचरित चर्चा', पृ०१३ या 'कालिदास की निरंकुशता', पृ० २।
४. समालोचना-समुच्चय पृ० २०८, २११, २३४, २३९ आदि।

जीवन के क्षेत्र में रूपरंग पहचानने की जो शक्ति है, मन के क्षेत्रमें वह स्मृति, चिन्तना तथा तुलना के रूप में प्रकट होती है। साहित्यिक जगत् में जब वह नीरक्षीरविवेक का रूप धारण करती है तब उसे हम आलोचना कहते हैं। आलोचना की सहज प्रवृत्ति युग, व्यक्ति, विषय, तत्कालीन बौद्धिक स्थिति, रूढ़ि, भावों के प्रकाशन की सुविधा, सम्प्रेषण के साधन आदि बातों के कारण विशिष्ट रूप धारण किया करती है। आलोचक की अभिरुचि उसकी मानसिक भूमिका, उसका सिद्धान्त-पक्ष, उसकी सहृदयता, उसकी सूक्ष्मदर्शिता आदि व्यक्तित्व के आवश्यक उपकरण उसकी आलोचना के आकार और प्रकार का निर्धारण करते हैं। युग की समस्याएं, समाज की आवश्यकताएं, साहित्य की कमियाँ, अच्छाइयाँ या बुराइयाँ किसी न किसी रूप में आलोचना का अंग बन ही जाती हैं। पश्चिम के विज्ञानवादी समाज ने आलोचना की व्याख्यात्मक प्रणाली को जन्म दिया। भारत के निःस्पृह, आत्मविस्मृत और सिद्धान्तवादी आलोचक ने जीवनीमूलक आलोचना की ओर कोई ध्यान ही नहीं दिया। आलोचना की निर्णयात्मक, प्रभावाभिव्यंजक, व्याख्यात्मक, ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक, तुलनात्मक आदि सभी प्रणालियों के पीछे युग, साहित्य आवश्यकताएं तथा व्यक्ति छिपे हुए हैं। द्विवेदी जी के युगनिर्मातृत्व को भूल कर हम उन की रचनाओं की यथार्थ परख नहीं कर सकते। युग को पहचान कर, एक उच्च आदर्श से प्रेरित हो कर, अनवरत साधना के बल पर, आजीवन तपस्या करके उस तपस्वी ने युग-निर्माण के रूप में भावी समाज को जो वस्तु दी है वह कुछ साधारण नहीं है। आज वे समस्याएं नहीं हैं। आज वह युग नहीं है। आज वे प्रश्न नहीं हैं। वर्तमान हिन्दी-साहित्य-भवन के सप्तम तल पर विराजमान समालोचक को यह भी विचारना होगा कि उसके निचले तलों के निर्माता को कितना घोर परिश्रम और बलिदान करना पड़ा था। द्विवेदी जी के प्रत्येक पक्ष को समझने के लिये सतर्कता, दृष्टि-व्यापकता और सहृदयता की आवश्यकता है।

द्विवेदी जी ने आलोचक का बाना युग-निर्माण के महान कार्य के निर्वाह के लिए ही धारण किया था। उनकी आलोचनाओं का वास्तविक मूल्य उनके व्यक्तित्व में है। द्विवेदी जी ने आलोचनाशास्त्र पर कोई पोथा नहीं लिखा और न तो स्थूल और ठोस आलोचनात्मक ग्रन्थों ही की रचना की। युग ने उन्हें ऐसा न करने दिया। ऐसे ग्रन्थों के पढ़ने और समझने वाले ग्राहक ही नहीं थे। इसीलिए उनकी आलोचनाओं ने सरल पुस्तिकाओं और निबन्धों का ही रूप स्वीकार किया। उस समय केवल उपदेष्टा समालोचक की नहीं, क्रियात्मक और सुधारक समालोचक की अपेक्षा थी। इसीलिये समालोचक द्विवेदी सम्पादक के आसन पर बैठे थे। उनकी आलोचनाओं को उनके युगने उत्पन्न किया। उन्होंने अपने

युग को आत्मसात् किया था, इसीलिए उनकी आलोचनाओं में उनके व्यक्तित्व के अतिरिक्त उनका युग भी बोल रहा है। वह युग प्राचीन और नवीन के संघर्ष का था। नवीन के प्रति उत्कट औत्सुक्य होते हुए भी उसके मन में प्राचीन के प्रति दुर्दमनीय निष्ठा थी। वह नूतन गवेषणाओं को कुतूहलपूर्वक सुनकर उनकी तुलना में अपने पूर्व पुरुषों के ज्ञान-विज्ञान की भी जाँच कर लेना चाहता था। यह संघर्ष राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक, साहित्यिक आदि सभी दिशाओं में व्याप्त था। द्विवेदी जी का आलोचक भी अपने युग का प्रतिनिधि है क्योंकि उसने अपनी आलोचनाओं मे प्राच्य और पाश्चिमात्य दोनों ही पद्धतियों का समावेश किया है।

युग-निर्माता आलोचक द्विवेदी की प्रवृत्तियां के दो पक्ष हैं। एक ओर तो प्राचीन कवियों की आलोचना, उनकी विशेषता, प्राचीन और पाश्चात्य काव्यसिद्धान्तों का निरूपण आदि है। दूसरी ओर अस्तव्यस्तता, अनिश्चितता, दिशालक्ष्य-उद्देशशून्यता, अध्ययन, संकुचित दृष्टि, चिन्तन के अभाव, साहित्यसर्जन के लिए आपेक्षिक सच्चाई और नैतिकता की कमी, भाषा की निर्बलता, व्याकरण की अव्यवस्था, हिन्दीभाषियों की विदेशी प्रवृत्ति, मातृभाषा के प्रति निरादर, लोभ, सस्ती ख्याति, धन के लिए साहित्य-संसार में धाँधली आदि बातों को दूर कर हिन्दी-पाठकों के ज्ञानसंवर्द्धन का प्रयास है। द्विवेदी जी के समक्ष हिन्दी में आलोचना की कोई परम्परागत आदर्श प्रणाली नहीं थी। भूमिका में वर्णित आलोचनाएं नाममात्र की आलोचनाएं थीं। द्विवेदी जी को अपना मार्ग निश्चित करने मे बड़ी कठिनाई हुई। उन्होंने हिन्दी का हित करने के लिए संस्कृत, बँगला, मराठी, अँगरेजी आदि के साहित्यों का कठोर अध्ययन और चिन्तन किया। हिन्दी-साहित्य ने भारतीय आलोचक की दोषवाचकप्रणाली की अवहेलना कर दी थी। हिन्दी के प्रथम वास्तविक आलोचक द्विवेदी में उसकी प्रतिक्रिया स्वाभाविक थी। साहित्य का सुन्दर भवन बनने के पहले वहाँ का झाड़-झंखाड़ काट डालना आवश्यक था। निर्माता द्विवेदी की प्रारंभिक आलोचनाओं को युग की आवश्यकताओं ने स्वयं ही संहारात्मक बना दिया।

१८९६ ई० के आरम्भ में 'काशीपत्रिका' में द्विवेदी जी की 'कुमारसम्भव भाषा' की समालोचना प्रकाशित हुई। उसका अन्तिम भाग 'हिन्दोस्थान' मे छपा। 'ऋतुसंहार भाषा' की समालोचना १८९७ ई० के नवम्बर से १८९८ ई० के मई तक 'वेंकटेश्वर-समाचार' में छपी। १९०१ ई० में जब 'हिन्दी कालिदास' की समालोचना प्रकाशित हुई तब उसमें 'मेघदूत' और 'रघुवंश' की समालोचनाएं भी जोड़ दी गई। हिन्दी-साहित्य में किसी एक ही रचनाकार पर लिखी गई यह पहली आलोचना-पुस्तक थी। लाला सीताराम के अनुवादों ने महाकवि कालिदास के काव्य-सौन्दर्य पर पानी फेर दिया था। साहित्य-पुजारी आलोचक

का यह भी कर्तव्य था कि वह सर्वसाधारण को अनुवाद की निकृष्टता और कालिदास की कविता की उत्कृष्टता के विषय में सावधान कर देता। इन आलोचनाओं से यह सिद्ध है कि आलोचक द्विवेदी ने संस्कृत-काव्यों का सच्चाई के साथ अध्ययन किया है और उनकी आलोचनाओं के सिद्धान्त-पक्ष का आधार संस्कृत साहित्य है। 'कुमार संभव,' 'ऋतुसंहार,' 'मेघदूत' और 'रघुवंश' की आलोचनाओं के आरम्भ में क्रमशः 'वासवदत्ता' ('सुबन्धु') 'श्रीकंठचरित' और 'शृंगारतिलक' (अंतिम दो में) के श्लोक द्विवेदी जी ने उद्धृत किए हैं। 'शाखाचंक्रमण,' 'उपमा का उपमर्द' 'अर्थ का अनर्थ' 'भाव का अभाव' दोषों की यह प्रणाली भी संस्कृत की है। आलोचक का पाडित्यपूर्ण व्यक्तित्व सर्वत्रही व्यक्त है।

जनता को पथभ्रष्ट होने से बचाने के लिए द्विवेदी जी ने सच्ची और उचित आलोचना की। उस समय पत्र-पत्रिकाओं का नया युग था, पत्रों और पुस्तकों के नये पाठक तथा लेखक थे सभी की बुद्धि अपरिपक्व और सभी को पथप्रदर्शक की आवश्यकता थी। युग के सामयिक साहित्य की इस माँग को द्विवेदी जी ने स्वीकार किया। यही कारण है कि उनकी अधिकाश रचनाएँ पत्रिकाओं के लेखरूप में ही प्रकाशित हुईं। वे सत्य की अभिव्यंजना करके उपेक्षा, निन्दा, अनादर, गाली आदि सभी कुछ सहने को प्रस्तुत थे। उनकी आलोचनाओं की प्रमुख विशेषता हिन्दी के प्रति पूजाभाव, अध्यायिकता, आराधना और तप में है। कोरा आलोचक होने और अपनी साधना के बल पर युग का मानचित्र परिवर्तित कर देने में कौड़ी-मुहर का-सा अन्तर है।

यह संयोग की बात थी कि द्विवेदी जी ने आलोचना का प्रारम्भ अनूदित ग्रन्थों से किया। भाषान्तर होने के कारण आलोचक द्विवेदी का सच्चा रूप उसमें निखर नहीं पाया। मूलग्रन्थों में वर्णित पात्र, स्थल, वस्तुवर्णन, शैली आदि को छोड़कर उन्हें यह देखना पड़ा कि मूल का पूरा पूरा अनुवाद हुआ है अथवा नहीं, कवि का भाव पूर्णतय तद्वत् आया है अथवा नहीं और भाषान्तर की भाषा दोषरहित तथा अनुवादक के अभीष्ट अर्थ की व्यंजक हुई है अथवा नहीं। उनका ध्यान भाषासंस्कार और व्याकरण की स्थिरता की ओर बरबस आकृष्ट हो गया। हिन्दी का कोई भी आलोचक एक साथ ही हिन्दी, संस्कृत, बंगला, मराठी, गुजराती, उर्दू आदि साहित्यों का पंडित, सम्पादक, भाषासुधारक और युगनिर्माता नहीं हुआ। इसीलिए द्विवेदी जी अद्वितीय हैं। यही कारण है कि वे आज के समालोचक के द्वारा निर्धारित श्रेणी-विभाजन को स्वीकार करके अपनी आलोचनाओं को विशिष्ट वर्गों में प्रतिष्ठित न कर सके। यदि आधुनिक

समालोचक की कसौटी पर द्विवेदी जी की आलोचनाएं सोना नहीं जँचतीं तो इसमें द्विवेदी जी का कोई अपराध नहीं, वस्तुतः आलोचक की कसौटी ही गलत है। वह भ्रान्तिवश यह मान बैठा है कि आलोचनाएं प्रत्येक देशकाल में एक ही रूप और शैली ग्रहण करेंगी। वह इस बात को मानने के लिए तैयार नहीं है कि साहित्यिक समालोचना मौखिक या चित्रमय भी हो सकती है, टीका, भाष्य, सूक्ति, शास्त्रार्थ आदि का भी रूप धारण कर सकती है। वह अपने ही युग को अपरिवर्त्य और आप्त समझ कर दूसरे युग की भूमिका, आवश्यकताओं, व्यक्तियों और विशेषताओं को समझने में असमर्थ है।

द्विवेदी जी की आलोचनाओं में दो प्रकार के द्वन्द्व की परिणति है। एक तो बाह्य-जगत में नवीन और प्राचीन, पूर्व और पश्चिम का द्वन्द्व है और दूसरा अन्तर्जगत् में कटु सत्य तथा कोमल सहृदयता का द्वन्द्व है। इन्हीं संघर्षों के अनुरूप द्विवेदी जी की आलोचनाएं भी दो धाराओं में बंट गई हैं। एक धारा का उद्गम है सहृदयता और प्राचीनता के प्रति प्रेम जिसमें आलोचना का विषय संस्कृत-साहित्य है। दूसरी धारा नवीनता और सत्य के आकर्षण से निकली है जिसमें प्रायः सम्पादक और सुधारक द्विवेदी ने हिन्दी-साहित्य और उससे सम्बन्ध रखने वाली बातों पर आलोचनाएं की हैं। पूर्व और पश्चिम के समन्वित सिद्धान्तनिरूपण की तीसरी धारा भी कहीं कहीं दृष्टिगोचर हो जाती है। यद्यपि द्विवेदी जी की आलोचनाएं हिन्दी-पुस्तकों, 'हिन्दी कालिदास' और 'हिन्दी शिक्षावली तृतीय भाग' को लेकर प्रारम्भ हुईं तथापि उनकी भूमिकारूप में द्विवेदी जी के मस्तिष्क में संस्कृत-साहित्य का अध्ययन उपस्थित था। यह बात ऊपर कही जा चुकी है।

'कालिदास की निरंकुशता' कालिदास की समीक्षा का एक एकांगी चित्र है। उसकी रचना का उद्देश केवल मनोरंजन था। इस सम्बन्ध में स्वर्गीय पं० रामचन्द्र शुक्ल का निम्नांकित कथन विचारणीय है—

"द्विवेदी जी की तीसरी पुस्तक 'कालिदास की निरंकुशता' में भाषा और व्याकरण के वे व्यतिक्रम इकट्ठे किए गए हैं जिन्हें संस्कृत के विद्वान् लोग कालिदास की कविता में बताया करते हैं। यह पुस्तक हिन्दी वालों के या संस्कृत वालों के फायदे के लिए लिखी गई, यह ठीक ठीक नहीं समझ पड़ता।"[1]

जो वस्तु लाभ की दृष्टिसे लिखी ही नहीं गई उसमें बरबस लाभ खोजना लेखक के प्रति अत्याचार है। ऐसे आलोचकों को सावधान करने के लिए ही द्विवेदी जी ने अपनी

१. 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' पृ० ५८४।

पुस्तक के आरम्भ में ही अनेक बार चेतावनी दे दी थी—"जिनके विचार हमारे ही ऐसे हैं उन्हीं का मनोरंजन हम इस लेख से करना चाहते हैं।....इसे आप केवल वाग्विलास समझिए। यह केवल आपका मनोरंजन करने के लिए है।"[१] प्रस्तुत पुस्तक के भाव संस्कृत-टीकाकारों के हैं पर उनकी उपस्थापनशैली द्विवेदी जी की है। कालिदास में द्विवेदी जी की अतिशय श्रद्धा होने पर भी इतना बवंडर उठा क्योंकि दोषदर्शन की प्रणाली हिन्दी-संसार के लिए एक अपरिचित वस्तु थी।[२]

संस्कृत-साहित्य का अध्ययन तथा परिचय कराने की भावना और मासिकपत्र के के लिए सामयिक निबन्ध लिखने की आवश्यकता ने द्विवेदी जी को 'नैषधचरितचर्चा' और 'विक्रमांकदेवचरितचर्चा' लिखने के लिए प्रेरित किया। इन आलोचनाओं में द्विवेदी जी ने संस्कृत-साहित्य को ऐतिहासिक दृष्टि से देखने और पश्चिमीय विद्वानों के अनुसन्धान द्वारा प्राप्त संस्कृतसम्बन्धी बातों से हिन्दी-संसार को परिचित कराने का प्रयास किया है। इन आलोचनाओं में द्विवेदी जी की दो प्रवृत्तियाँ परिलक्षित होती हैं। पहली यह कि उनका सिद्धान्तपक्ष संस्कृत-साहित्य पर ही नहीं आश्रित है अपितु उन्होंने पश्चिम के सिद्धान्तों पर भी विचार और स्वतन्त्र चिन्तन किया है। अतएव उनका आलोचना का प्रतिमान अपेक्षाकृत व्यापक, उदार और नवीन है। उनकी दूसरी प्रवृत्ति है कवि की कविता को सुन्दरतर बनाने की चेष्टा न करते हुए उसके उदाहरण पाठक के सामने रखकरके चुप हो जाना। सम्भवतः 'कविता के अच्छे नमूने' शीर्षक को देखकर ही शुक्ल जी ने आक्षेप किया है कि पंडितमंडली में प्रचलित रूढ़ि के अनुसार चुने हुए श्लोकों की खूबी पर साधुवाद है। खरा सत्य तो यह है कि पद्य को गद्य में परिणत करके, काव्य को बुद्धिप्रधान आकार देकर, सौन्दर्य को तार्किकता और वाग्जाल का बाना पहना देने में ही आलोचना का चरम उत्कर्ष नहीं है। सीधी सादी उद्धरणप्रणाली या सामान्य अर्थव्यंजक टीकापद्धति की भी हमारे जीवन में आवश्यकता है और इसीलिए साहित्य में उनका भी महत्त्व है।

'आलोचनाजलि' स्वरूप और उद्देश में उपर्युक्त चर्चाओं से भिन्न है। वह सन् १९०१ और १९१७ ई० के बीच लिखे गए निबन्धों का एक संग्रह है। प्रत्येक निबन्ध की अपनी विशेषता है। वे भिन्न भिन्न आवश्कताओं को ले कर लिखे गए हैं। उनकी बहुत कुछ समीक्षा विभिन्न पद्धतियों के सन्दर्भों में हो चुकी है। आगे चल कर जब द्विवेदी जी

---

१ 'कालिदास की निरंकुशता' पृ० ३।

२. इसकी चर्चा 'साहित्यिक संस्मरण' अध्याय में हो चुकी है।

ने 'रघुवंश' और 'किरातार्जुनीय' का अनुवाद किया तब कालिदास और भारवि पर आलोचनात्मक भूमिकाएँ भी लिखीं। इस प्रकार की भूमिका लिखने की प्रेरणा पश्चिमीय साहित्य के अध्ययन का फल जान पड़ती है। कालिदास पर हिन्दी में कोई पुस्तक नहीं लिखी गई थी अतएव उन्होंने 'कालिदास और उनकी कविता' प्रकाशित की।[1] यह सन् १९०५ से लेकर १९१८ ई० तक लिखे गए निबन्धों का संग्रह है। अधिकांश लेख १९११-१२ ई० के हैं।

'कालिदास और उनकी कविता' का आलोचनात्मक मूल्यांकन करने के लिए उस युग को ध्यान में रख लेना होगा। उस समय पाठकों की दो कोटिया थीं। एक में तो साधारण जनता कालिदास से नितान्त अनभिज्ञ थी और दूसरी में वे पंडित थे जो 'कौमुदी के कीड़े' और 'महाभाष्य के मतंगज' थे। वे कालिदास का एक भी शब्दस्खलन नहीं सह सकते थे और उसे सही सिद्ध करने के लिए पाणिनि, पतंजलि, कात्यायन की भी उक्तियों पर हरताल लगाने की चेष्टा करते थे।[2] समालोचकों और समालोचनाओं की दशा भी शोचनीय थी। यदि किसी सम्पादक ने किसी आलोचक की आलोचना अप्रकाशनीय समझ कर न छापी तो उसकी समालोचना होने लगी। यदि किसी पत्र ने किसी अन्य पत्र के साथ विनिमय नहीं किया तो सम्पादक पर ही वाग्बाणों की वर्षा होने लगी। फिर उस समालोचना में उसके घरद्वार, गाड़ी-घोड़े, नौकरचाकर, वस्त्राच्छादन तक की खबर ली जाने लगी।[3] पाश्चात्य विद्वानों द्वारा की गई भारतीय पुरातत्वसंबन्धी खोजों ने हिन्दी-जनता को भी आकृष्ट किया। ऐतिहासिक अनुसंधान के नवीन उपनयन को पाकर टुटपुँजिए समालोचकों ने कालिदासादि का कालनिर्णय करके यश लूट लेने का उपक्रम किया। इस क्षेत्र में भी पदार्पण करके अज्ञान का निरोध और ज्ञान का प्रचार करना द्विवेदी जी ने अपना कर्तव्य समझा। 'कालिदास और उनकी कविता' के आरंभिक बहत्तर पृष्ठ उनकी गवेषणात्मक और ठोस आलोचना के साक्षी हैं। इसमें उन्होंने अनेक प्राच्य और पाश्चिमात्य विद्वानों के मतों का उल्लेख, उनकी परीक्षा और और अपने मत की युक्तियुक्त स्थापना की है। 'नैषधचरितचर्चा' और 'विक्रमांकदेवचरितचर्चा' में द्विवेदी जी संस्कृत-साहित्य के ऐतिहासिक पक्ष के अन्वेषी होकर प्रकट हुए थे। प्रस्तुत पुस्तक में उनका वह रूप अपने चरम विकास को प्राप्त हुआ है। आद्योपान्त ही सूक्ष्म अध्ययन और गंभीर चिन्तन की छाप है। 'कालिदास की दिखाई हुई प्रचीन भारत की एक झलक' में आलोचक द्विवेदी ने अतीत और वर्तमान की विशेषताओं को लेकर कालिदास की

---

१. 'कालिदास और उनकी कविता', निवेदन।
२. ,, ,, पृ० १२१।
३. ,, ,, ,, ११६।

कविता में तत्कालीन समाज की विशेषताओं को निरखा है। 'कालिदास की वैवाहिकी कविता' 'कालिदास की कविता में चित्र बनाने योग्य स्थल' और 'कालिदास के मेघदूत का रहस्य' में द्विवेदी जी के सहृदय कविहृदय का प्रतिबिम्ब है। यह तीसरा निबन्ध तो द्विवेदी जी के हृदय का भी रहस्य है। इसमें प्रेमी-हृदय के विश्लेषण और व्याख्या के रूप में द्विवेदी जी ने अपने ही प्रेमी हृदय की अभिव्यक्ति की है। प्रेम के संसार से गहरा परिचय होने के कारण ही उनकी लेखनी से अनायास ही प्रेम की सुन्दर व्याख्याएँ निकल पड़ी हैं।[१] प्रेम की कठिनाइयों और कठोरताओं का भोगी होने के कारण ही उनका हृदय यक्ष के हृदय के समान अनुभूति कर सका है। प्रेम की अकथनीयता और प्रेमयोग को लेकर साहित्य में बहुत कुछ लिखा जा चुका है किन्तु सात्विकता, निर्मलता, अमायिकता और भोलेपन से ओतप्रोत द्विवेदी जी के प्रेमी हृदय का यह स्वर निराला है।[२]

संस्कृत-साहित्य पर द्विवेदी जी के द्वारा की गई आलोचनाओं के मूल म तीन प्रधान कारण थे–पुरातत्वसम्बन्धी अनुसन्धान मे निरत वह युग, रह रह कर अतीत की ओर देखने वाला द्विवेदी जी का व्यक्तित्व और अहिन्दी-काव्यों की आलोचना द्वारा हिन्दीलेखकों की दृष्टि व्यापक बनाने की बलवती आकांक्षा। संस्कृत को लेकर आलोचना की जो शृंखला द्विवेदी जी ने चलाई वह उन्हीं के साथ लुप्त हो गई। उनके विश्राम ग्रहण करने पर हिन्दी-आलोचकों के लोचनों मे अनेक वादो का मद छा गया। इसकी समीक्षा 'युग और व्यक्तित्व' अध्याय में यथास्थान की जायगी। द्विवेदी जी की आलोचनाओं की धारा संस्कृत और हिन्दी के कूलयुग्म में बही है। संस्कृत-विषयों की आलोचना करते समय हिन्दी को और हिन्दी-विषयों की आलोचना करते समय संस्कृत को वे नहीं भूले हैं। 'हिन्दी कालिदास की समालोचना' हिन्दी-पुस्तक की आलोचना होते हुए भी संस्कृत से प्रभावित है। यह ऊपर सिद्ध किया जा चुका है। 'नैषधचरित', 'विक्रमांकदेवचरित', कालिदास आदि की आलोचनाएँ संस्कृत की होने पर भी हिन्दी के लिए लिखी गई हैं।

'हिन्दी शिक्षावली तृतीय भाग की समालोचना' का आरम्भ भर्तृहरि की 'अहो! कष्टं सापि प्रतिदिनमधोधः प्रविशति' पंक्ति से होता है। इस उक्ति में छिपी कष्टभावना उनकी सभी खंडनप्रधान आलोचनाओं के मूल में है। 'भाषादोष', 'कवितादोष', 'मनुस्मृतिप्रकरण-दोष', 'सम्प्रदायदोष', 'व्याकरणदोष', 'स्फुटदोष'—दोषदर्शन में ही पुस्तक की समाप्ति हुई है। द्विवेदी जी को इस बात का दुख है। हिन्दी पाठकों और लेखकों के कल्याण के लिए ही

१. 'कालिदास और उनकी कविता', पृ १३०, १३१, १३६, १३७, १३८।
२. ,, ,, ,, उपर्युक्त पृष्ठों के अतिरिक्त १२५, १२७, १२८, १२६, १३०, १३१, १३२, १३३, १३४।

विवश होकर संहारात्मक आलोचना करनी पड़ी है। वे कहते हैं—"हम यह जानते हैं कि किसी कृति में दोष दिखलाना बुरा है। परन्तु जिससे सर्वसाधारण को हानि पहुँचती हो; ऐसे दोषों को प्रकाश करके उनको दूर करने की चेष्टा करना बुरा नहीं है। इस प्रकार का दोषाविष्करण यदि लाभदायक न होता तो हमारी न्यायशीला गवर्नमेंट पुस्तकों और राजकीय कार्यों की समालोचना की अपराधों की तालिका में गणना करके उसके लिए भी पेनलकोड में दंड निर्धारित करती। फिर जिस लेखक के दोष दिखलाए जाते हैं, वह यदि शान्तचित्त होकर विचार करे तो समालोचना से उसका भी लाभ ही होता है, हानि नहीं होती। ऐसे अनेक लोग हैं जो अपनी विद्या, अपनी बुद्धि और अपनी योग्यता का पूरा पूरा विचार किए बिना ही पुस्तकें लिखकर ग्रन्थकार बनने का गर्व हाँकते हैं। अपने दोष अपने ही नेत्रों से उनको नहीं देख पड़ते। उन्हीं को क्या मनुष्यमात्र को अपने दोष प्रायः नहीं दिखाई देते। अतएव उनके दोष उनको दिखलाने के लिए दूसरे ही की अपेक्षा होती है।"[1]

द्विवेदी जी का महान् आलोचक ठोस आलोचनात्मक ग्रन्थों का प्रणयन न कर सका। वह भाषासुधार, रुचिपरिष्कार और लेखकनिर्माण तक ही सीमित रह गया। उसने जान-बूझकर इन संकुचित सीमाओं को स्वीकार किया—युग की मांगों को पूरा करने के लिए। 'सरस्वती' उनकी इन आलोचनाओं का वाहन बनी। उसमें प्रकाशित सभी आलोचनात्मक लेखों की समीक्षा करना यहां कठिन है। 'समालोचना-समुच्चय', 'विचारविमर्श' और 'रसज्ञरंजन' में संकलित लेखों की संक्षिप्त आलोचना अवश्य अपेक्षित है। पहली पुस्तक को हम आधुनिक अर्थ में समालोचना का समुच्चय नहीं कह सकते। सामयिक पुस्तकों की परीक्षारूप में लिखे गए ये निबन्ध हिन्दी-साहित्य की स्थायी सम्पत्ति नहीं हैं। परन्तु यह भी स्मरण रखने की बात है कि स्थायित्व और अमर यश ही आलोचना का एकान्त उद्देश नहीं है, साहित्यसर्जन भी कोई वस्तु है। इन आलोचनाओं का महत्व लेखकों और कवियों के उचित पथप्रदर्शन में है। द्विवेदी जी की पुस्तक-समालोचना की पद्धति इस पुस्तक के अन्तिम निबन्ध 'हिन्दी-नवरत्न' में अपने सुन्दरतमरूप में प्रकट हुई है। इसका अनुमान उसकी विषयसूची से ही हो जाता है।[2] मूलग्रन्थ से प्रायः ६४ उद्धरण देकर उसकी दोष-प्रधान विस्तृत और अकाट्य समालोचना की गई है। आलोचक ने दोषों के परिष्कार

---

१. 'हिन्दी शिक्षावली तृतीय भाग की समालोचना', पृ० २।

२. उसकी विषय सूची इस प्रकार है—

पुस्तकसम्बन्धिनी साधारण बातें, लेखकों का विचार स्वातन्त्र्य, पुस्तक की उपादेयता, काल्पनिक चित्र, कवियों का श्रेणीविभाग, तुलसीदास, मतिराम, देव, बिहारीलाल, हरिश्चन्द्र, भाषादोष, शब्ददोष, फुटकर दोष, उपसंहार।

और साहित्य के सुधार के लिए अदम्यता के साथ पदन्यास किया है। उसकी आलोचना में आद्योपान्त ही तर्क, चिन्तन, और संयम से काम लिया गया है। इतिहासलेखक को जब जब बीसवीं शती ई० के प्रथम चरण के हिन्दी-साहित्य को देखने और समझने की आवश्यकता होगी तब तब द्विवेदी जी का यह 'समालोचनासमुच्चय' स्थायी साहित्य की निधि न होने पर भी अनुपेक्षणीय होगा।

'विचारविमर्श' में 'आधुनिक कविता', 'पुरानी समालोचना का एक नमूना', 'हिन्दी के समाचारपत्र', 'बोलचाल की हिन्दी में कविता', 'सम्पादकों, समालोचकों और लेखकों का कर्तव्य', 'ठाकुर गोपाल शरण सिंह की कविता', 'भारतभारती का प्रकाशन' आदि कुछ ही निबन्ध आलोचनात्मक हैं। ये भी सामयिकता और पुस्तक-परिचय की सीमाओं में बंधे हुए हैं। आलोचना और मनोरंजकता के सुन्दर समन्वय के कारण 'रसज्ञरंजन' की विशेषता ही निराली है उसके रसज्ञ पाठकों की दो कोटियाँ-सी कर दी गई हैं। पहली कोटि में रसज्ञ कवि हैं जिनको लक्ष्य करके प्रथम पाँच लेख लिखे गए हैं और दूसरी कोटि में रसज्ञ कविता-प्रेमी हैं जिनके मनोरंजनार्थ अन्तिम चार निबन्धों की रचना हुई है। संस्कृत से अनुप्राणित युगनिर्माता द्विवेदी का स्वर सर्वव्यापक है। मैथिलीशरण गुप्त के 'साकेत' को जन्म देने का मुख्य श्रेय इसी संग्रह के 'कवियों की उर्मिलाविषयक उदासीनता'[1] निबन्ध को ही है।

आलोचक द्विवेदी का सच्चा स्वरूप उनकी कृतियों के कतिपय संग्रहों में नहीं है, वह उस युग के साहित्य के साथ एक हो गया है। उन्होंने आलोचना को तप के रूप में स्वीकार किया। उनकी संहारात्मक समीक्षाओं ने लेखकों को सावधान करके, भाषा को सुव्यवस्थित करके हिन्दी-साहित्य की इदन्ता और इयत्ता को उन्नत करने की भूमिका प्रस्तुत की, साहित्यिक जगत् में जागृति उत्पन्न की जिसके फलस्वरूप आगे चलकर मननीय ठोस ग्रन्थों की रचना हो सकी। उनकी सर्जनात्मक सकर्मक आलोचनाओं ने मैथिलीशरण गुप्त, रामचन्द्र शुक्ल आदि साहित्यकारों का निर्माण किया जिनके यशःसौरभ से हिन्दी-संसार सुवासित है। उन्होंने हिन्दी-साहित्य में आधुनिक आलोचना की पद्धति चलाई। आलोचक द्विवेदी युग का निर्माण करने के लिए सम्पादक बने, भाषासुधारक बने, गुरु और आचार्य बने। अपनी इन्हीं विशेषताओं के कारण वे अपने समसामयिक आलोचकों—पद्म सिंह शर्मा, मिश्रबन्धु आदि—से अत्यधिक महान् हैं। सच तो यह है कि द्विवेदीजी जैसा—युगनिर्माता आलोचक हिन्दी-साहित्य में कोई नहीं हुआ।

---

१. यह निबन्ध रवीन्द्र नाथ ठाकुर के 'काव्य में उपेक्षिताएं' नामक निबन्ध पर आधारित है। 'रसज्ञरंजन' की भूमिका।

छठा अध्याय

निबन्ध

संस्कृत-साहित्य मे 'निबन्ध' शब्द प्राय: किसी भी रचना के लिए प्रयुक्त हुआ है, तथापि उसमें भी निबन्धों की एक परम्परा थी जो भाष्य और टीका से आरम्भ होकर साहित्यिक धार्मिक, दार्शनिक आदि विषयों के विवेचन में परिणत हुई। उदाहरणार्थ पंडितराज जगन्नाथ का 'चित्रमीमासा-खंडन' एक आलोचनात्मक निबन्ध ही है। आधुनिक हिन्दी-निबन्ध के रूप या शैली पर संस्कृत के निबन्ध का कोई प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं पड़ा है। वर्तमान 'निबन्ध' शब्द अङ्गरेजी के 'एसे' का समानार्थी है। हिन्दी में गद्यभाषा तथा सामयिक पत्र-पत्रिकाओं के साथ ही निबन्धलेखन का आरम्भ हुआ। राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक, वैज्ञानिक तथा साहित्यिक आदि विषयो पर जनता की ज्ञानवृद्धि की तत्कालीन आवश्यकता की पूर्ति के लिए पश्चिमीय पत्रों के अनुकरण पर निबन्ध लिखे गए। लेखको के साहित्यिक व्यक्तित्व की दुर्बलता, भाषा की अस्थिरता, पत्रपत्रिकाओं की आर्थिक दुर्दशा, अपेक्षित पाठकवर्ग की कमी आदि कारणों से द्विवेदी जी के पहले हिन्दी में निबन्धों की उचित प्रतिष्ठा न हो पाई और न उनके रूप और कला की ही कोई इयत्ता और ईदृक्ता ही निश्चित हो सकी। सम्पादक तथा पत्रकार के रूप में द्विवेदी जी ने संक्षिप्त, मनोरंजक, सरल तथा ज्ञानवर्द्धक निबन्धों की जो शक्तिशाली परम्परा चलाई उसने निबन्ध को हिन्दी-साहित्य का एक प्रमुख अंग बना दिया। द्विवेदी जी की भाषा और शैली अपने विभिन्न रूपों में विकसित होकर उस युग तथा भावी युग के निबन्धो की व्यापक भाषाशैली बन गई। हिन्दी-साहित्य के द्विवेदीयुगीन तथा परवर्ती निबन्धों की कलात्मकता और साहित्यिकता का निर्माण इसी भूमिका में हुआ।

लक्षण तथा परिभाषा बाद की वस्तुएं हैं। हिन्दी-निबन्धों के स्वरूप और विकास को समझने के लिए वर्तमान युग की पश्चमीय परिभाषाएँ उधार लेने से काम नहीं चल सकता। हिन्दी में निबन्ध का न तो उतना विस्तृत इतिहास ही है और न उसका आरम्भ बेकन से ही हुआ है। निबन्ध की यह पश्चमीय कसौटी कि वह व्यक्तित्व की मनोरंजक एवं कलात्मक अभिव्यक्ति है हिन्दी के लिए आप्त नहीं होसकती। यहाँ तो सीमित गद्यरचना में व्यक्त की गई सुसम्बद्ध विचार-परम्परा को ही निबन्ध मानना अधिक समीचीन जंचता

है। बातों का संग्रहण और अप्रत्यक्ष रूप से ज्ञान का संवर्द्धन ही इसके प्रमुख उद्देश रहे हैं। लेखक को जीवन अथवा जगत् की कुछ बातें सीधी सादी भाषा में कहनी थीं, उपलब्ध साधनों के द्वारा उन्हें जनता तक पहुँचाना था। इन बातों को ध्यान में रखकर जो वस्तु रची गई वह निबन्ध हो गई। अपनी बहुविषता, व्यापकता और सामयिकता के कारण ही निबन्ध पत्र-पत्रिकाओं में व्यंजना का सामान्य माध्यम बन गया। उसमें स्वतन्त्रता का अधिक अवकाश होने के कारण ही भारतेन्दु-और-द्विवेदी-युग के साहित्यकारों ने निबन्ध-लेखन की ओर अधिक ध्यान दिया। अधिकाश निबन्ध सामयिक विषयों पर निबद्ध होने तथा सामयिक पुस्तकों में प्रकाशित किए जाने के कारण सामयिकता से ऊपर न उठ सके। भारतेन्दु-और- द्विवेदी-युग के निबन्ध की विशेष महत्वपूर्ण देन है निबन्ध की निश्चित रीतिशैली। द्विवेदी जी के निबन्धों को प्रधानतः इसी ऐतिहासिक दृष्टि से परखना होगा। निबन्ध का वर्तमान मानदंड उनके निबन्धों की ईदृक्ता और इयत्ता को नापने के लिए बहुत छोटा गज है। उनके निबन्धो की गुरुता का उचित भावन करने के लिए उनके व्यक्तित्व, उद्देश, युग, उस युग की आवश्यकताओं, उनकी पूर्ति के साधक उपायो तथा बाधक तत्वों आदि को ठीक ठीक समझने वाली व्यापक बुद्धि और सहृदय हृदय की अनिवार्य अपेक्षा है।

द्विवेदी जी के प्रारम्भिक प्रयासो मे आलोचना और निबन्ध का समन्वय हुआ है। उद्देश की दृष्टि से ये कृतिया आलोचना होते हुए भी आकार की दृष्टि से निबन्ध की ही कोटि में हैं। 'हिन्दी कालिदास की समालोचना' आदि निबन्ध सामयिक पत्रों में प्रकाशित हो जाने के पश्चात् संग्रहपुस्तक के रूप मे जनता के समक्ष आए। 'नैषधचरितचर्चा और "सुदर्शन"[1], 'वामन शिवराम आपटे'[2], 'नायिका भेद'[3], 'कविकर्तव्य'[4], 'महिषशतक की समीक्षा'[5] आदि निबन्ध निबन्धकार द्विवेदी के प्रारम्भिक काल के ही हैं। इन निबन्धों से यह स्पष्ट सिद्ध है कि निबन्धकार द्विवेदी के निर्माण का प्रधान श्रेय आलोचक द्विवेदी को ही है।

'सरस्वती'-सम्पादक द्विवेदी को सम्पादकीय टिप्पणियाँ तो लिखनी पड़ी ही साथ ही साथ लेखकों के अभाव की पूर्त्ति भी अपने निबन्धों द्वारा करनी पडी। इसका विस्तृत विवेचन 'सरस्वती'-सम्पादन अध्याय में किया जायगा। उपयुक्त लेखकों की कमी के कारण पत्रिकाओं

---

१. 'सरस्वती' १६०६ ई०, पृ० ३२१।
२. ,, १६०१ पृ० ७।
३. ,, ,, ,, १६५।
४. ,, ,, २३२।
५. 'सरस्वती,' १६०१ ई०, पृ० ३५५।

को बन्द हो जाना पड़ता था। द्विवेदी जी ने अपने अध्यवसाय तथा मनोयोग से 'सरस्वती' को सभी प्रकार के निबन्धों से सम्पन्न किया। निबन्धों के विषयों में अकस्मात् ही कितनी व्यापकता आगई, इसका बहुत कुछ अनुमान 'सरस्वती' की विषय-सूची से ही लग सकता है। द्विवेदी जी ने आख्यायिका, आध्यात्मिक विषय, वैज्ञानिक विषय, स्थलनगर-जात्यादिवर्णन साहित्यिक विषय, शिक्षा-विषय, औद्योगिक विषय आदि खंडों के अन्तर्गत अनेक प्रकार के निबन्धों की रचना की।

निबन्धकार द्विवेदी ने केवल आत्माभिव्यंजक और कलात्मक निबन्धों की सृष्टि न करके इतने प्रकार के विषयों पर लेखनी क्यों चलाई--इसका उत्तर निबन्धकार के व्यक्तित्व, युग की आवश्यकताओं, पाठक-वर्ग की रुचि की व्याख्या और इनके पारस्परिक सम्बन्ध के निर्देश द्वारा दिया जा सकता है। द्विवेदी जी के आलोचक, सुधारक, शिक्षक आदि ने ही इन निबन्धों के विषयों का बहुत कुछ निर्धारण किया है। इस व्यक्तित्व से अधिक महत्वपूर्ण उनका उद्देश ही है। अधिकांश निबन्धों की रचना पत्रकार द्विवेदी ने ही की है और उनका प्रधान उद्देश रहा है मनोरंजनपूर्वक 'सरस्वती'-पाठकों का ज्ञानवर्द्धन तथा रुचिपरिष्कार। कलात्मक अभिव्यक्ति कहीं भी उनकी निबन्धरचना का साध्य नहीं हो सकी है। अज्ञातरूप से अनायास ही जो आत्माभिव्यंजना द्विवेदी जी के निबन्धों में परिलक्षित होती है वह उनकी निबन्धकारिता की द्योतक है। उनकी अधिकांश समीक्षाओं, खंडनमंडन, वाद-विवाद आदि में इस निबन्धता का कलात्मक विकास नहीं हो पाया अन्यथा द्विवेदी जी के निबन्ध भी स्थायी साहित्य की अमूल्य निधि होते। सामयिकता की रक्षा, जनता के प्रश्नों का समाधान और समाज को गतिविधि देने के लिए मार्गप्रदर्शन--इससे प्रेरित होकर द्विवेदी जी ने विभिन्न विषयों पर रचनाएँ कीं। सम्पादक-द्विवेदी ने पुस्तकपरीक्षा विविध-वार्ता आदि संक्षिप्त निबन्ध-सरीखी रचनाएँ भी कीं। साहित्यिक निबन्ध के अर्थ में इन रचनाओं को निबन्ध नहीं कहा जा सकता।

मौलिकता की दृष्टि से द्विवेदी जी के निबन्धों का मूल द्विविध है-सामयिक पत्रपत्रिकाएँ तथा पुस्तकें और स्वतन्त्र उद्भावनाएं। 'सरस्वती' को भारतीय तथा विदेशी पत्र-जगत् के समकक्ष रखने तथा हिन्दी-पाठकों के बौद्धिक विकास के लिए द्विवेदी जी ने अधिकाधिक संख्या में दूसरों का आशय लेकर अपनी शैली में निबन्धों की रचना की। उन पर द्विवेदी जी की छाप इतनी गहरी है कि वे अनुवाद प्रतीत ही नहीं होते। 'कवि और कविता', 'कविता', कवियों की उर्मिला विषयक उदासीनता'[1] आदि निबन्ध इसी श्रेणी के

---

१. ये निबन्ध 'रसज्ञरंजन' में संकलित हैं।

हैं। दूसरी श्रेणी में वे निबन्ध हैं जिनके विषय तथा लेखन की प्रेरणा द्विवेदी जी को स्वतः प्राप्त हुई। यथा 'भवभूति'[1], 'प्रतिभा'[2], 'कालिदास के मेघदूत का रहस्य'[3], 'साहित्य की महत्ता'[4] आदि। प्रायः इस प्रकार के निबन्धों की रचना प्रमुख व्यक्तियों के जीवन चरित, स्थानादिवर्णन, सभ्यता एवं साहित्य. आलोचना आदिको लेकर हुई। इस श्रेणी के निबन्धों में निबन्धकार द्विवेदी अपने शुद्धतम और उच्चतम रूप में प्रकट हुए हैं। आशयप्रधान अमौलिक निबन्धों की अपेक्षा इन निबन्धों में उनके व्यक्तित्व की भी सुन्दरतर अभिव्यक्ति हुई है। सामयिकता एवं पत्रकारिता की दृष्टि से निबन्ध की इन दोनों ही श्रेणियों का महत्व समान है।

द्विवेदी जी के निबन्धों के व्यापक अध्ययन के लिए उनके प्रकारनिर्धारण की अपेक्षा है। शरीर की दृष्टि से द्विवेदी जी के निबन्ध चार रूपों में प्रस्तुत हुए। पहला रूप पत्रिकाओं के लिए लिखित लेखों का है जिनके अनेक उदाहरण ऊपर दिए जा चुके हैं। दूसरे रूप में भूमिकाएँ हैं जो ग्रन्थों, ग्रन्थकारों या ग्रन्थ के विषय के परिचयरूप में लिखी गई हैं। 'रघुवंश', 'किरातार्जुनीय', 'स्वाधीनता' आदि की भूमिकाएँ निबन्ध की इसी कोटि में हैं। तीसरा रूप पुस्तकाकार प्रकाशित निबन्धों का है उदाहरणार्थ 'हिन्दी भाषा की उत्पत्ति', 'नाट्यशास्त्र' आदि। चौथे रूप में वे भाषण हैं जो द्विवेदी जी ने अभिनन्दन, मेले, और तेरहवें साहित्य-सम्मेलन के अवसर पर दिए थे। विषय की व्यापकता एवं अनेकरूपता के कारण इन निबन्धों को किसी एक विशिष्ट कोटिमें रखकर, किसी एकही विशिष्ट लक्षण से आँकना असम्भव है। उनके प्रकारनिर्धारण में विषय, शैली एवं उद्देश का समान हाथ रहा है। विषय की दृष्टि से द्विवेदी जी के निबन्धों के आठ वर्ग किए जा सकते हैं—साहित्य, जीवनचरित, विज्ञान, इतिहास, भूगोल, उद्योगशिल्प, भाषा और अध्यात्म। साहित्यिक निबन्धों के भी अनेक प्रकार हैं—कविलेखक-परिचय, ग्रन्थपरिचय, समालोचना, शास्त्रीय विवेचन, सामयिक साहित्यावलोकन आदि। 'कविवर लछीराम',[5] 'पंडित बलदेव प्रसाद मिश्र',[6] 'पंडित सत्यनारायण मिश्र',[7] 'मुग्धानलाचार्य',[8] 'बाबू अरविन्द घोष',[9] 'कविवर

---

१. 'सरस्वती,' जनवरी, १९०२ ई०।
२. ,, १९०२, ई०, पृ०, २९२।
३. 'कालिदास और उनकी कविता' में संकलित।
४. हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के तेरहवें अधिवेशन में स्वागताध्यक्षपद से दिए गए लिखित भाषण का एक अंश जो निबन्धरूप में स्वीकृत हो चुका है।
५. 'सरस्वती,' १९०५ ई०, पृ० १५४।
६. ,, ,, ४३४।
७. ,, १९०६ ८८।
८. ,, १९०७ २९७।
९. ,, १९१० ३२।

रवीन्द्र नाथ ठाकुर'[१] आदि निबन्ध कविलेखक-परिचायक हैं। 'सरस्वती' के ग्रन्थ-परिचय-खंड में प्रकाशित अनेक पुस्तक-समीक्षाएँ ग्रन्थ-परिचायक निबन्धों की कोटि में आएंगी। 'महिष-शतक की समीक्षा',[२] 'उर्दू शतक',[३] 'हिन्दी नवरत्न'[४] आदि निबन्ध आलोचना की कोटि के हैं। 'नायिका भेद',[५] 'कवि और कविता'[६] 'कवि बननेके लिए सापेक्ष साधन',[७] 'हिन्दू-नाटक'[८] 'नाट्यशास्त्र',[९] आदि का विषय साहित्यशास्त्र है।

विषय की दृष्टि से द्विवेदी जी के निबन्धों का दूसरा वर्ग जीवनचरित है। प्राचीन एवं आधुनिक महापुरुषों से साधारण पाठकों को परिचित कराने और उनके चरित्र से उन्हें लाभान्वित करने के लिए इस प्रकार की सुन्दर जीवनियां लिखी गईं। ये जीवनचरित चार प्रकार के व्यक्तियों को लेकर लिखे गए है-विद्वान् राजारईस, राजनीतिज्ञ और धर्मसमाजसुधारक। 'सुकविसंकीर्तन' तथा 'प्राचीन पंडित और कवि' विद्वानों पर लिखे गए निबन्धो के ही संग्रह हैं। 'हर्बर्ट स्पेंसर',[१०] 'गायनाचार्य पंडित विष्णु दिगम्बर'[११] आदि भी इसी प्रकार के निबन्ध हैं। 'महाराजा ट्रावनकोर',[१२] 'श्यामनरेश चूडालंकरण'[१३] आदि राजाओं पर लिखित निबन्ध हैं। 'कांग्रेस के कर्ता'[१४] सर हेनरी काटन',[१५] 'आदि राजनीतिज्ञों पर लिखेगए हैं। धर्मप्रचारकों एवं समाजसुधारकों पर द्विवेदी जी ने अपेक्षाकृत बहुत कम लिखा है। 'बौद्धाचार्य शीलभद्र',[१६] 'शास्त्रविशारद जैनाचार्य', 'श्रीविजयधर्म सूरि'[१७] आदि के विषय धार्मिक पुरुष हैं।

---

१. सरस्वती' १९१२ १२५।
२. ,, १९०१ ३४४।
३. ,, १९०९ ३१।
४. ,, १९१२ ३०,६६।
५. ,, १९०१ १९५।
६. ,, १९०७ २७६।
७. ,, १९११ २८४।
८. ,, १९२० २४८।
९. १९०३ ई० में लिखित और १९१० ई० में पुस्तिकाकार प्रकाशित।
१०. 'सरस्वती', १९०६ ई०, पृ० २५५।
११. ,, १९०७ ३८६।
१२ 'सरस्वती', १९०७ ई०, पृ० ४०३।
१३. ,, ,, ४०६।
१४ ,, १९०५ १६।
१५. ,, १९१५ 'विचार-विमर्श' में संकलित।
१६. ,, १९०८ एप्रिल।
१७ ,, १९११ जून।

वैज्ञानिक निबन्धों में आविष्कार और अनुसन्धान पर द्विवेदी जी ने अनेक रोचक निबन्ध लिखे। उनकी सम्पादित 'सरस्वती' में 'मंगल ग्रह तक तार',[1] 'रंगीन छायाचित्र',[2] 'कुछ आधुनिक आविष्कार'-[3] सरीखे निबन्धों की बहुलता है। विषय की दृष्टि से द्विवेदी जी के निबन्धों का चौथा वर्ग ऐतिहासिक निबन्धों का है। ये निबन्ध तीन प्रकार के हैं। 'भारतीय शिल्प शास्त्र',[4] 'विक्रमादित्य और उनके संवत् के विषय में एक नई कल्पना',[5] 'प्राचीन भारत में रसायन-विद्या'[6] आदि निबन्ध सामान्य ऐतिहासिक हैं। यह ऐतिहासिक निबन्धों का पहला प्रकार है। दूसरे प्रकार के ऐतिहासिक निबन्ध वे हैं जिनमें भारतीय वैभव, सभ्यता आदि का चित्रण किया गया है, यथा 'भारतवर्ष की सभ्यता की प्राचीनता',७ 'आर्यों की जन्मभूमि',८ प्राचीन भारत में जहाज'९ आदि। तीसरे प्रकार के ऐतिहासिक निबन्ध पुरातत्वविषयक हैं, उदाहरणार्थ 'सोमनाथ के मन्दिर की प्राचीनता',१० 'भारतवर्ष के पुराने खंडहर',११ 'शहरे बहलोल में प्राप्त प्राचीन मूर्तियां'१२ आदि।

विषय के आधार पर उनके पांचवें वर्ग के निबन्ध भौगोलिक हैं। ये दो प्रकार के हैं-एक तो भ्रमण--सम्बन्धी और दूसरे स्थल--नगर--जात्यादि-वर्णनमय। भ्रमण-सम्बन्धी निबन्धों में प्रायः दूसरों की कथा वर्णित है। 'व्योम-विहरण'१३ 'उत्तरी ध्रुव की यात्रा'१४ 'दक्षिणी ध्रुव की यात्रा'१५ आदि इस विषय के उदाहरणीय निबन्ध है। 'पेरिस'१६ जापान की स्त्रियां'१७

---

१. ,, १००६ पृ० २८५।
२. ,, १९१५ ३२।
३. ,, ,, १४६।
४. 'विचार-विमर्श', पृ० ८६, जुलाई, १९१२ई०।
५. ,, ६३।
६. 'सरस्वती', १९१५ ई०, अगस्त।
७. 'विचार-विमर्श', पृ० १६०
८ 'साहित्य-संदर्भ' पृ० ५१।
९. 'सरस्वती',१९१६ ई०, पृ० ३१०
१०. 'विचार-विमर्श',पृ० १०२।
११. ,, १०६।
१२ ,, १२७।
१३. 'सरस्वती', १९०५ ई०, पृ० ३१५,३४०।
१४. ,, १९०७ ७४।
१५ ,, १९०९ २६५।
१६. ,, १९२० २५१।
१७. ,, १९०५ ई०, जनवरी।

'उत्तरी ध्रुव की यात्रा और वहां की स्कीमों जाति'[१] आदि भौगोलिक निबन्ध दूसरे प्रकार के अन्तर्गत हैं। छठवें वर्ग के निबन्धों में उद्योग-शिल्प आदि विषयों पर विचार किया गया है। 'खेती की बुरी दशा',[२] हिन्दुस्तान का व्यापार',[३] भारत में औद्योगिक शिक्षा'[४] आदि लेखों में प्राय: अन्य पत्रिकाओं, रिपोर्टों आदि के आधार पर उपयोगी बातें कही गई हैं। इनके मूल में भारत को औद्योगिक रूप में उन्नत देखने की उत्कट अभिलाषा सन्निहित है। इस वर्ग के निबन्धों में सामयिकता का सबसे अधिक समावेश हुआ है।

सातवें वर्ग के निबन्ध भाषा-व्याकरण आदि को लेकर लिखे गए हैं। साहित्यिक निबन्धों के अन्तर्गत इन्हें न समाविष्ट करने के दो प्रमुख कारण हैं-एक तो ये निबन्ध प्रधानतया भाषा से सम्बद्ध हैं और दूसरे व्याकरण की दृष्टि ही इनमें मुख्य है। इन निबन्धों की रचना का श्रेय भाषा-संस्कारक द्विवेदी को है। 'भाषा और व्याकरण',[५] हिन्दी नवरत्न'[६] आदि निबन्ध हिन्दी गद्यभाषा की व्याकरण-विरुद्ध उच्छृंखलगति को रोकने तथा उसके शुद्ध और व्याकरणसंगत रूप की प्रतिष्ठा करने की सदाकांक्षा से लिखे गए थे। उनके अन्तिम वर्ग के निबन्ध आध्यात्मिक विषयों से सम्बद्ध हैं। ये निबन्ध द्विवेदी जी की भक्तिभावना तथा आत्मजिज्ञासा के परिचायक हैं। आत्माभिव्यंजकता और कला की दृष्टि से इन निबन्धों का महत्वपूर्ण स्थान है। 'सरस्वती'-सम्पादन के पूर्व ही 'निरीश्वरवाद'[७] 'आत्मा',[८] 'ज्ञान'-[९] जैसे निबन्ध द्विवेदी जी लिख चुके थे। उसके पश्चात् तो 'ईश्वर',[१०] 'आत्मा के अमरत्व का वैज्ञानिक प्रमाण',[११] 'पुनर्जन्म का प्रत्यक्ष प्रमाण',[१२] 'सृष्टि विचार',[१३] 'परमात्मा की परिभाषा'[१४] आदि आध्यात्मिक निबन्धों की

१. 'लेखांजलि' में संकलित।
२. 'सरस्वती', १९१८ ई०, पृ० ८।
३. ,, १९०७ ४११।
४. ,, १९१३ ६५।
५. ,, १९०५ ४२४ तथा 'सरस्वती', १९०६ ई०, पृ० ६०।
६. ,, १९१२ ६६।
७. ,, १९०१ ३११।
८. ,, ,, १७।
९ 'सरस्वती,' १९०१ ई, पृ० १४।
१०. 'सरस्वती', १९०४ ई०, पृ० २७८, ३०२, ३५२, ३९२।
११ ,, १९०५ २३६।
१२. ,, ,, ४२१।
१३. ,, ,, १७१।
१४. ,, १९०६ ३२१।

उन्होंने एक शृंखला सी प्रस्तुत कर दी। उनके आध्यात्मिक निबन्धों का एक विशिष्ट प्रकार भारतीयभक्तिमूलक है और उसमें आत्मनिवेदन की प्रधानता है, यथा–'गोपियों की भगवद्भक्ति'[1]।

उद्देश की दृष्टि से द्विवेदी जी के निबन्धों की दो कोटियाँ हैं–मनोरंजन–प्रधान और ज्ञानप्रधान। द्विवेदी–लिखित मनोरंजनप्रधान निबन्धों की संख्या अत्यन्त अल्प है। 'प्राचीन कवियों के काव्यों में दोषोद्भावना',[2] 'कालिदास की निरंकुशता',[3] 'दमयंती का चन्द्रोपालम्भ'[4] आदि निबन्ध मनोरंजनप्रधान होते हुए भी ज्ञानवर्द्धन की भावना से सर्वथा शून्य नहीं हैं। यह तो द्विवेदी जी का स्थायी भाव है। द्विवेदी जी के प्रायः सभी निबन्ध पाठकों की ज्ञानभूमिका का विकास करने की मंगलकामना से अनुप्राणित हैं। इसी लिए मनोरंजन की अपेक्षा ज्ञानप्रसार का स्वर ही अधिक प्रधान है।

शैली की दृष्टि से द्विवेदी जी के निबन्धों की तीन प्रमुख कोटियां हैं–वर्णनात्मक, भावात्मक और चिन्तनात्मक। यों तो द्विवेदी जी के सभी निबन्धों का उद्देश निश्चित विचारों का प्रचार करना रहा है और उन सभी में उन विचारों का न्यूनाधिक सन्निवेश भी हुआ है तथापि वर्णनात्मकता, भावात्मकता या चिन्तनात्मकता की प्रधानता के आधार पर ही इन तीन विशिष्ट कोटियों की भावना की गई है।

द्विवेदी जी के वर्णनात्मक निबन्धों के चार विशिष्ट प्रकार हैं–वस्तुवर्णनात्मक, कथात्मक, आत्मकथात्मक और चरितात्मक। वस्तुवर्णनात्मक निबन्ध प्रायः भौगोलिक स्थल-नगर-जात्यादि या ऐतिहासिक स्थानों, इमारतों आदि पर लिखे गए हैं, उदाहरणार्थ 'नेपाल',[5] 'मलाबार',[6] 'सांची के पुराने स्तूप',[7] 'बनारस' आदि। 'अतीत–स्मृति,' 'दृश्यदर्शन,' 'प्राचीन चिन्ह' आदि इसी प्रकार के निबन्धों के संग्रह हैं। द्विवेदी जी के अधिकांश कथात्मक निबन्धों में 'श्रीमद्भागवत', 'कादम्बरी' या 'कथासरित्सागर' की-सी कथा नहीं है। केवल कथा की शैली में घटनाओं, तथ्यों, संस्थाओं, यात्राओं आदि का वर्णन किया गया है, यथा–

१. 'समालोचना-समुच्चय', पृ० १।
२. 'सरस्वती,' १९११ ई०, एप्रिल।
,, ,, मई।
,, ,, जून।
३. 'सरस्वती,' १९११ ई०, पृ० ७, ४७, १०७
४. साहित्य-सन्दर्भ' में संकलित।
५. 'दृश्यदर्शन' में संकलित।
६. ,, ,,
७. 'प्राचीन-चिन्ह' में संकलित।

'व्योमविहरण',[1] 'अद्भुत इन्द्रजाल'[2] आदि। 'लेखांजलि' 'महिलामोद' और 'अद्भुत आलाप' में संकलित अधिकांश निबन्ध इसी प्रकार के हैं। आधुनिक कहानियों का-सा वस्तुविन्यास, चरित्रचित्रण आदि न होने के कारण ये निबन्ध कहानी की कोटि में नहीं आ सकते। द्विवेदी जी के कुछ निबन्ध ऐसे भी हैं जिनमें वस्तुतः कथा का-सा प्रवाह और सारस्य है, यथा–'हंस–सन्देश',[3] 'हंस का दुस्तर दूत–कार्य'[4] आदि। इनमें न तो कहानी की विशेषताएँ हैं और न भावात्मक निबन्धों की। अपनी वर्णनात्मक शैली और कथाप्रवाह के कारण ही ये कथात्मक निबन्ध हैं। आत्मकथात्मक निबन्ध की विशिष्टता है वर्णित पात्र द्वारा उत्तम पुरुष में ही अपनी कथा का उपस्थापन। भावात्मकता का बहुत कुछ पुट होने पर भी अपनी इसी विशेषता के कारण यह भावात्मक निबन्ध की कोटि में नहीं रखा जा सकता। 'दंडदेव का आत्म–निवेदन'[5] इस शैली का एक उत्कृष्ट उदाहरण है जिसमें दंडदेव के मुख से ही उनके संक्षिप्त चरित का वर्णन कराया गया है।

द्विवेदी जी के चरितात्मक निबन्ध विशेष महत्व के हैं। हिन्दी साहित्य के प्राग्द्विवेदी-युगों में संक्षिप्त जीवनचरित लिखने की कोई निश्चित प्रणाली नहीं थी। प्रबन्ध-काव्यों में नायकों के चरित अंकित किए गए थे। वैष्णवों की वार्ताओं में धार्मिक महापुरुषों के वृत्तों का संकलन किया गया था किन्तु उनमें ऐतिहासिक सत्य और कला की ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया। यद्यपि द्विवेदी जी के पूर्व भी 'सरस्वती' में अनेक संक्षिप्त जीवनचरित प्रकाशित हुए[6] तथापि उनकी कोई निश्चित परम्परा नहीं चली। द्विवेदी जी ने हिन्दी-साहित्य की इस कमी का अनुभव किया। उन्होंने पाश्चात्य साहित्य के संक्षिप्त जीवनचरितों के ढंग पर हिन्दी में भी जीवनचरित-रचना की परिपाटी चलाई। उन्होंने नियमित रूप से 'सरस्वती' में निबन्धों का प्रकाशन किया। 'चरितचर्या', 'चरितचित्रण', 'वनिता-विलास', 'सुकवि–संकीर्तन', 'प्राचीन पंडित और कवि' आदि जीवनचरितों के ही संग्रह हैं। उनके इस क्रम के दो उद्देश थे—एक तो मनोरंजन और दूसरा उपदेश,[7]। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि अधिकांश जीवनचरित सम्पादक द्विवेदी के लिखे हुए हैं। पत्रपत्रिकाओं के उस

---

१. 'सरस्वती', १९०५ ई०, पृ० ९२।
२. ,, १९०६ ई० जनवरी।
३. ४. 'रसज्ञ-रंजन' में संकलित।
५. 'लेखांजलि' में संकलित।
६. यथा– भारतेन्दु हरिश्चन्द्र'–राधाकृष्ण दास–'सरस्वती', १९०० ई०, प्रथम ५ संख्याएं।
'राजा लक्ष्मण सिंह–किशोरी लाल गो० ,, ,, पृ० २०५, २३६।
'रामकृष्णगोपालभंडारकर'–श्यामसुन्दर दास ,, ,, २८०।
७. 'इनमें शिक्षाग्रहण करने की बहुत कुछ सामग्री है। परन्तु यदि इनसे विशेष लाभ

उपेक्षाकाल में उन्हें मनोरंजक बनाने की उतनी ही आवश्यकता थी जितनी ज्ञानवर्द्धक बनाने की। इन जीवनचरितों को भी द्विवेदी जी ने 'सरस्वती'पाठकों के मनोरंजन का साधन समझा। अनुकरणीय व्यक्तियों के चरितों के चित्रण द्वारा पाठकों की बुद्धि और चरित्र के विकास का विचार भी स्वाभाविक और संगत था। कला की दृष्टि से इन निबन्धों की कुछ विशेषताएं अवेक्षणीय हैं। द्विवेदो जी ने उन्हीं व्यक्तियों के चरित पर लेखनी चलाई है जिनसे कुछ लोककल्याण हुआ है और जिनके चरित को पढ़कर पाठकों का कल्याण हो सकता है। लोगों का प्रलोभन और प्रभाव उन्हें अयोग्य व्यक्तियों का चरित अंकित करने और उन्हें 'सरस्वती' में प्रकाशित करने के लिए बाध्य न कर सका। इसकी विस्तृत समीक्षा 'सरस्वती-सम्पादन' अध्याय में की जायगी। इन निबन्धों की दूसरी विशेषता यह है कि ये बहुत ही संक्षिप्त हैं। इनमें पात्रों के जीवन की उन्हीं बातों का संग्रह किया गया है जो उनके परिचय और चरित्रचित्रण के लिए आवश्यक तथा पाठकों की रुचि को परिष्कृत, भावों को उद्दीप्त एवं बुद्धि को प्रेरित करने में समर्थ प्रतीत हुई हैं। इनकी सर्वोपरि विशेषता यह है कि लेखक अपने भावन और अभिव्यंजन में सर्वत्र ही ईमानदार है। उसे हिन्दीपाठकों के हिताहित का इतना ध्यान है कि अनुचित पक्षपात और मिथ्या को इन निबन्धों में कहीं अवकाश नहीं मिला है।

शैली की दृष्टि से द्विवेदी जी के निबन्धों की दूसरी कोटि भावात्मक है। इन निबन्धों में लेखक ने मधुमती कविकल्पना, या गम्भीर विचारकमस्तिष्क का सहारा लिए बिना ही वर्ण्य विषय के प्रति अपने भावों को अबाध गति से व्यक्त किया है। इन भावात्मक निबन्धों की प्रमुख विशेपता यह है कि उच्च कोटि के कवित्व और मननीय वस्तु का अभाव होते हुए भी इनमें किसी अंश तक काव्य की रमणीयता और विचारों की अभिव्यक्ति एक साथ है। कवित्व या विचारों की सापेक्ष प्रधानता के कारण ही इनके दो प्रकार हैं—कवित्व-प्रधान और विचार-प्रधान। मौलिकता की दृष्टि से कवित्व-प्रधान निबन्ध दो प्रकार के हैं। 'अनुमोदन का अन्त',[1] 'सम्पादक की बिदाई'[2] आदि मौलिक निबन्ध हैं जिनमें द्विवेदी जी

उठाने का विचार छोड़ भी दिया जाय तो भी इनके अवलोकन से घड़ी दो घड़ी मनोरंजन तो अवश्य ही हो सकता है। शिक्षा, सदुपदेश और सुसंगति से स्त्रियाँ अनेक अभिनन्दनीय गुणों का अर्जन कर सकती हैं, यह बात भी पाठकों और पाठिकाओं के ध्यान में आए बिना नहीं रह सकती।

महावीर प्रसाद द्विवेदी,
'वनिता-विलास' की भूमिका।

1. 'सरस्वती', १६०५ ई०, पृ० ४७।
2. ,, भाग २२, खंड १, संख्या १, पृ० १।

ने अपनी ही मार्मिक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति की है। 'महाकवि माघ का प्रभात वर्णन',[1] 'दमयन्ती का चन्द्रोपालम्भ'[2] आदि अमौलिक निबन्ध हैं जिनमें क्रमशः 'शिशुपालवध' और 'नैषधीयचरित' के अंशानुवादरूप में भावनिबन्धना की गई है। विचारप्रधान भावात्मक निबन्ध भावोद्दीपक के समान ही विचारोत्तेजक भी हैं। इस प्रकार के निबन्धों में 'कालिदास के समय का भारत',[3] 'कालिदास की कविता में चित्र बनाने योग्य स्थल',[4] 'साहित्य की महत्ता'[5] आदि विशेष उदाहरणीय हैं। भावात्मक निबन्धों की रीति संस्कृतशब्दबहुल तथा शैली वक्तृतात्मक और कहीं कहीं चित्रात्मक या संलापात्मक भी है। कवित्वप्रधान भावात्मक निबन्धों में माधुर्य और विचारप्रधान भावात्मक निबन्धों में ओज की प्रधानता है।

चिन्तनात्मक निबन्धों में मननीय विषयों का गम्भीर विवेचन किया गया है। शैली की दृष्टि से इन निबन्धों के तीन मुख्य प्रकार हैं—व्याख्यात्मक, आलोचनात्मक और तार्किक। व्याख्यात्मक निबन्धों में लेखक ने पाठकों को विस्तृत विवेचन द्वारा किसी विषय से भली-भाँति अवगत कराने का प्रयास किया है। ये निबन्ध मनोविज्ञान, अध्यात्म, साहित्य आदि अनेक विषयों पर लिखे गए हैं। 'आत्मा',[6] 'ज्ञान',[7] 'कविकर्तव्य',[8] 'कविता',[9] 'कवि और कविता',[10] 'प्रतिभा',[11] 'नाट्यशास्त्र'[12] आदि विचारात्मक निबन्धों के इसी प्रकार के अन्तर्गत हैं। 'आध्यात्मिकी' व्याख्यात्मक आध्यात्मिक निबन्धों का ही संग्रह है। द्विवेदी जी के समस्त निबन्धों में उनके आलोचनात्मक निबन्धों का स्थान सबसे ऊंचा है क्योंकि वे ही युगनिर्माता द्विवेदी के व्यक्तित्व की सबसे अधिक अभिव्यक्ति करते हैं। ये निबन्ध आलोचना की छः विभिन्न पद्धतियों पर लिखे गए हैं और तदनुसार उनकी रीतिशैली भी विभिन्न प्रकार की है। इसकी विस्तृत विवेचना 'आलोचना' अध्याय के अन्तर्गत की गई है। चिन्तनात्मक निबन्धों का तीसरा प्रकार तार्किक है। तार्किक निबन्धों में

---

१. 'साहित्य-सन्दर्भ' में संकलित।

२ ,, ,, ,,

३. ४. 'कालिदास और उनकी कविता' में संकलित।

५. तेरहवें हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के अवसर पर स्वागताध्यक्ष-पद से द्विवेदी जी के भाषण का एक भाग।

६. 'सरस्वती', १९०१ ई०, पृ० १७।

७. ,, ,, ,, ६३।

८ ९. १०. 'रसज्ञरंजन' में संकलित।

११. 'सरस्वती', १९०२ ई०, पृ० २६२।

१२. १९०३ ई० में लिखित और १९१० ई० में पुस्तिकाकार प्रकाशित।

प्रमाण और न्याय के द्वारा प्रतिपाद्य विषय का ठोस उपस्थापन किया गया है। उद्देश की दृष्टि से इसके भी दो प्रकार हैं। एक तो वादविवादात्मक निबन्ध हैं जिनमें अपनी बात को पुष्ट और विपक्षियों की बात को खंडित करने के लिए तर्क का सहारा लिया गया है, उदाहरणार्थ–'नैषधचरितचर्चा और 'सुदर्शन',[१] 'महिषशतक की समीक्षा',[२] 'भाषा और व्याकरण'[३] आदि। इस शैली का सुन्दरतम निबन्ध द्विवेदी जी का वह लिखित 'वक्तव्य' है जिसे उन्होंने नागरी-प्रचारिणी-सभा के पास भेजा था और जिसके परिवर्द्धित रूप में 'कौटिल्यकुठार'[४] की रचना की थी। दूसरे प्रकार के चिन्तनात्मक निबन्ध गवेषणात्मक हैं जिनमें उपर्युक्त प्रकार का कोई विवाद कारण नहीं है और जिनमें अपने कथन की पुष्टि के लिए सप्रमाण तथा न्यायसंगत शैली अपनाई गई है, यथा–'राजा युधिष्ठिर का समय',[५] 'हिन्दी भाषा की उत्पत्ति[६]', 'कालिदास का समयनिरूपण',[७] 'कालिदास का स्थितिकाल'[८] आदि।

द्विवेदी जी की निबन्धगत भाषा, रचनाशैली और व्यक्तित्व भी विवेचनीय हैं। भाषा की रीतियों और शैलियों की विस्तृत समीक्षा आगे चलकर 'भाषा और भाषासुधार' अध्याय में की गई है। वहाँ यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि द्विवेदी जी ने हिन्दी-गद्य के शब्दसंकलन की सभी रीतियों और भावाभिव्यंजन की सभी प्रणालियों का यथावसर प्रयोग किया है जो उनकी रचनाओं में अविकसित होती हुई भी उनके युग की रीतिशैलियों की भूमिका हैं। उनकी रचनाशैलीगत विशेषताओं का अध्ययन दो प्रकार से सम्भव है— वस्तुस्थापन की दृष्टि से और अभिव्यक्ति-प्रणाली की दृष्टि से। वस्तूपस्थापन में भी दो बातें विशेष आलोच्य हैं प्रारम्भ करने की शैली और समाप्त करने की शैली। प्रारंम्भ करने के लिए अनेक शैलियों का प्रयोग करके द्विवेदी जी ने पिष्टपेषण की एकरसता को दूर रखा है। विषयानुसार और सुविधानुसार उन्होंने निबन्ध की प्रारम्भिक

---

१. 'सरस्वती', १६०० ई०, पृ० ३२१।
२ ,, १६०१ ३४५।
३ 'सरस्वती', १६०६ ई०, पृ० १०।
४ अप्रकाशित वक्तव्य काशी-नागरी- प्रचारिणी-सभा के कार्यालय और अप्रकाशित 'कौटिल्य-कुठार' उक्त सभा के कलाभवन में रक्षित हैं।
५. 'सरस्वती', १६०५ ई०, जून।
६. १६०७ ई० में पुस्तिकाकार प्रकाशित।
७. सरस्वती', १६१२ ई०, पृ० ४६१।
८. ,, १६११ ई०, फरवरी।

भूमिका अनेक प्रकार से प्रस्तुत की है। सबसे प्रचलित तथा सरल शैली कथात्मक है।[१] कहीं पर आत्मनिवेदन-सा करते हुए विषय की प्रस्तावना की गई है।[२] कहीं मूल लेखक के विषय मे ज्ञातव्य बातों का कथन करते हुए उन्होने निबन्ध का प्रारम्भ किया है,[३] कही पर निबन्ध का प्रारम्भ तद्गत सुन्दर वस्तु से ही हुआ है,[४] कही प्रस्तुत विषय से सम्बद्ध किसी सामान्य तथ्य का उद्घाटन ही निबन्ध की भूमिका के रूप मे आया है,[५] कही निबन्ध को अधिक संवेदनात्मक बनानेके लिए भावप्रधान संबोधन द्वारा उसका आरम्भ किया गया है[६] और कही अध्यापक के स्वर मे शीर्षक या विषय के स्पष्टीकरण के द्वारा ही निबन्ध की प्रस्तावना की गई है।[७] निबन्ध को समाप्त करना अपेक्षाकृत सुगम है। उसकी समाप्ति मे

---

१. यथा-'श्रीहर्ष का कलियुग'—

"नैषधचरित नामक महाकाव्य की रचना करनेवाले श्रीहर्ष को हुए कम से कम आठ सौ वर्ष हो गए। वे कन्नौजनरेश जयचन्द के समय विद्यमान थे।…"

—'सरस्वती,' मार्च, १९२१ ई०।

२ यथा-'वैदिक देवता'—

"हम वैदिक संस्कृत नही जानते। अतएव वेद पढ़कर उनका अर्थ समझ सकने की शक्ति भी नहीं रखते। वेद हमने किसी वेदज्ञ विद्वान से भी नहीं पढ़े।"

—'साहित्यसन्दर्भ,' ३७।

३. यथा- आर्यों की जन्मभूमि'—

"पूने में नारायण भवानराव पावगी नाम के एक सज्जन है। आप पहले कहीं सब जज थे।…"

—'सरस्वती,' अक्टूबर, १९२१ ई०।

४ यथा—'महाकवि माघ का प्रभातवर्णन'—

'रात अब बहुत ही थोडी रह गई है। सुबह होने में कुछ ही कसर है। जरा सप्तर्षि नाम के तारों को तो देखिए।…"

—'साहित्य सन्दर्भ,' पृ० १०४।

५. यथा-'जगद्धर भट्ट की स्तुति कुसुमांजलि'—

'जिनके हृदय कोमल है, अर्थात् अलंकार शास्त्र की भाषा में जो सहृदय है उन्हीं को सरस काव्य के आकलन से आनन्द की यथेष्ट प्राप्ति हो सकती है।"

—'सरस्वती,' अगस्त, १९२२ ई०।

६ यथा--'प्राचीन भारत की एक झलक'—

"भारत' क्या तुम्हें कभी अपने पुराने दिनों की बात याद आती है ?…"

—'सरस्वती,' दिसम्बर, १९२८ ई०।

७. यथा-'कविकर्तव्य'—

"कविकर्तव्य से हमारा अभिप्राय हिन्दी कवियों के कर्तव्य से है।"

—'सरस्वती,' १९०१ ई०, पृ० २३२

निबन्धकार कला का समावेश भी उचित रीति से सहज ही कर सकता है। द्विवेदी जी ने अपने निबन्ध को समाप्त करने में गहरी कलात्मकता का परिचय दिया है। कहीं तो विवादग्रस्त विषय पर अपना मत देकर वे पाठक से विचार करने का अनुरोध करके मौन हो गए हैं,[1] कहीं विषय के निरूपण के साथ ही निबन्ध को समाप्त कर दिया है,[2] कहीं उपदेशक की सीधी सादी भाषा में प्रार्थना, अभिलाषा आदि की अभिव्यक्ति के द्वारा उन्होंने निबन्ध की समाप्ति की है[3] और कहीं उनके निबन्धों का अन्त किसी सुभाषित उद्धरण आदि के द्वारा हुआ है।[4] आकस्मिकता एवं प्रभाव की दृष्टि से ऐसा अन्त अत्यन्त ही सुन्दर बन पड़ा है। अध्ययनशील द्विवेदी जी के अनेक सुन्दर निबन्धों की समाप्ति प्रायः इसी प्रकार हुई है।

व्यक्तित्व की दृष्टि से द्विवेदी जी के निबन्धों का अध्ययन कम महत्वपूर्ण नहीं है।

---

१. यथा–'भारतभारती का प्रकाशन'

आशा है पाठक इसे लेकर एक बार इसे साद्यन्त पढ़ेंगे और पढ़ चुकने पर –

'हम कौन थे, क्या हो गए हैं, और क्या होंगे अभी।"
मिलकर विचारेंगे हृदय से ये समस्याएं सभी॥"

– विचार-विमर्श,' पृ० १६६।

२. यथा-'महाकवि माघ की राजनीति'—

"अतएव इन्द्रप्रस्थ चलने और वहीं युधिष्ठिर के यज्ञ में शिशुपाल को मारने का निश्चय हुआ।"

— सरस्वती,' फरवरी, १६२२ ई०।

३. यथा-'जगद्धर भट्ट की स्तुति कुसुमांजलि'—

"जगद्धर की तरह भगवान् भाव से हम भी कुछ कुछ ऐसी ही प्रार्थना करके 'स्तुति-कुसुमांजलि' 'की करुण कथा से विरत होते हैं।"

—'साहित्यसन्दर्भ,'पृ० १४६।

४. क. यथा–'उपन्यास-रहस्य'—

"दूकानदारी ही क कुत्सित कामना से जो लोग, पाठकों को पशुवत् समझ कर, घासपात सदृश अपनी बेसिरपैर की कहानियाँ उनके सामने फेंकते हैं—

ते के न जानीमहे।"

—'साहित्यसन्दर्भ,' पृ० १७३।

ख. यथा–'विवाहविषयक विचारव्यभिचार'—

"पर केवल अधिकारी जन ही उस पर कुछ कहने का साहस कर सकते हैं। हम नहीं। हमारी तो वहाँ तक पहुंच ही नहीं—

जिहि मारुत गिरि मेरु उड़ाहीं। कहहु तूल केहि लेखे माहीं॥"

—'साहित्यसन्दर्भ,' पृ० ८०।

निबन्धकार द्विवेदी का व्यक्तित्व उनके सभी निबन्धों में आद्योपान्त ही स्थिर एवं गतिशील है। इस विरोधाभास की व्याख्या अपेक्षित है। द्विवेदी जी के व्यक्तित्व की स्थिरता उनके उद्देश की स्थिरता में है। उनकी निबन्धरचना का उद्देश निश्चित है—पाठकों का मनोरंजन और उनका बौद्धिक तथा चारित्रिक विकास करना। इस सम्बन्ध में उनके विचार भी निश्चित हैं—भारतीयों को अपनी भाषा, साहित्य, धर्म, देश, सभ्यता और संस्कृति के प्रति प्रेम तथा उनके उत्थान के लिए प्रयत्न करना चाहिए। पाठकों में उत्थान और प्रेम की भावना भरने का यह भाव द्विवेदी जी के सभी निबन्धों में समवेतया असमवेत रूप से व्याप्त है। उनके व्यक्तित्व की गतिशीलता इस भाव की अभिव्यजनाशैली में है। प्रस्तुत उद्देश्य की पूर्तिके लिए उन्हें आवश्यकतानुसार आलोचक, सम्पादक, भाषा-संस्कारक आदि के विभिन्न पदों से संग्राम करना पड़ा है। आवश्यकतानुसार उन्हें वर्णनात्मक, व्यग्यात्मक, चित्रात्मक, वक्तृतात्मक, संलापात्मक, विवेचनात्मक या भावत्मकशैली में वर्णनात्मक, भावात्मक या चिन्तनात्मक निबन्धों की सृष्टि करनी पड़ी है।

पाश्चात्य निबन्धकारों की भाँति द्विवेदी जी का व्यक्तित्व उनके निबन्धों में विशेषस्फुट नहीं हो सका है। इसका एक प्रधान कारण है। पश्चिम के व्यक्तित्व-प्रधान निबन्ध का लेखक स्वयं ही अपने निबन्धों का केन्द्र रहा है। द्विवेदी जी की अवस्था इसके ठीक विपरीत है। अनुमोदन का अन्त, अभिनन्दन, मेले और सम्मेलन के भाषण, सम्पादक की विदाई आदि कतिपय आत्मनिवेदनात्मक निबन्धों को छोड़कर अपने किसी भी निबन्ध में द्विवेदी जी ने अपने को निबन्ध का केन्द्र नहीं माना है। पाठक ही उनके निबन्धों का केन्द्र रहा है। उन्होंने प्रत्येक वस्तु को उसी के लाभालाभ की दृष्टि से देखा है। ऐसी दशा में द्विवेदी जी के निबन्धों का व्यक्तिवैचित्र्य से विशेष विशिष्ट न होना सर्वथा अनिवार्य था। मनोरंजकता तथा काव्यात्मकता को जब द्विवेदी जी ने ही गौण स्थान दिया है तब उसे ही प्रधान मान कर उनके निबन्धों की विशेषताओं की सच्ची परीक्षा नहीं की जा सकती। व्यक्तिवैचित्र्य तो व्यक्तित्व का संकुचित अर्थ है। उसका व्यापक एवं उचित अर्थ है व्यक्ति की प्रवृत्तियों, विशेषताओं तथा गुणों का एक सांघातिक स्वरूप। इस दूसरे अर्थ में द्विवेदी जी के निबन्ध उनके व्यक्तित्व से व्याप्त हैं।

यह तो निबन्धकार द्विवेदी के व्यक्तित्व के अव्यक्त पक्ष की बात हुई। उनके व्यक्तित्व का सुव्यक्त पक्ष भी है जो उनके कलात्मक निबन्धों में स्पष्टतया प्रकट हुआ है। इसकी अभिव्यंजना दो रूपों में हुई है—सहृदयता के रूप में और भक्तिभावना के रूप में। पहले में कवि द्विवेदी का रूप स्पष्ट हुआ है और दूसरे में भक्त एवं दार्शनिक द्विवेदी का। 'मेघदूत रहस्य', 'हंस का नीर-क्षीर-विवेक', 'सम्पादक की विदाई' आदि निबन्ध द्विवेदी

जी के सहृदय कवि-हृदय की अभिव्यक्ति करते हैं। 'जगद्धर भट्ट-की स्तुति कुसुमांजलि', 'गोपियों की भगवद्भक्ति' आदि निबन्ध उनके भक्त हृदय के व्यंजक हैं। व्यक्तित्व के प्रत्यक्ष रूप से अनुप्राणित निबन्ध द्विवेदी जी ने बहुत कम लिखे। युग की आवश्यकताओं ने उन्हें वैसा न करने दिया।

द्विवेदी जी की निबन्धकारिता स्वतन्त्ररूप से विकसित नहीं हुई-यह एक सिद्ध तथ्य है। उसे आलोचक, सम्पादक, भाषासुधारक आदि ने समय समय पर आक्रान्त कर रखा था, अतएव उसका पूर्ण विकास न हो सका। साथ ही उस युग का पाठक उस साधारण स्तर से ऊपर की वस्तु स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत नहीं था। निबन्ध की कलात्मकता एवं साहित्यिकता पाठक तथा निबन्धकार के सहयोग पर ही अवलम्बित है। केवल स्थायित्व की दृष्टि से द्विवेदी जी के सभी निबन्धों की परीक्षा करना अनुचित है। उनकी रचना मुख्यतः सामयिक प्रश्नों के समाधान के लिए की गई थी। शुद्ध कला की दृष्टि से ऐसे सामयिक निबन्धों का मूल्य बहुत कम है। तो फिर बातों के संग्रह कहे जाने वाले द्विवेदी जी के इन निबन्धों का हिन्दी-साहित्य में स्थान क्या है?

यहां आलोचना और आलोचक के विषय में भी एक बात कहना आवश्यक हो गया। सौन्दर्यमूलक आलोचना ही आलोचना नहीं है। इतिहास और रचनाकार की जीवनी आदि यदि अधिक नहीं तो सौन्दर्य के समान ही महत्वपूर्ण हैं। सौन्दर्य की ईदृक्ता देशकालानुसार परिवर्तनशील है। इसलिए आज की सौन्दर्यकसौटी पर कल की वस्तु को भद्दी और रद्दी कहना न्यायसंगत नहीं जँचता। आज की कसौटी पर भी द्विवेदी जी के 'प्रतिभा,' 'हिन्दी भाषा की उत्पत्ति,' 'कालिदास के मेघदूत का रहस्य,' 'कालिदास का स्थितिकाल', 'साहित्य की महत्ता' आदि निबन्ध सोलहों आने खरे उतरते हैं। ये हिन्दी-साहित्य की स्थायी निधि हैं। आप्त आलोचक बनने के लिए केवल ज्ञान की ही नहीं सहृदयता की भी अपेक्षा है। निबन्ध के कलात्मक विवेचन में विभिन्न प्रकार से चाहे जो भी कहा जाय किन्तु उसके मूल उद्देश में कोई तात्विकअन्तर नहीं है। हिन्दी साहित्य में निबन्ध का उद्देश रहा है नियत समय पर निश्चित विचारों का प्रचार करना। और इसी कारण पत्रिकाएँ उसके प्रकाशन का माध्यम बनीं। भूमिका में कहा जा चुका है कि द्विवेदी जी के पूर्व भी 'हिन्दी-प्रदीप', 'ब्राह्मण', 'आनन्दकादम्बिनी,' 'भारतमित्र' आदि ने बहुसंख्यक निबन्ध प्रकाशित किए थे, परन्तु उन्होंने निबद्ध रूप से निश्चित विचारों का प्रचार नहीं किया। एक ही निबन्ध में उच्छृंखल भाव से इच्छानुसार सब कुछ कह देने का प्रयास किया गया। द्विवेदी-सम्पादित 'सरस्वती' ने इस कमी को दूर किया। उसका प्रत्येक अंक अपने निबन्धों द्वारा नियत समय पर निश्चित विचारों के प्रचार की घोषणा करता है। हिन्दी-निबन्ध ने 'कला के लिए कला'

वाले सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया। उसकी दृष्टि प्रधानतया उपयोगिता पर ही रही है। इस दृष्टि मे भी द्विवेदी जी और उनकी 'सरस्वती' की देन अप्रतिम है। उद्देश, रीति, शैली आदि सभी दृष्टियों से द्विवेदी जी तथा उनकी सम्पादित 'सरस्वती' ने ठोस, उपयोगी और कलात्मक निबन्धों की रचना के साथ ही अपने तथा परवर्ती युग के निबन्धों की आदर्श भूमिका प्रस्तुत की। हिन्दी-साहित्य को निबन्धकार द्विवेदी की यही देन है।

सातवां अध्याय

सरस्वती-सम्पादन

१६ वीं शती के हिन्दी-पत्रों की अवस्था का निरूपण भूमिका में हो चुका है। १८६७ ई० में प्रकाशित होने वाली "नागरी प्रचारिणी पत्रिका" का उद्देश्य था साहित्यक अनुसन्धान और पर्यालोचन। पाठकों का मनोरंजन, हिन्दी के विविध अंगों का पोषण, परिवर्धन और कवियों तथा लेखकों को प्रोत्साहित करने की भावना से प्रेरित और काशी नागरी प्रचारिणी सभा के अनुमोदन से प्रतिष्ठित 'सचित्र हिन्दी मासिक पत्रिका सरस्वती' का प्रकाशन १६०० ई० से प्रारम्भ हुआ। कदाचित् कार्यगुरुता के कारण और जनता का ध्यान आकृष्ट करने के लिए पहले वर्ष इसकी सम्पादक-समिति में पांच व्यक्ति थे-कार्तिकप्रसादखत्री, किशोरी लाल गोस्वामी, जगन्नाथदास बी० ए०, राधाकृष्ण दास और श्यामसुन्दर दास। प्रथम बारह संख्याओं में सम्पादकों के अतिरिक्त केवल दस अन्य लेखकों ने लिखा। पत्रिका का कलेवर १६ से २१ पन्नों तक ही सीमित रहा 'सरस्वती' के पहले अंक के विषय निम्नलिखित थे—

१. भूमिका
२. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र— जीवनी
३. सिम्बेलीन—महाकवि शेक्सपियर रचित नाटक की आख्यायिका का मर्मानुवाद।
४. प्रकृति की विचित्रता— कुत्ते के मुँह वाला आदमी आदि
५. काश्मीर-यात्रा
६. कवि-कीर्ति-कलानिधि--अर्जुन मिश्र
७. आलोक-चित्रण अथवा फोटोग्राफी

लेख संख्या ६ को छोड़कर सभी लेख सम्पादकों के थे।

प्रथम अंक की प्रारम्भिक भूमिका में ही 'सरस्वती' ने अपने उद्देश्य और रूपरेखा का सुन्दर शब्दचित्र अंकित किया था।[1] खेद है कि प्रथम तीन वर्षों तक उसकी यह प्रतिज्ञा

१"......हिन्दी के उत्साहियों, हितैषियों, उन्नायकों, रसज्ञों और सहयोगियों से ऐसी अखंडनीय आशा क्यों न की जाय कि वे लोग सब प्रकार से अपनी बाहुलता की शीतल छाया में इस नवीन बालिका को आश्रय देने में कदापि परान्मुख न होंगे कि जिनके सन्मुख

अपूर्ण रही। पहले वर्ष पांच सम्पादकों के होते हुए भी उसका भार श्यामसुन्दर दास पर ही रहा। सभा के तथा अन्य उत्तरदायित्वपूर्ण कार्यों में व्यस्त रहने के कारण वे 'सरस्वती' को अपेक्षित समय और शक्ति नहीं दे सकते थे। पहले दो अंकों में पद्य, काव्य, नाटक, उपन्यास चम्पू आदि के नाम पर कुछ भी न निकला। तदुपरान्त भी नाममात्र को ही इनका समावेश हो सका। आरम्भिक विषय-सूची भी गड़बड़ रही। लेखों के अन्त या आरम्भ में कहीं भी लेखकों का नाम नहीं दिया गया। सम्पादकीय टिप्पणी और विविध-विषय-जैसी वस्तु का अभाव रहा। हां, प्रकाशक का वक्तव्य अवश्य था, परन्तु वह उपर्युक्त अभाव का पूरक नहीं कहा जा सकता। उसकी भाषा का आदर्श भी अनिश्चित था।

१९०१ ई० में केवल श्यामसुन्दर दास ही सम्पादक रह गए। अपने एकाकी सम्पादन-काल (१९०१–२) में उन्होंने 'सरस्वती' का बहुत कुछ सुधार किया। १९०१ की मई से 'विविध वार्ता' और जुलाई मे 'साहित्य समालोचना' के खंडों का श्रीगणेश हुआ। वर्ष भर की लेख-सूची लेखकों के नामानुक्रम से प्रस्तुत की गई। १९०२ ई० की रचनाओं के अन्त में रचनाकारों के नाम और चित्रों के सुधार की ओर ध्यान दिया गया। लेखक-संख्या भी दूनी हो गई। द्विवेदी जी के लेखों और व्यंगचित्रों ने 'सरस्वती' के वर्धमान सौन्दर्य में चार चांद लगा दिये।

आज यह अपने नये रंग ढंग, नये वेश विन्यास, नये उद्योग उत्साह और नई मनमोहिनी छटा से उपस्थित हुई है।

इसके नव जीवन धारण करने का केवल यही उद्देश्य है कि हिन्दी रसिकों के मनोरंजन के साथ ही साथ भाषा के सरस्वती भंडार की अंगपुष्टि, वृद्धि और यथायथ पूर्ति हो, तथा भाषा सुलेखकों की ललित लेखनी उत्साहित और उत्तेजित होकर विविध भाव भरित ग्रन्थराजि को प्रसव करे।

और इस पत्रिका में कौन कौन से विषय रहेंगे, यह केवल इसी से अनुमान करना चाहिये कि इसका नाम सरस्वती है। इसमें गद्य, पद्य, काव्य, नाटक, उपन्यास चम्पू इतिहास जीवनचरित, पत्र, हास्य, परिहास, कौतुक, पुरावृत्त, विज्ञान, शिल्प, कला कौशल आदि, साहित्य के यावतीय विषयों का यथावकाश समावेश रहेगा और आगत ग्रन्थादिकों की यथोचित समालोचना की जायेगी। यह हम लोग निज मुख से नहीं कह सकते कि भाषा में यह पत्रिका अपने ढंग की प्रथम होगी। किन्तु हां, सहृदयों की समुचित सहायता और सहयोगियों की सच्ची सहानुभूति हुई तो अवश्य यह अपने कर्तव्य पालन में सफल मनोरथ होने का यथाशक्य उद्योग करने में शिथिलता न करेगी।

इससे लाभ केवल यही सोचा गया है कि सुलेखकों की लेखनी स्फुरित हो जिससे हिन्दी की अंगपुष्टि और उन्नति हो। इसके अतिरिक्त हम लोगों का यह भी दृढ़ विचार है कि यदि इस पत्रिका सम्बन्धीय सब प्रकार का व्यय देकर कुछ भी लाभ हुआ तो इसके लेखकों की हम लोग उचित सेवा करने में किसी प्रकार की त्रुटि न करेंगे।"

सरस्वती, भाग १ सं० १, आरम्भिक भूमिका।

उपर्युक्त सुधारों और उत्कर्षों के होते हुए भी 'सरस्वती' का मान विशेष ऊंचा न हो सका। उसके प्रतिज्ञा-वाक्य और योजनाएँ यथार्थता का रूप धारण न कर सकीं। विषय, भाषा, पाठक, और लेखक–सभी की दशा शोचनीय बनी रही। १९०२ ई० के अन्त में श्यामसुन्दर दास ने भी सम्पादन करने में असमर्थता प्रकट की। उन्होंने सम्मति दी, बाबू चिन्तामणि घोष ने प्रस्ताव किया और पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी ने सरस्वती' का सम्पादन स्वीकार कर लिया।

जनवरी १९०३ ई० से द्विवेदी जी ने सम्पादन आरम्भ किया। पत्रिका के अंग-अंग में उनकी प्रतिभा की झलक दिखाई पड़ी। विषयों की अनेक-रूपता, वस्तुयोजना, सम्पादकीय टिप्पणियों, पुस्तक-परीक्षा, चित्रों, चित्र-परिचय, साहित्य-समाचार के व्यंगचित्रों, मनोरंजक सामग्री, बाल-वनितोपयोगी रचनाओं, प्रारम्भिक विषय-सूची, प्रूफ-संशोधन और पर्यवेक्षण में सर्वत्र ही सम्पादन-कला-विशारद द्विवेदी का व्यक्तित्व चमक उठा।

तत्कालीन दुर्विदग्ध मायावी सम्पादक अपने को देशोपकारव्रती, नानाकला-कौशल-कोविद निःशेष-शास्त्र-दीक्षित, समस्त-भाषा-पंडित और सकलकला-विशारद समझते थे। अपने पत्र में वे बेसिरपैर की बातें करते, रुपया ऐंठने के लिए अनेक प्रकार के वंचक विधान रचते, अपनी दोषराशि को तृणवत् और दूसरों की नन्हीं सी त्रुटि को सुमेरु समझकर अलेख्य लेखों द्वारा अपना और पाठकों का अकारण समय नष्ट करते थे। निस्सार निंद्य लेखों को तो सादर स्थान देते और विद्वानों के सम्मान्य लेखों की अवहेलना करते थे। आलोचनार्थ आई हुई पुस्तकों का नाममात्र प्रकाशित करके मौन धारण कर लेते और दूसरों की न्याय-संगत समालोचना की भी निंदा करते। दूसरे पत्रों और पुस्तकों से विषय चुराकर अपने पत्र की उदरपूर्ति करते और उनका नाम तक न लेते थे। पत्रोत्तर के समय पूरे मौनी बन जाते, स्वार्थवश परम नम्रता दर्शाते और अपने दोष की निदर्शना देखकर प्रलयंकर हर का-सा उग्र रूप धारण कर लेते थे। भली-बुरी औषधियों, गई-बीती पुस्तकों और सभी प्रकार के कूड़ा-करकट का विज्ञापन प्रकाशित करके पत्र-साहित्य को कलंकित करते थे। अपनी स्वतंत्रता, विद्या और बल का दुरुपयोग करके अपमानजनक लेख छापते और फिर भय उपस्थित होने पर हाथ जोड़कर क्षमा मांगते थे।[1]

सम्पादन-भार ग्रहण करने पर द्विवेदीजी ने अपने लिए मुख्य चार आदर्श निश्चित किए–समय की पाबन्दी करना, मालिकों का विश्वास-भाजन बनना, अपने हानि-लाभ की परवाह न करके पाठकों के हानि-लाभ का ध्यान रखना और न्याय-पथ से कभी भी विचलित

१ द्विवेदी-लिखित और 'द्विवेदी-काव्य-माला' में संकलित 'समाचारपत्र-सम्पादकस्तवः' के आधार पर।

न होना।[1] उस समय हिन्दी पत्रिकाएँ नियत समय पर न निकलती थीं। वे अपने विलम्ब का कारण बतलातीं–सम्पादकजी बीमार हो गये, उनकी लेखनी टूट गई, मशीन बिगड़ गई, प्रकाशक महाशय के सम्बन्धी का स्वर्गवास हो गया, इत्यादि। द्विवेदी जी इन विडम्बनापूर्ण घोषणाओं के कायल न थे। उनकी निश्चित धारणा थी कि पत्रिका का बिलम्बित प्रकाशन ग्राहकों के प्रति अन्याय और सम्पादकके चरित्रका घोर पतन है। मशीन फेल होती है, हुआ करे; सम्पादक बीमार है, पड़ा रहे; कलम टूट गई है, चिन्ता नहीं; सम्बन्धी मर रहे हैं, मरा करें; सम्पादक को अपना कर्तव्यपालन करना ही होगा, पत्रिका नियत समय पर ग्राहक के पास भेजनी ही होगी। सम्पादक के इस कठिन उत्तरदायित्व का निर्वाह उन्होंने जी जान होमकर किया। चाहे पूरा का पूरा अंक उन्हेंही क्यों न लिखना पड़ा हो, उन्होंने पत्रिका समय पर ही भेजी। केवल एक बार, उनके सम्पादन–काल के आरम्भ में, १९०३ ई० की दूसरी और तीसरी संख्याएँ एक साथ निकलीं। इस अपराध के लिए नवागत सम्पादक द्विवेदी जी सर्वथा क्षम्य हैं। इस दोष की आवृत्ति कभी नहीं हुई। कम से कम छः महीने की सामग्री उन्होंने अपने पास सदैव प्रस्तुत रखी। जब कभी वे बीमार हुए, छुट्टी ली, या जब अन्त में अवकाश ग्रहण किया तब अपने उत्तराधिकारी को कई महीने की सामग्री देकर गए जिससे 'सरस्वती' के प्रकाशन में विलम्ब, अतएव ग्राहकों को असुविधा और कष्ट न हो। उनके लगभग सत्रह वर्षोंके दीर्घ सम्पादन-काल में एक बारभी 'सरस्वती' का प्रकाशन नहीं रुका। उसी समय के उपार्जित और स्वलिखित कुछ लेख द्विवेदी जी के संग्रह में अभिनन्दन के समय भी उपस्थित थे।[2] वे आज भी काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा के कलाभवन और दौलतपुर में रक्षित हैं।

उन्होंने 'सरस्वती' के उद्देश्यों की दृढ़ता के साथ रक्षा की। अपने कारण स्वामियों को कभी भी उलझन में न डाला। उनकी 'सरस्वती'-सेवा क्रमशः फूलती फलती गई। उनकी कर्तव्यनिष्ठा और न्यायपरायणता के कारण प्रकाशकों ने उन्हें सर्वदा अपना विश्वासपात्र माना।[3]

द्विवेदी जी के लेखो तथा कथनों से विदित होता है कि उनके लक्ष्य थे—हिन्दी-भाषियों की मानसिक भूमिका का विकास करना, संस्कृत-साहित्य का पुनरुत्थान, खड़ीबोली-कविता का उन्नयन, नवीन पश्चिमीय शैली की सहायता से भावाभिव्यंजन, संसार की वर्तमान प्रगति का परिचय और साथ ही प्राचीन भारत के गौरव की रक्षा करना। हिन्दी-पाठकों की असंस्कृत

---

१. आत्म–निवेदन, 'साहित्य-सन्देश', एप्रिल, १९३९ ई०, के आधार पर

२. 'साहित्य-संदेश'—एप्रिल, १९३९ ई० में प्रकाशित आत्मनिवेदन के आधार पर

३ " " " " "

रुचि को तृप्त करने का प्रयास न करके उन्होंने उसके परिष्कार का ही उद्योग किया। इस अर्थ में उन्होंने लोकरुचि और लोकमत की अपेक्षा अपने सिद्धांतों और आदर्शों का ही अधिक ध्यान रखा। वस्तुतः उनके सम्पादक-जीवन की समस्त साधना 'सरस्वती'-पाठकों के ही कल्याण के लिए थी। विविधविषयक उपयोगी और रोचक लेखों, आख्यायिकाओं, कविताओं, श्लोकों, चित्रों, व्यंग-चित्रों, टिप्पणियां आदि के द्वारा जनता के चित्त को 'सरस्वती' के पठन में रमाया।

आज 'वीणा,' 'विशाल भारत,' 'हंस,' 'माधुरी,' 'विज्ञान,' 'भूगोल,' साहित्य-संदेश' आदि अनेक व्यापक एवं विशिष्ट-विषयक पत्रिकाएँ हिन्दी का गौरव बढ़ा रही हैं। द्विवेदी जी के सम्पादन-काल में, खद्योत-सरीखे साप्ताहिक और मासिक पत्रों की उस अंधकारमयी रजनी में, अपनी अप्रतिहत प्रभा से चमकने वाली एक ही ध्रुवतारिका थी—'सरस्वती'। तब उसमें कुछ प्रकाशित कराना बहुत बड़ी बात थी। लोग द्विवेदी जी को अनेक प्रलोभन देते थे। 'कोई कहता-मेरी मौसीका मरसिया छाप दो, मै तुम्हे निहाल कर दूंगा। कोई लिखता-अमुक सभापति की स्पीच छाप दो, मैं तुम्हारे गले मे बनारसी डुपट्टा डाल दूंगा। कोई आज्ञा देता—मेरे प्रभु का सचित्र जीवन चरित्र निकाल दो तो तुम्हे एक बढिया घड़ी या पैरगाड़ी नजर की जावेगी।'[१] द्विवेदी जी अपने भाग्य को कोसते और बहरे तथा गूंगे बन जाते थे। पाठकों के लाभ के लिए स्वार्थों की हत्या कर देने में ही उन्होंने गौरव, सुख और शाति का अनुभव किया। शकर की थैलिया भेंट करने वाले सज्जन को उन्होने मुँहतोड़ उत्तर दिया था—"तुम्हारी थैलिया जैसी की तैसी रखी हैं। 'सरस्वती' इस तरह किसी के व्यापार का साधन नही बन सकती।"[२]

सत्समालोचना के आगे उन्होंने सम्बन्धों को प्रधानता नहीं दी। उनकी खरी और अप्रिय आलोचनाओं से असन्तुष्ट अनेक सामाजिक सत्पुरुषो ने 'सरस्वती' का वहिष्कार कर दिया परन्तु द्विवेदी जी डिगे नहीं।[३] स्वार्थी और मायावी संसार परार्थी और अमायिक द्विवेदी की सचाई का मूल्य न आँक सका। उन्होंने अपने ही लेखों—'विक्रमाङ्कदेव-चरित-चर्चा,' 'नाट्यशास्त्र', 'व्योमविहरण' आदि—को स्थानाभाव के कारण न छापकर दूसरो की रचनाओं को उचित स्थान और सम्मान दिया।[४] 'सरस्वती' को वाद-विवाद के चमरपन से बचाने के लिए उन्होने अपना ही लेख 'शीलनिधान जी की शालीनता' 'भारतमित्र' में छपाया।[५] यह एक सम्पादक की न्यायनिष्ठा और निष्पक्षता की पराकाष्ठा थी।

---

१. 'आत्म निवेदन', 'साहित्य-संदेश', एप्रिल १६३६ ई०, पृ० ३०४
२. 'द्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रन्थ', पृ० ५४३
३. 'आत्म-निवेदन', 'साहित्य संदेश', एप्रिल १६३६ ई०, पृ० ३०४
४. 'सांवत्सरिक सिंहावलोकन', 'सरस्वती', भाग ५, संख्या १२
५. काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के कलाभवन में रक्षित कतरनें।

उस विषम काल में जब न तो साहित्य-सम्मेलन की योजनाएं थीं, न विश्व-विद्यालयों और कालेजों में हिन्दी का प्रवेश था, न रंग-विरंगे चटकीले मासिकपत्र थे, हिन्दी के नाम पर लोग नाक भौं सिकोड़ते थे, लेख लिखने की तो बात ही दूर रही, अँगरेजीदां बाबू लोग हिन्दी में चिट्ठी लिखना भी अपमान-जनक समझते थे, जनसाधारण में शिक्षा का प्रचार नगण्य था, हिन्दी-पत्रिका 'सरस्वती' को जनता का हृदय-हार बना देना यदि असाध्य नहीं तो कष्टसाध्य अवश्य था। हिन्दी के इने गिने लेखक थे और वे भी लकीर के फकीर। समाज की आकांक्षाएँ बहुमुखी थी। इतिहास पुरातत्व, जीवन-चरित,पर्यटन, समालोचना, उपन्यास, कहानी, व्याकरण, काव्य, नाटक, कोष, राजनीति, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, दर्शन, विज्ञान, सामयिक प्रगति, हास्य-विनोद आदि सभी विषयों की विविध रचनाओं और तदर्थ विपन्न हिन्दी को सम्पन्न बनाने के लिए विशिष्ट कोटि के लेखको की आवश्यकता थी। काल था गद्यभाषा खड़ीबोली के शैशव का। काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा में सुरक्षित 'सरस्वती' की हस्त-लिखित प्रतियाँ इस बात की साक्षी हैं कि तत्कालीन साहित्य-कारोंकी तुतली भाषा व्याकरण आदि के दोषो से कितनी भ्रष्ट और भावाभिव्यंजन में कितनी असमर्थ थी।

लेखकों की कमी का यह अर्थ नही है कि लेखक थे ही नहीं। 'सरस्वती' के अस्वीकृत लेखों[1] से स्पष्ट सिद्ध है कि लेखकों की संख्या पर्याप्त थी। परन्तु उनकी रही रचनाएँ अनभीष्ट थीं। सम्पादन-काल के आरम्भ मे 'सरस्वती' को आदर्श पत्रिका बनाने के लिए द्विवेदी जी को अथक परिश्रम करना पड़ा। इस कथन की पुष्टि में १९०३ ई० की 'सरस्वती' का निम्नांकित विवरण पर्याप्त होगा—

संख्या-मूलक विवरण

'सरस्वती' की संख्या	कुल रचनाएं	अन्य लेखको की	द्विवेजी जी की
१	११	१	१०
२।३	१५	३	१२
४	१२	२	१०
५	१२	४	८
६	१३	४	९
७	१५	४	११
८	११	३	८
९	१२	६	६
१०	१२	५	७
११	१७	६	११
१२	१३	७	६

१. काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के कलाभवन में रक्षित।

विषयमूलक विवरण

विषय	कुल रचनाएं	अन्य लेखकों की	द्विवेदी जी की
अद्भुत	१०	१	६
आख्यायिका	८	६	२
कविता	२३	१६	४
जीवनचरित (स्त्री)	८	०	८
जीवनचरित (पुरुष)	११	४	७
फुटकर	१६	३	१३
विज्ञान	१४	१	१३
साहित्य	६	४	५
व्यंग्यचित्र	१०	१	६

वर्ष भर की कुल १०६ रचनाओं में ७० रचनाएँ द्विवेदी जी की हैं। अन्य लेखकों की देन आख्यायिका, कविता, साहित्य और पुरुषों के जीवनचरित तक ही सीमित है। लेखकों की कमी ने द्विवेदी जी को अन्य नामों से भी लेख लिखने की प्रेरणा दी। सम्भवतः सम्पादक के नाम की बारम्बार आवृत्ति से बचने के लिए, अपने प्रतिपादित मत का विभिन्न लेखकों के नाम से समर्थन करने, उपाधिविभूषित अन्य प्रान्तीय या आलंकारिक नामों के द्वारा पाठकों पर अधिक प्रभाव डालने और उस लाठी-युग के लड़ैत लेखकों की भयंकर मुठभेड़ से बचने के लिए ही उन्होंने कल्पित नामों का प्रयोग किया था।

द्विवेदी जी ने कभी 'कमलाकिशोर त्रिपाठी'[१] बनकर 'समाचार पत्रों का विराट रूप'

१. प्रमाण:—

(क) 'समाचार पत्रों का विराट रूप' द्विवेदी जी के ही 'समाचारपत्र-सम्पादकस्तव' का गद्यानुवाद है। यदि कोई और व्यक्ति इसका लेखक होता तो द्विवेदी जी उसकी भर्त्सना अवश्य करते।

(ख.) कलाभवन में रक्षित हस्तलेख में लेखक का नाम नहीं दिया गया है, द्विवेदी जी ने ही पेंसिल से कमलाकिशोर त्रिपाठी लिख दिया है। यदि कोई अन्य लेखक होता तो उसी स्याही से अपना नाम अवश्य देता। हस्त-लिखित प्रति से प्रतीत होता है कि द्विवेदी जी ने किसी नौसिखिए से अनुवाद कराकर उसका संशोधन किया है।

(ग.) कमलाकिशोर त्रिपाठी नामक तत्कालीन किसी लेखक का पता नहीं चलता। द्विवेदी जी के भानजे कमलाकिशोर त्रिपाठी उस समय निरे बालक थे। द्विवेदी जी ने अपने नाम के बदले उन्हीं का नाम उठा कर रख दिया।

(घ) उस कठोर लेख को अपने नाम से सम्बद्ध करने से प्रतिद्वन्द्वियों की द्वेष-भावना उत्ते-

दिखलाया तो कभी 'कल्लू अल्हइत'[1] बनकर 'सरगौ नरक ठेकाना नाहिं' का आल्हा गाया। कभी तो 'गजानन गणेश गर्वखंडे'[2] के नाम से 'जम्बुकी न्याय' की रचना की और कभी 'पर्यालोचक'[3] के नाम से ज्योतिषवेदांग की आलोचना की।[4] कहीं 'कवियों की ऊर्मिला-विषयक उदासीनता' दूर करने 'भारत का नौका-नयन' दिखलाने, 'बाली द्वीप में हिन्दुओं का राज्य' सिद्ध करने अथवा 'मेघदूत-रहस्य' खोलने के लिए 'भुजंग भूषण भट्टाचार्य'[5] बने, तो कहीं 'अमेरिका के अखबार', 'रामकहानी की समालोचना', 'अलबरूनी'

जित हो उठती। कल्पित नाम से द्विवेदी जी के मत की पुष्टि होती थी।

(ङ) लेख के नीचे स्वाभाविक रूप से M.P.D. लिखकर काट दिया है। और उसके ऊपर कमलाकिशोर त्रिपाठी लिखा है।

१. उपर्युक्त आल्हे का 'द्विवेदी-काव्यमाला' में समावेश, 'द्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रन्थ', पृष्ठ ५३२ आदि से प्रमाणित।

२. हस्त-लिखित प्रति में पहले गजानन गणेश गर्वखंडे का सानुप्रास नाम लेखक के रूप में दिया फिर किसी कारणवश काट दिया और कविता अपने ही नाम से छपाई-'सरस्वती' के स्वीकृत लेखों का बंडल, १६०६ ई०, कलाभवन, काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा।

३. काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के कार्यालय में रक्षित बंडल २ (क) के पत्रों से प्रमाणित।

४. प्रस्तुत अवच्छेद में वर्णित रचनाओं का स्थान और काल:—

समाचार पत्रों का विराट रूप······	सरस्वती १६०४ ई०, पृ० ३६७
सरगौ नरक ठेकना नाहि········	१६०६ ई०, पृ० ३८
जम्बुकी न्याय······	,, ,, पृ० २१७
ज्योतिष वेदाग······	१६०७ ई०, पृ० २०,१८६
कवियो की उर्मिला-विषयक उदासीनता···	१६०८ ई०, पृ० ३१३
भारत का नौकानयन···	१६०६ ई०, पृ० ३०५
बाली द्वीप में हिन्दुओं का राज्य···	१६११ ई०, पृ० २१६
मेघदूत-रहस्य···	,, ,, पृ० ३६५
अमेरिका के अखबार···	१६०६ ई०, पृ० १२४
राम कहानी की समालोचना···	,, ,, पृ० ४५०
अलबरूनी···	१६११ ई०, पृ० २४२
भारतवर्ष का चलन बाजार सिक्का···	१६१२ ई०, पृ० ६०६
मस्तिष्क······	१६०६ ई०, पृ० २२१
स्त्रियों के विषय में अल्प निवेदन ··	१६१३ ई०, पृ० ३८४
शब्दों के रूपान्तर···	१६१४ ई०, पृ० ४८३

५. प्रमाण:—

(क.) इनके लेखों में दूसरे के लेखों-जैसा कोई संशोधन नहीं है।

(ख) लिखावट निःसन्देह द्विवेदी जी की है।

'और भारत का चलन बाज़ार सिक्का' आदि लेखों के प्रकाशनार्थ श्री कंठ पाठक एम० ए०[१] की उपाधि-मंडित संज्ञा अपनाई। 'मस्तिष्क' की विचारणा के लिए तो लोचन प्रसाद पांडेय[२] बन गए। एक बार 'स्त्रियों के विषय में अत्यल्प निवेदन' करने के लिए 'कस्यचित् कान्यकुब्जस्य'[३] पंडिताऊ जामा पहना तो दूसरी बार शब्दों के रूपान्तर की विवेचना करने के लिए 'नियम नारायण शर्मा'[४] का सैनिक वेष धारण किया।

पाठकों की बहुमुखी आकांक्षाओं की पूर्ति अकेले द्विवेदी जी के मान की न थी। आवश्यकता थी विविध विषयों के विशेषज्ञ लेखकों की जो 'सरस्वती' की हीनता दूर कर सकते। पारखी और दूरदर्शी द्विवेदी जी ने होनहार लेखकों पर दृष्टि दौड़ाई। उन्होंने हिन्दी-प्रान्तों और भारतवर्ष में ही नहीं योरप और अमेरिका में भी हिन्दी-लेखकों को ढूंढ़ा। सत्यदेव, भोलादत्त पांडे, पांडुरंग खानखोजे और रामकुमार खेमका अमेरिका मे; सुन्दरलाल, सन्त निहाल सिंह, जगद्विहारी सेठ और कृष्णाकुमार माथुर इंगलैंड से; प्रेम नारायण शर्मा, और वीरसेन सिंह दक्षिणी अमेरीका मे तथा बेनीप्रसाद शुक्ल फ्रांस से लेख भेजते थे।[५] कामता प्रसाद गुरु, रामचन्द्र शुक्ल, केशव प्रसाद मिश्र, मैथिली शरण गुप्त, गोपाल शरण सिंह, लक्ष्मीधर बाजपेयी, गंगानाथ झा, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, देवीदत्त शुक्ल, बाबूराव विष्णु पराड़कर, रूप नारायण पांडेय, विश्म्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' आदि की चर्चा यथास्थान की गई है।

(ग.) नीचे द्विवेदी जी के ही अक्षरों में भुजंग भूषण भट्टाचार्य लिखा गया है

(घ.) इसकी बहुत कुछ पुष्टि 'रसज्ञ-रंजन' की भूमिका से हो जाती है, यद्यपि उसी में आए हुए 'विद्यानाथ' कामता प्रसाद गुरु हैं।

१. 'राम कहानी की समालोचना' की लिखावट आद्योपान्त द्विवेदी जी की है। नीचे द्विवेदी जी के अक्षरों में श्री कंठ पाठक और फिर उसके नीचे श्री कंठ पाठक एम० ए० लिखा गया है।

२. मूल रचना की लिखावट सर्वांश में द्विवेदी जी की है।

३. प्रमाण: (क) हस्त लिखित प्रति किसी और की लिखी हुई है परन्तु कहीं संशोधन नहीं है। जान पड़ता है कि द्विवेदी जी के वचन का अनुलेख है।

(ख) नीचे स्याही से द्विवेदी जी के हस्ताक्षर हैं और फिर काटकर पेंसिल से 'कस्यचित् कान्यकुब्जस्य' कर दिया गया है।

४ प्रमाण: (क) लिखावट द्विवेदी जी की है।

(ख) हाशिये पर आदेश किया है— पं० सुन्दरलाल जी, कृपा करके इस लेख को ध्यान से पढ़ लीजिएगा। निन्दा से 'सरस्वती' को बचाइएगा।

५. 'सरस्वती' की विषय-सूची में इन लेखकों के नाम के सामने कोष्ठक में इनके स्थान का भी उल्लेख किया गया है।

द्विवेदी जी के स्वास्थ्य की हानि का प्रधान कारण आज महान् साहित्यकार कहलाने वाले लेखकों की अशुद्धिभरी रचनाओं का आद्योपान्त संशोधन ही था। लेखकों से पत्र व्यवहार, प्रूफसंशोधन और पर्यवेक्षण के अनन्तर अन्य लेखकों की रचनाओं को काट-छांटकर सुधारने का भगीरथप्रयत्न[1] और उस पर भी अनेक उपयोगी और आवश्यक लेखों को स्वयं लिखकर 'सरस्वती' की प्रत्येक संख्या नियत समय पर प्रस्तुत करना द्विवेदी जी-जैसे असाधारण सम्पादक का ही काम था। दुस्साध्य संशोधन-कार्य तो कभीकभी उन्हें आक्रान्त कर देता था। सत्यशरण रतूड़ी की 'शरत्-स्वागत' कविता का कायाकल्प करते हुए उन्होंने हाशिये पर अंगरेजी में आक्षेप किया—

"नोट—ये कवि मेरे लिए घोर दुःख के कारण हैं।"[2] निस्संदेह कष्ट की सीमा हो जाने पर ही द्विवेदी जी ने ऐसा लिखा होगा। इस अनन्त परिश्रम से पराजित होकर एक बार उन्होंने गिरिधर शर्मा की 'अंशुमती' कविता को मैथिली शरण गुप्त के पास संशोधनार्थ भेजते हुए उसके हाशिए पर आदेश किया—

'मैथिलीशरण जी,

दया कीजिए, हमारी जान बचाइए। इन दोनों कविताओं को ज़रा ध्यान से अपनी तरह देख जाइए। फिर उचित संशोधन करके ४–५ दिन में यथा संभव शीघ्र ही लौटा दीजिए। कई जगह शब्दस्थापना का क्रम ठीक नहीं। पढ़ते नहीं बनता।

म० प्र० द्विवेदी २२.३.११।"[3]

'सरस्वती'-सम्पादन के कठोर यज्ञ में द्विवेदी जी ने अपने स्वास्थ्य का बलिदान कर दिया। १६१० ई० में उन्हें पूरे वर्ष भर की छुट्टी लेनी पड़ी। तत्पश्चात् दस वर्षों की कष्टकरी साधना के कारण उनका शरीर जर्जर हो गया और उन्हें विवश होकर 'सरस्वती'-सेवा से विश्राम ग्रहण करना पड़ा।

लेखकों के प्रति द्विवेदी जी का व्यवहार विशेष सराहनीय था। जब कोई रचना उनके पास पहुँचती तो वे तत्काल उसे देखते, शीघ्र ही उसकी पहुँच, छपने या न छपने का उत्तर भी भेज देते। अस्वीकृत रचना लौटाते समय लेखक के आश्वासन के लिए कोई न कोई वाक्य अवश्य लिख देते थे जिससे वह अप्रसन्न या हतोत्साह न होकर गद्‌गद् हो जाता

---

१. द्विवेदी जी के संशोधन-कार्य की गुरुता का न्यूनाधिक दिग्दर्शन परिशिष्ट संख्या ३ में उद्धृत संशोधित रचना से हो जायगा।

२. 'सरस्वती' के स्वीकृत लेख, बंडल १६०५ ई०, कला-भवन, ना. प्र. सभा, काशी।

३. 'सरस्वती' के स्वीकृत लेख, बंडल १६११ ई०, का. ना. प्र. सभा, कला-भवन।

था। दिसम्बर १६१३ ई० में केशवप्रसाद मिश्र की 'सुदामा' शीर्षक लम्बी तुकबन्दीमें उसके दोषों का निर्देश और उन्हे दूर कर कहीं अन्यत्र छपा लेने का आदेश किया।[१] मैथिलीशरण गुप्त की भी पहली कविता 'शरद' अस्वीकृत हुई, परन्तु दूसरी कविता 'हेमन्त' को उचित संशोधन और परिवर्धन के साथ 'सरस्वती' में स्थान मिला।[२] उनका यह व्यवहार सभी लेखकों के प्रति था। वे रचनाओं में आमूल परिवर्तन करते, शीर्षक तक बदल देते थे। अप्रत्याशित संशोधनों के कारण मिथ्याभिमानी असंतुष्ट लेखक डाँटकर पत्र लिखते और द्विवेदी जी अत्यन्त विनम्र शब्दों में क्षमा मागते, उन्हे समझाते-बुझाते थे।[३]

उनके संपादकीय शिष्टाचार और स्नेहपूर्ण व्यवहार में लेखकों के प्रति शालीनता, नम्रता और खुशामद की सीमा हो जाती। यह संपादक द्विवेदी का गौरव था। सच्ची लगन, विस्तृत अध्ययन, सुन्दर शैली और सज्जनोचित संकोच वाले लेखकों का उपहास न करके वे उन्हे उत्साहित करते और गुरुवत् स्नेह तथा सहानुभूति से उनके दोषों को समझाते थे। जिस लेखक को लिखना आ जाता उसे 'सरस्वती' निःशुल्क भेजते और योग्यतानुसार पुरस्कार भी देते थे। लक्ष्मीधर वाजपेयी के 'नाना फड़नवीस' नामक विस्तृत लेख को अत्यन्त परिश्रम से काटछाँट कर आठ पृष्ठों में छापा और सोलह रुपया पुरस्कार भी भेज दिया।[४] आदर्श संपादक द्विवेदी जी अपने लघु लेखकों पर भी कृपा रखते थे।

द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' को व्यक्ति-विशेष या वर्ग-विशेष को संतुष्ट करने का साधन नहीं बनाया। उन्होंने ग्राहक-समुदाय को स्वामी, और अपने को सेवक समझा। 'सरस्वती' का उद्देश्य था अपने समस्त पाठकों को प्रसन्न तथा लाभान्वित करना। द्विवेदी जी ने ज्ञानवर्धक और मनोरंजक रचनाओं का कभी तिरस्कार नहीं किया। कितने ही यश और धन के लोलुप स्वार्थान्ध महानुभाव अपनी या अपने स्वामियों की असुन्दर, अनुपयोगी और नीरस रचनाएं चित्र एवं जीवनचरित छपाने की अनधिकार चेष्टा करते थे। कितनों की भाषा इतनी लचर, क्लिष्ट और दूषित होती थी कि उसका संशोधन ही असम्भव होता था। कठोर कर्त्तव्य द्विवेदी जी को उनका तिरस्कार करने के लिए बाध्य करता था। ये महानुभाव अस्वीकृत रचनाओं को वापस मंगाने के लिए टिकट तक न भेजते, महीनों बाद उनकी खोज लेते और धमकियां तथा कुत्सापूर्ण उलाहने भेजकर अपना एवं सम्पादक का समय व्यर्थ नष्ट करते थे।[५] द्विवेदी जी व्यक्तिगत पत्र या सांवत्सरिक सिंहावलोकन',

१ 'सरस्वती', भाग ४०, सं० २, पृ० १८६.
२. 'सरस्वती', भाग ४०, सं० २, पृ० १८८.
३. 'सरस्वती', भाग ४० सं० २, पृ० १४१; 'द्वि. मी.' ५२-५३,
४. 'सरस्वती', भाग, ४०, सं० २ पृ० ११६
५. 'लेखकों से प्रार्थना' 'सरस्वती' भा. १६, खंड २, सं ३ के आधार पर

'लेखकों से प्रार्थना', 'लेखकों का कर्त्तव्य'[१] आदि लेखों द्वारा लेखकों को चेतावनी दे दिया करते थे। इतने पर भी जो 'सरस्वती' के लक्ष्य और मान के अनुपयुक्त रचनाएं भेजता वह अवश्य ही तिरस्कार का पात्र था। लेखकों के प्रति उनके सहृदयतापूर्ण व्यवहार का प्रमाण उन्हीं के शब्दों में लीजिए—

"नरदेव शास्त्री—आप ऐसे ऐसे रद्दी लेखों का स्वागत करते हैं, यह क्या बात है? द्विवेदी जी—(सस्मित) द्वार पर आने वालों का स्वागत करना परमधर्म है और जिन महानुभावों को बार बार लिख कर लेख मँगाया जाता है, उनका तो आदर आवश्यक ही है।"[२]

द्विवेदी जी ने अपने व्यक्तित्व, वाणी और संशोधन की कठिन तपस्या द्वारा अनेक लेखकों और कवियों को 'सरस्वती' का भक्त बनाया। कितने ही लेखक 'सरस्वती' की सुन्दरता, लोकप्रियता, ईदृक्ता और इयत्ता से आकृष्ट होकर स्वयं आए।

द्विवेदी जी के संपादन-काल के पूर्व अनेक हिन्दी-पत्रिकाओं ने अपने को विविध-विषयों की मासिक-पुस्तक घोषित किया,[३] परन्तु उनकी वाणी कभी भी कर्म का रूप न धारण

---

१. समय समय पर 'सरस्वती' में प्रकाशित

२. 'हंस', 'अभिनन्दनांक', एप्रिल, १९३३ ई०

३ (क) अपने को 'विद्या, विज्ञान, साहित्य, दृश्य, श्रव्य और गद्य, पद्य, महाकाव्य, राजकाज समाज और देश दशा पर लेख, इतिहास, परिहास, समालोचनादि विविध विषय वारि बिन्दु भरित बलाहकावली" (माला ४, मेघ १, १९०२ ई०) समझने वाली 'आनंद-कादंबिनी' की माला चार, मेघ ८-९ की विषय-सूची इस प्रकार थी—

१. संपादकीय सम्मति समीर, नवीन सम्वत्सर, उदारता का पुरस्कार, स्वामी रामतीर्थ, हर्ष, यथार्थ प्रजाहित, शोक!!! चैतन्यमय जगत।

२. प्राप्ति स्वीकार वा समालोचना सीकर

३. साहित्य सौदामिनी—लक्ष्मी।

४. काव्यामृत वर्षा—आनंद बधाई, दिल्ली दरबार मित्र मंडली के यार।

५. निवेदन और सूचना।

(ख) 'हिन्दी-प्रदीप' की घोषणा थी—"विद्यानाटक, इतिहास, साहित्य, दर्शन, राज-सम्बन्धी इत्यादि के विषय में हर महीने की पहली को छपता है।" (जिल्द २५, संख्या १-२, जनवरी-फरवरी, १९०३ ई०) और विषय थे:—

१. हमारा पच्चीसवा वर्ष

२. ढोल के भीतर पोल

३. काल चक्र का चक्कर

४. टोपी वर्सस साफा

कर सकी। द्विवेदी-संपादित 'सरस्वती' ने हिन्दी-मासिक पत्रों के इस कलंक को दूर किया। अद्भुत और विचित्र विषयों के आकर्षण व आख्यायिकाओं की सरसता, आध्यात्मिक विषयों की ज्ञान-सामग्री, ऐतिहासिक विषयों की राष्ट्रीयता, कविताओं की मनोहरता और कांतासंमित उपदेशों, जीवनियों के आदर्श चरित्रों, भौगोलिक विषयों में समाविष्ट देश-विदेश की ज्ञातव्य और मनोरंजक बातों, वैज्ञानिक विषयों में वर्णित विज्ञान के आविष्कारों और उनके महत्व की कथाओं, शिक्षा-विषयों के अन्तर्गत देश की अवनत और विदेशों की उन्नत शिक्षा की समीक्षा, शिल्पादि-विषयक लेखों में भारत तथा अन्य देशों की कारीगरी के निदर्शन, साहित्य-विषयों में साहित्य के सिद्धान्तों, रचनाओं और रचनाकारों की समालोच-नाओं, फुटकर विषयों में विविध प्रकार की व्यापक बातों की चर्चा विनोद और आख्यायिका, हँसी-दिल्लगी एवं मनोरंजक श्लोकों की मनोरंजकता, चित्रों के उदाहरण और कला, व्यंग्यचित्रों में हिन्दी-साहित्य की कुछ दुरवस्था के निरूपण आदि ने 'सरस्वती' को सर्वांगसुन्दर बना दिया।

द्विवेदी जी की संपादन-कला की सर्व-प्रधान विशेषता थी 'सरस्वती' की विविध-विषयक सामग्री की समंजस योजना। फलक था, तूलिका थी, रंग थे, परन्तु चित्र न था। प्रतिभाशाली चित्रकार ने उनके कलात्मक समन्वय द्वारा सर्वांगपूर्ण चित्ताकर्षक चित्र अंकित कर दिया। ईंट-पत्थर, लोहे-लक्कड़ और चूने-गारे के रूप में विविध-विषयक रचनाओं का ढेर लगा हुआ था। शिल्पी द्विवेदी जी ने उनके सुपमित उपस्थापन द्वारा 'सरस्वती' के भव्य मन्दिर का निर्माण किया। "आचार्य द्विवेदी जी के समय की सरस्वती का कोई अंक निकाल देखिए, मालूम होगा कि प्रत्येक लेख, कविता और नोट का स्थान पहले निश्चित कर लिया गया था। बाद में वे उसी क्रम से मुद्रक के पास भेजे गए। एक भी लेख ऐसा न मिलेगा जो बीच में डाल दिया गया सा मालूम हो। संपादक की यह कला बहुत ही कठिन है और एकाध को ही सिद्ध होती है। द्विवेदी जी को सिद्ध हुई थी और इसी से सरस्वती का प्रत्येक अंक अपने रचयिता के व्यक्तित्व की घोषणा अपने अंग प्रत्यंग के सामंजस्य से देता है। मैंने अन्य भाषाओं के मासिकों में भी यह विशेषता बहुत कम पायी है और विशेष कर इसी के लिए मैं स्वर्गवासी पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी को

---

५. सभ्यता-पिशाची सर्वनाशकारी हुई
६. परमोत्तम तीर्थ
७. धुन
८. समालोचना
९. युक्तियुक्त

अन्य पत्रिकाओं में भी इसी प्रकार उदाहरण दिए जा सकते हैं।

संपादकाचार्य मानता और उनकी पुण्य स्मृति में यह श्रद्धांजलि अर्पण करता हूँ।"[1]

'सरस्वती' के प्रकाशन के बाद भी अन्य हिन्दी-पत्रिकाओं का मान ऊँचा न हुआ। 'छत्तीसगढ मित्र',[2] 'इन्दु',[3] 'समालोचक'[4], 'लक्ष्मी'[5] 'विद्याविनोद'[6] आदि अधिकांश पत्रिकाओं में संपादकीय टिप्पणियों का खंड था ही नहीं। जिनमें था भी उनमें अत्यन्त गिरी दशा में। 'हिन्दी प्रदीप'[7] की विषय-सूची में कभी कभी संपादकीय टिप्पणियां-जैसे खंड का उल्लेख ही नहीं मिलता। उनकी पचीसवी जिल्द की संख्या ५-६-७ के लघु लेख[8] सम्भवतः विविध वार्ता के रूप में लिखे गए हैं। 'आनन्द कादम्बिनी' का 'संपादकीय सम्मति समीर' अपेक्षाकृत अधिक व्यापक था।[9] 'भारतेन्दु' के खंड १, संख्या १, अगस्त १९०५ ई० के 'संपादकीय टिप्पणियां' खंड के अन्तर्गत केवल तीन लघुलेखों (भूमिका, 'दाढी की नाप' और 'धड़कन') का समावेश किया गया है।

एक बार 'भारती' पत्रिका की आलोचना करते हुए द्विवेदी जी ने लिखा था—'इसके विविध विषय वाले स्तंभ की बातें बहुत ही सामान्य होती हैं। उदाहरणार्थ 'एक चोर की जेल में मृत्यु' का हाल आधे कालम में छपा है। मतलब यह कि संपादक महाशय ने नोटों और लेखों को उनकी उपयोगिता का विचार किए बिना ही प्रकाशित कर दिया है।'[10]

द्विवेदी जी ने इस प्रकार की कोरी आलोचना ही नहीं की वरन् हिन्दी-संपादकों के समक्ष आदर्श भी उपस्थित किया। उनके विविध विषय समाचार-मात्र नहीं होते थे। उनकी टिप्पणियों का उद्देश्य था 'सरस्वती' के पाठकों की बुद्धि का विकाश करना। पाठकों के

---

१. बाबू राव विष्णु पराड़कर, 'साहित्य संदेश', भा० २, सं० ८, पृ० ३१२,

२. वर्ष ३ रा, अंक १ ला.

३. कला १, किरण १, सं० १९६६। इसमें प्रकाशित 'मनोरंजक वार्ता' और 'समाचार' स्तम्भ सम्पादकीय टिप्पणियों की अभावपूर्ति नहीं करते।

४. अगस्त, १९०२ ई०

५. भाग ५, अंक ५,। इसका भी 'समाचार' स्तम्भ सम्पादकीय विविध-वार्ता की रिक्तता का पूरक नहीं हो सकता।

६. नवम भाग, १९०२-३ ई०

७. जिल्द १५, संख्या १-२, जनवरी-फरवरी, १९०३ ई०

८. सभ्यता पिशाची सर्वनाशकारी हुई, परमोत्तम तीर्थ और घुन

९. माला ४, मेघ ८-९ की विषय-सूची
नवीन सम्वत्सर, उदारता, चैन का पुरस्कार, स्वामी रामतीर्थ, हर्ष, यथार्थ प्रजा हित, शोक, चैतन्य जगत।

१०. 'सरस्वती', भाग ९, सं० ७, पृ० ३७२

लाभार्थ उनमें साधारण अध्ययन की सामग्री भी रहती थी। वे प्राचीन तथा अर्वाचीन साहित्य, इतिहास, पुरातत्व, विज्ञान, भूगोल, धर्म, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, राजनीति, पत्र-पत्रिकाओं के सामयिक प्रसंग, हिन्दी भाषा और उसके भाषियों की आवश्यकताएँ, महान् पुरुषों के जीवन की रोचक और महत्वपूर्ण घटनाएँ, देश-विदेश के ज्ञातव्य समाचार, गवर्नमेंट आदि में प्रकाशित सरकारी मन्तव्य आदि विषयों का एक निश्चित दृष्टि से अपनी शैली में, समीक्षात्मक उपस्थापन करते थे। कभी कभी तो रिपोर्ट और पुस्तकें उन्हें अपने मूल्य से मँगानी पड़ती थीं।[1]

उनकी संपादकीय टिप्पणियों की भाषा सरल और सुबोध है। कहीं परिचयमात्र कहीं परिचयात्मक समीक्षा, कहीं गंभीर संक्षिप्त विवेचन और कहीं व्यंग्यपूर्ण तीव्र आलोचना है। आवश्यकतानुसार चार्ट आदि भी हैं। अनुवाद की दशा में मूल रचना या रचनाकार का नामोल्लेख भी है। द्विवेदी-संपादित 'सरस्वती' की परिचयात्मक सामग्री निस्सन्देह अनुपम है। प्रतिमास, अंगरेजी, बँगला, मराठी, गुजराती, उर्दू, हिन्दी और संस्कृत की पत्र-पत्रिकाओं से संकलित सामग्री उनके उत्कट अध्ययन और असाधारण चयनशक्ति की द्योतक है। यद्यपि उनके अधिकांश नोट दूसरों के व्याख्यानों और लेखों पर आधारित हैं तथापि उनकी अभिव्यंजना-शैली अपनी है। उनमें प्रभावोत्पादक व्यंग्य और मनोरंजक तात्विक विवेचन हैं। वे सचमुच साधारण ज्ञान के भाडार हैं।

किसी भी वस्तु की सुन्दरता या असुन्दरता, महत्ता या लघुता, गुण या दोष सभी सापेक्ष हैं। द्विवेदी जी द्वारा दिए गए 'पुस्तकपरिचय' की श्रेष्ठता का वास्तविक ज्ञान तत्कालीन अन्य हिन्दी-पत्रिकाओं की तुलना से ही हो सकता है।

'छत्तीसगढमित्र' के 'पुस्तक-प्राप्ति और अभिप्राय' खंड के अन्तर्गत दो पुस्तकों का परिचय इस प्रकार दिया गया है:—

"(१४) धाराधरधावन, प्रथम और द्वितीय भाग, तथा (१५) साहित्यहत्या, श्रीयुत राय देवी प्रसाद पूर्ण बी० ए० वकील कानपुर, द्वारा समालोचनार्थ प्राप्त। अवकाश पाते ही समालोचना की जायेगी।'[2]

यह है तत्कालीन हिन्दी-संपादकों की पुस्तक-परीक्षा का एक उदाहरण। द्विवेदी जी ने संपादक के कर्तव्य की कभी भी हत्या नहीं की। उन्होंने जिन पुस्तकों को विशेष महत्वपूर्ण

१. 'सरस्वती', भाग १४, पृ० ४१५
२. वर्ष ३, अंक ५, पृ० १३७

समझा उनकी पर्याप्त समीक्षा[1] की, जो उत्तम जचीं उनकी प्रशंसा के पुल बाँध दिए,[2] जिन्हें दूषित या निकृष्ट समझा उनकी तीव्र एवं प्रतिकूल आलोचना की[3] और जो पुस्तकें महत्व हीन, घोर शृंगारिक या अनुपयोगी प्रतीत हुईं उनका नाम और पता मात्र देकर ही रह गए।[4]

उन्होंने 'माडर्न रिव्यू' की भांति भाषाओं के नामानुसार शीर्षक देकर प्रतिमास नियमित रूप से विविध भाषाओं की पुस्तकों की परीक्षा नहीं की। हाँ, पाठकों के लाभ का ध्यान रखकर हिन्दी, उर्दू, संस्कृत, अँगरेजी, मराठी, गुजराती, बँगला, मारवाड़ी आदि भाषाओं एवं साहित्य, धर्म, समाजशास्त्र, राजनीति, विज्ञान, भूगोल, इतिहास, ज्योतिष, दर्शन, कामशास्त्र, यात्रादि, स्थानादि, आयुर्वेद, शिल्प, वाणिज्य, कला आदि विषयों की रचनाओं, मासिक, साप्ताहिक, दैनिक आदि पत्रों, सभापतियों के भाषण, शिक्षा-संस्थाओं की पाठ्यपुस्तकों आदि पर वे टिप्पणियाँ प्रकाशित करते थे।

आलोचनार्थ पुस्तक भेजने वालों में सच्चे गुण-दोष-विवेचन के इच्छुक बहुत कम थे। अधिकांश लोग समालोचना के रूप में पुस्तक का विज्ञापन प्रकाशित कराकर आर्थिक लाभ अथवा उसकी प्रशंसा प्रकाशित कराकर अपनी यशोवृद्धि करना चाहते थे। प्रतिकूल समीक्षा होने पर असन्तुष्ट लोग कभी अपने नाम से, कभी बनावटी नाम से, कभी अपने मित्रों, मिलने वालों या पार्षदों से प्रतिकूल समीक्षा के एक एक शब्द का प्रतिवाद उपस्थित करते या कराते थे। कुछ लोग तो पुस्तक की भूमिका में ही यह लिखा देते थे कि कटु आलोचना से लेखक का उत्साह भंग हो जायगा।[5] द्विवेदी जी ने जिस पुस्तक को ज्ञान, कला और उपयोगिता की कसौटी पर जैसा पाया, उसकी वैसी आलोचना की। रचनाकार की साहित्यिक गुरुता या लघुता का ध्यान न करके न्यायपूर्वक आलोचक की कैंची चलाई। किसी की अप्रसन्नता और प्रतिशोधभावना की उन्होंने रत्तीभर भी परवाह न की।

मानव-मस्तिष्क भाव की अपेक्षा रूप से अधिक प्रभावित होता है। इसीलिए शिक्षा-पद्धति में चित्रों का स्थान बहुत ऊंचा है। द्विवेदी जी ने पाठकों के बौद्धिक और हार्दिक विकास के लिए सादे और रंगीन चित्रों से 'सरस्वती' को अलंकृत किया। चित्रों का विषयानुसार वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है--

---

१ 'चन्द्रगुप्त' की परीक्षा—'सरस्वती' भाग १४, पृ० २२३

२. 'भारत-भारती'—'सरस्वती', अगस्त १९१४ ई०,

३ 'भाषापद्य व्याकरण'—'सरस्वती', अगस्त १९१३ ई०

४. प्राय: प्रत्येक अंक में इसके उदाहरण प्राप्य हैं।

५. समालोचना का सत्कार'—'सरस्वती', १९१७ ई०, पृ० ३२७, के आधार पर.

रंगीन

१ काव्य में वर्णित विषय—परंपरागत विभावादि

२ प्राकृतिक दृश्य

३ धार्मिक चित्र—देवी देवताओं, पौराणिक आख्यानों तथा हिन्दू-त्योहारों के आधार पर

४ सामाजिक

५ ऐतिहासिक—पुरुष, इमारतें आदि

६ दार्शनिक

७ साहित्यकार

८ प्रकीर्ण-कोई भी सुन्दर वस्तु

सादे

१ लेखों के उदाहरण के रूप में

२ लेखकों के चित्र

३ महान् व्यक्तियों के चित्र (साहित्यिक, पदाधिकारी, राजा आदि)

चित्रों की प्राप्ति में कठिनाई होने के कारण एक चित्रकार की नियुक्ति कर दी गई थी। 'माडर्न रिव्यू' और 'प्रवासी' के भी इंडियन प्रेस में छपने से 'सरस्वती' को ब्लाक आदि की सुविधा थी। रचनाओं को सचित्र छापने की ओर द्विवेदी जी का विशेष ध्यान था। चित्रों के विषय में वे पूरी जानकारी रखते थे।[1] 'सरस्वती' में वे ही चित्र छपते थे जो सुन्दरता-पूर्वक छप सकते थे। असुन्दर या त्रुटिपूर्ण चित्रों को छापने की अपेक्षा न छापना ही उन्होंने अधिक श्रेयस्कर समझा।[2]

---

१. (क) कामता प्रसाद गुरु की 'शिवा जी' कविता को सचित्र करने के लिए लिखा—
"मई १९०७ ई० के माडर्न रिव्यू के ४३८ पृष्ठ पर जो चित्र शिवाजी का है वह इसके साथ छापिए। म. प्र.।"
'सरस्वती' की हस्तलिखित प्रतियाँ, १९०७ ई०, कलाभवन ना. प्र. सभा।

(ख) लक्ष्मीधर वाजपेयी के 'नानाफड़नवीस' निबंध के हाशिए पर आदेश किया था—
"इसके साथ दो चित्र छापिए। नानाफड़नवीस का और राघोबा दादा पेशवा का। पहला चित्र हम बाबू को दे आये हैं दूसरा चित्र चित्रशाला प्रेस, पूना से मँगा लीजिए। म. प्र. ३०, ७, १९०८ ई०"
'सरस्वती' की हस्तलिखित प्रतियाँ, १९०८ ई०, कलाभवन, नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी।

'सरस्वती की गत संख्या में शास्त्र विशारद जैनाचार्य श्री विजय धर्म सूरि का चित्र नहीं दिया जा सका। कारण यह हुआ कि ब्लाक अच्छा न होने से चित्र खराब

चित्रों के चयन और प्रकाशन में द्विवेदी जी ने उनकी कला, मनोरंजकता और उपादेयता का सदा ध्यान रखा। उन्हीं व्यक्तियों के चित्रों को स्थान दिया जिनका संसार ऋणी है। किसी के प्रलोभन में पड़ कर महत्वहीन व्यक्तियों के चित्र छापना पत्रिका के मालिकों और पाठकों के प्रति अन्याय समझा। 'सरस्वती' के अधिकांश रंगीन चित्र बाबू रविवर्मा और रामेश्वर प्रसाद वर्मा द्वारा अंकित हैं।

भाव-ग्रहण में सहायक चित्रों को 'सरस्वती' के सामान्य पाठक भी सहज ही समझ सकते थे, किन्तु कलात्मक चित्रों के उच्च भावों का भावन जनसाधारण की समझ के बाहर था। उनकी भावानुभूति कराने के लिए 'चित्र-दर्शन' या 'चित्र-परिचय' खंड की आवश्यकता हुई। चित्र और चित्र-परिचय एकत्र न होने से पन्ना उलट कर देखने में पाठकों को कष्ट तो अवश्य होता रहा होगा परन्तु यह प्रणाली उनकी स्वतंत्र विचारक शक्ति को विकसित करने में विशेष सहायक थी।

शैली की दृष्टि से द्विवेदी जी के चित्र-परिचय के चार वर्ग किए जा सकते हैं। अधिक शृंगारिक एवं स्पष्ट चित्रों के परिचय में उनके नाममात्र का उल्लेख;[1] कलात्मक चित्रों और उनके रचयिताओं का विशेष परिचय और अधिक सुन्दर होने पर उनकी प्रशंसात्मक आलोचना;[2] अत्यन्त भावपूर्ण एवं प्रभावोत्पादक चित्रों का काव्यात्मक निर्देशन[3] और यदाकदा ऐतिहासिक आदि चित्रों की तुलनात्मक विवेचना[4] भी है।

संपादन के पूर्व भी द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' को एक नवीन अलंकार से अलंकृत किया था और वह था व्यंग्य-चित्र। हिन्दी-पत्रिका-जगत् के लिए वह एक अद्भुत चमत्कार था। 'साहित्य-समाचार' के चार व्यंग्य-चित्र[5] १९०२ ई० की 'सरस्वती' में ही प्रकाशित हो चुके थे, परन्तु उनका प्रकाशन अनियमित था। १९०३ ई० में संपादक द्विवेदी ने उसे नियमित कर

छपा। और ऐसा चित्र छापने से न छापना ही अच्छा समझा गया।'

सरस्वती १२ । ७ । ३५२

१. उदाहरणार्थ 'नवोढ़ा'—'सरस्वती', भा. १८, खंड १, संख्या २ आदि

२. ,, 'आतिथ्य'—सरस्वती, जुलाई १९१८ ई०; 'कृष्ण-यशोदा'—'सरस्वती', जनवरी, १९१६ ई० आदि

३. ,, 'वियोगिनी'—'सरस्वती', दिसम्बर, १९१५ ई० आदि,

४. ,, 'प्राचीन तक्षण कला के नमूने'—'सरस्वती', मार्च १९१९ ई०, आदि

५. 'हिन्दी-साहित्य'..............................पृष्ठ ३५.

'प्रचीन कविता'.............................. ९९.

'प्राचीन कविता' का अर्वाचीन अवतार'..........पृष्ठ १००

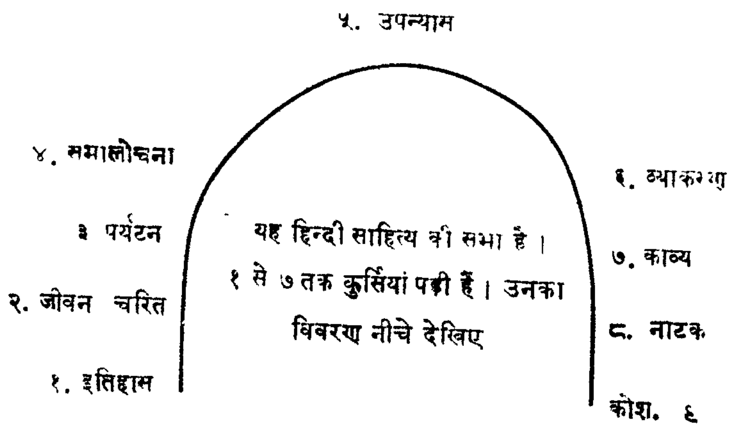
'खड़ी बोली का पद्य'..............................पृ० १११

दिया। 'सरस्वती' की प्रत्येक संख्या में एक व्यंग्य-चित्र छपने लगा। यद्यपि उनके प्रकाशन का एकमात्र उद्देश था मनोरंजक ढंग से हिन्दी-साहित्य की सामयिक अवस्था का दिग्दर्शन कराना, तथापि उस कल्याणमूलक तीव्र व्यंग्य से अभिभूत हिन्दी-हितैषियों को असह्य मनोवेदना हुई। उन्होंने द्विवेदी जी को पत्र लिख कर उन चित्रों का प्रकाशन रोकने का आग्रह किया।[1]

द्विवेदी-सरीखे निष्पक्ष हिन्दी-सेवी, निर्भय समालोचक और पाठक-शुभचिन्तक कर्तव्यपरायण सम्पादक ने, कुछ ही लोगों को तुष्ट करने के लिए, अपनी दयाशीलता के कारण, पहले ही वर्ष के अन्त तक उन व्यंग्य-चित्रों का प्रकाशन बन्द करके अपने गौरव को घटा दिया।

उन व्यंग्य-चित्रों की कल्पना और योजना द्विवेदी जी की अपनी ही है परन्तु उनके चित्रकार वे स्वयं नहीं हैं। वे चित्रों की रूप-रेखा तैयार करके भेज दिया करते थे और चित्रकार उन्हें निर्दिष्ट रूप से निर्मित कर दिया करता था। इस कथन के समर्थन के लिए 'सरस्वती' की हस्त-लिखित प्रति[2] का एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा—

साहित्य-सभा



नीचे सरस्वती खड़े खड़े और सभा की ओर देख देख रो रही है।

१. खाली
२. खाली
३. एक खूबसूरत लड़का, वय कोई १० वर्ष, इसी प्रान्त का रहने वाला, पायजामा,

---

1. 'सांवत्सरिक सिंहावलोकन' (भा. ४ सं० १२) के आधार पर।
2. 'सरस्वती' की हस्तलिखित प्रतियां, १९०३ ई० कलाभवन, नागरी-प्रचारणी सभा, काशी।

बूट और अचकन पहने, घड़ी लगाये, सिर पर फेल्ट कैप दिये बैठा है—शरीर स्थूल है-बलिया के बाबू साधुचरण प्रसाद जिन्होंने पर्यटन पर एक ग्रन्थ लिखा है उनकी शकल दरकार है—उनकी तस्वीर उनकी किताब में है।

४. एक बंदर बैठे हुए मुँह बना रहा है और हाथ में दर्पण लेकर अपना मुंह देख रहा है।

५. एक बहुत ही, निहायत ही मोटा बाजीगर बैठा है—चक्करदार पगड़ी, लम्बी दाढ़ी, दाहिने हाथ में डमरू—बाँयें में रीछ अथवा बंदर और बकरी सामने खड़े हैं—नाचने की कोशिश कर रहा है-पास ही एक झोली पड़ी है-मोटा खूब होना ही चाहिए—मोटा करने का कारण है।

६. एक कोढ़ी बैठा है—टिन पाट दाहिने हाथ की कलाई में लटक रहा है।

७. एक बनारस का गुंडा, उमर २० वर्ष-टोपी कान तक टेढ़ी-जरीदार अचकन और डुपट्टा जर्क बर्क-बूट बारनिश का-जंजीर गले में पड़ी उसी में घड़ी लगी है—पूरा बदमाश नज़र आना चाहिए।

८. एक कंगाल चीथड़े लपेटे हुए, हाथ में फूटा लोटा, महाकंगाल बैठा है

९. खाली

इन चित्रों की सामग्री साहित्य के विविध क्षेत्रों से ली गई है। 'हिन्दी साहित्य'[1] मे चोर लेखकों पर, 'खड़ी बोली का पद्य'[2] में संकर शैली के कवियों पर, 'कलासर्वज्ञ सम्पादक'[3] में मूर्ख और धूर्त सम्पादकों पर, 'मातृभाषा का सत्कार'[4] में अंगरेजी पढ़े-लिखे मानसिक गुलाम बाबुओं पर, 'काशी का साहित्यवृक्ष'[5] में काशी के अकुशल उपन्यासकारों पर एवं 'मदरसों में प्रचलित हिन्दी और उसके पुरस्कर्त्ता'[6] में शिक्षाविभाग के अधिकारियों तथा पाठ्यपुस्तक-लेखकों पर सीधा और मार्मिक व्यंग्य है। यह व्यक्तिगत आक्षेप न होकर हिन्दी-साहित्य की अधोमुखी प्रवृत्तियों, अभावों और साहित्यघातक साहित्यकार-नामधारियों की व्यापकरूप से अप्रिय और कठोर किन्तु सर्वथा सत्य आलोचना है। जहाँ विशिष्ट साहित्यिकों

---

१. 'सरस्वती', १६०२ ई०, पृ० ३५।
२. ,, ,, २६३।
३. ,, भाग ४, सं० ५।
४. ,, ,, सं० ६।
५. ,, ,, सं० ७।
६ ,, ,, सं० ६।

के नाम और रूप की झाँकी है। वहाँ भी आक्षेप के लिए अवकाश नहीं है।[1]

व्यंग्यचित्रों का अमोघ व्यंग्यबाण कभी लक्ष्यभ्रष्ट नहीं हो सकता। साहित्य में इसका भी प्रयोजन है। बीस पृष्ठों की लम्बी-चौड़ी आलोचना जो काम नहीं कर सकती वह एक नन्हा-सा व्यंग्यचित्र कर सकता है। हिन्दी-साहित्य-कानन के झाड़-झंखाड़ को काट-छाँट कर उसका उद्धार करने के लिए द्विवेदी जी का यह क्रम परम सुन्दर था। खेद है कि उन्होंने इसकी समाप्ति करके हिन्दी को एक अमूल्य निधि से वंचित कर दिया।

उस युग की पत्रपत्रिकाओं में 'आज' की 'अरबी न फारसी,' 'संसार' की 'छेड़छाड़,' या 'देशदूत' की 'भंग की तरंग' न थी।[2] हिन्दी-जनता में पठनपाठन का प्रचार बहुत कम था। शिक्षित वर्ग अंग्रेजी-पत्रों का ही ग्राहक था। ऐसी परिस्थितियों में हिन्दी-पत्रिकाओं को विशेष आकर्षक और रोचक बनाना अनिवार्य था। द्विवेदी जी को आधुनिक 'बेढब', 'बेधड़क', 'चोंच' या 'साड' की प्रतिभा नहीं मिली थी। वे 'सरस्वती' में निम्नकोटि की सामग्री जाने भी नहीं देना चाहते थे। उनका लक्ष्य था हिन्दी-पाठकों की रुचि का परिष्कार। हिन्दी में ध्येय-पूरक वस्तु न पाकर उन्होंने संस्कृत का आश्रय लिया। 'मनोरंजक-श्लोक'

---

१. यथा—

साहित्य-समालोचना

शरवीर समालोचक

एक ऊंचा ताड़ का पेड़ है—उसकी चोटी पर पत्तों के झुब्बे के ठीक नीचे पेड़ में लिपटा हुआ एक वामनरूप बहुत ही छोटा मनुष्य है—पायजामा, बूट, अचकन पहने है—शिर में शिकारियों की सी हैट (अंगरेजी) है—हाथ में दोनली बन्दूक है—नीचे खड़े हुए चार मनुष्यों पर निशाना लगा रहा है—नली के मुँह से एक लम्बा अखबार लटकता है—

नीचे चार आदमी बहुत मोटे ताजे और ऊंचे पूरे गम्भीरता से खड़े हैं—एक दूसरे की ओर देख देख कर मुस्कराते भी जाते हैं—उनचारों के नाम हैं—

नाटककार—बाबू राधाकृष्ण दास की शक्ल सूरत और पोशाक का आदमी।

ग्रंथकार—बाबू श्यामसुन्दर दास की शक्ल का आदमी

कवि—हमारी शक्ल से मिलता हुआ।

धार्मिक—एक सन्यासी, सर घुटा हुआ, लम्बा जामा सा पहने हुए, हाथ में कमंडलु।

These four names and one above should appear."

उपर्युक्त रूपरेखा में अनेक व्यक्तियों के नाम और रूप का उल्लेख होते हुए भी यह व्यंग्यचित्र व्यक्तिगत आक्षेप से रहित है। इसमें द्विवेदी जी स्वयं समाविष्ट हैं।

'सरस्वती' की हस्तलिखित प्रतियां, १९०३ ई०, कलाभवन का० ना० प्र० सभा।

२. 'आज', 'संसार' और 'देशदूत' नामक वर्तमान हिन्दी पत्र क्रमशः 'अरबी न फारसी', 'छेड़ छाड़' और 'भंग की तरंग' नामक शीर्षक देकर मनोरंजक सामग्री प्रकाशित करते हैं।

खंड के अंतर्गत संस्कृत के मनोरंजक एवं उपयोगी श्लोक नियमित रूप से भावार्थ-सहित प्रकाशित होने लगे।

केवल मनोरंजक श्लोकों को ही पाठकों की तृप्ति का अपर्याप्त साधन समझ कर द्विवेदी जी ने यथावकाश 'विनोद और आख्यायिका' खंड का समावेश किया। 'हंसी दिल्लगी' खंड की एकवर्षीय[1] योजना सम्भवतः स्वरचित 'जम्बुकी न्याय',[2] 'टेसू की टाँग'[3] और 'सरगौ नरक ठेकाना नाहिं'[4] को विशेष महत्व देने और उनके व्यंग्य तथा आक्षेप की अप्रिय कटुता को सह्य बनाने के लिए ही की गई थी। ऐसा भी हो सकता है कि यह खंड प्रयोगरूप में समाविष्ट किया गया हो परन्तु लेखकों और पाठकों की अरुचि के कारण बन्द कर दिया गया हो।

उस युग में विद्या का प्रचार न था। एक ओर तो देश की अशिक्षित और अपढ़ गंवार जनता थी जिसका पत्रपत्रिकाओं से कोई नाता न था। दूसरी ओर उच्च वर्ग था जिसके लड़कों और लड़कियों को शिक्षा दी जाती थी अंगरेजी का दास बनाने के लिए। संस्कृत पंडितों का समुदाय तो हिन्दी को शूद्र समझता था। जब माता-पिता ही हिन्दी-पत्रपत्रिकाओं के पढ़ने में रुचि नहीं रखते थे तब फिर उनकी संतानों का ध्यान उधर क्यों कर जाता? बालक-बालिकाओं में भी सामयिकपत्रपठ की रुचि उत्पन्न करने के लिए द्विवेदी जी ने 'बालक विनोद' शीर्षक से बालोपयोगी रचनाओं के प्रकाशन की व्यवस्था की।[5]

किसी राष्ट्र की सर्वांगीण उन्नति के लिए पुरुषों के साथ साथ स्त्रियों के भी शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक विकास की आवश्यकता है। इस दिशा में पत्रपत्रिकाओं का उत्तर-दायित्व कम महत्वपूर्ण नहीं है। १९०३ ई० में द्विवेदी जी ने 'कामिनी कौतूहल' खंड में महिलोपयोगी एक या दो लेख प्रत्येक संख्या में प्रकाशित किए। आगे चलकर उन्होंने इन लेखों की अपेक्षा ज्ञानवर्द्धक व्यापक लेखों को ही अधिक उपयोगी समझा अतएव 'कामिनी-कौतूहल' के लेखों का प्रकाशन विरल कर दिया। 'सरस्वती' की स्त्रियोपयोगी रचनाओं में

---

१. १९०६ ई०।
२. 'सरस्वती', १९०६ ई०, पृ० २२६।
३. ,, ,, ४१०।
४. ,, ,, ३८।
५. भगवान की बड़ाई। कोयल शहर और गांव। } 'सरस्वती', १९०६ ई०, पृ० २०२।
'सरस्वती', १९०८ ई०, पृ० ८३; १९११ ई०, पृ० ३०८ आदि।

द्विवेदी-लिखित नारियों के जीवनचरितों का उस युग के साहित्य में विशिष्ट स्थान है।

'सरस्वती' के विविध विषयों और वस्तुयोजना में ही नहीं अपितु उसकी वार्षिक विषय-सूची में भी द्विवेदी जी ने अपने सौंदर्य-प्रेम और व्यवस्थाबुद्धि का परिचय दिया। उन्होंने विषयसूची को विषयानुसार अनेक खंडों में विभाजित किया। सूची में प्रत्येक खंड की रचनाओं की नामानुक्रम से आयोजना की। यह क्रम १९१२ ई० तक रहा। तदनन्तर पाठकों की ज्ञानभूमिका के विकसित हो जाने पर विषय-विभाजन व्यर्थ प्रतीत हुआ और समस्त रचनाओं की अनुक्रमणिका एक साथ दी जाने लगी। पत्रिका का कलेवर गुरुतर हो जाने के कारण १९१३ ई० से वर्षभर की 'सरस्वती' को दो खंडों में विभाजित कर दिया–जनवरी से जून तक खंड १ और जुलाई से दिसंबर तक खंड २।

लेखों के साथ साथ रंगीन और सादे चित्रों की अलग अलग सूची भी 'सरस्वती' की एक विशेषता थी। वहीं पर वे चित्रों की योगसंख्या भी दे देते थे। वार्षिक विषयसूची की योजना अन्य कर्मचारियों पर न छोड़ कर बहुधा द्विवेदी जी स्वयं करते थे।[1] क्योंकि दूसरों की तनिक सी असावधानी से 'सरस्वती' की बहुत बड़ी हानि हो जाने की सम्भावना थी।

आज हिन्दी को भारतवर्ष की राष्ट्रभाषा होने का गौरव प्राप्त है। पत्रपत्रिकाओं की तो बात ही दूर रही, साहित्य की सुन्दरतम पुस्तकों में भी शुद्धिपत्र का पुछल्ला लगा मिलता है। वह हिन्दी का शैशवकाल था। अधिकांश संपादक तो प्रूफ-संशोधन की आवश्यकता ही नहीं समझते थे। 'रसिक वाटिका' के एक अंक के मुख-पृष्ठ पर मुद्रित पंक्ति 'ईरखा कुसनि खनि बाहर निसारे हैं'[2] बिल्कुल उल्टी छपी है। शब्द शीर्षासन कर रहे हैं। 'छत्तीसगढ़ मित्र' के सम्पादक भी सम्भवतः प्रूफसंशोधन से किसी प्रकार का सम्बन्ध रखने में अपनी हेठी समझते थे। 'पुरुषों', 'नायक' या 'नायिका' के स्थान पर क्रमशः 'पुरूषों, 'नामक' या 'नामिका'[3] छपना संपादक के अक्षम्य अपराध का सूचक है।

आरम्भ में 'सरस्वती' के लेखक लिखना तक नहीं जानते थे। उनकी रचनाओं को संशोधक और संपादक द्विवेदी ने आद्योपान्त रंग डाला है। ऊपर-नीचे, दांए-बांए-चारों ओर काट-छांट की गई है। ये संशोधित प्रतियां साधारण योग्यता के कम्पोज़िटरों के लिए अत्यन्त अपाठ्य हो गई थीं।[4] उनकी कंपोज़िंग में अधिक त्रुटियों का होना अनिवार्य था। यह

---

१. 'सरस्वती' की हस्तलिखित प्रतियाँ, कलाभवन, काशीनागरी-प्रचारिणी सभा।

२. एप्रिल, १९०० ई०।

३. वर्ष ३रा, अंक १ला, पृ० २९।

४. काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के कलाभवन में रक्षित 'सरस्वती' की हस्तलिखित प्रतियां।

द्विवेदी जी की ही संशोधन-बुद्धि का परिणाम है कि संपूर्ण 'सरस्वती' पढ़ जाने पर कदाचित् ही कहीं छापे की गलती दृष्टिगोचर हो। वे रहते थे कानपुर में, 'सरस्वती' छपती थी प्रयाग में, प्रेस के कर्मचारी, द्विवेदी जी के अधीनस्थ कार्यकर्ता, इस लगन और सावधानी से काम करते थे मानो द्विवेदी जी उनके सिर पर खड़े हुए पर्यवेक्षण कर रहे हों।

द्विवेदी-युग के आरम्भिक वर्षों और उसके पूर्व की अँगरेजी, बंगला और मराठी की पत्रिकाओं के सम्यक् आलोचन से पता चलता है कि द्विवेदी जी की सम्पादनकला में विशेष मौलिकता नहीं है। उनकी कला की महत्ता, वस्तुतः इन मासिक पत्रिकाओं की सम्पादन-शैलियों के सुन्दर सम्मिश्रण और संस्करण में है। 'सरस्वती' के प्रधान उत्तमर्ण 'केरल-कोकिल' (मराठी), 'प्रवासी' (बंगला) और 'माडर्नरिव्यू' (अंगरेजी) हैं। इन पत्रिकाओं की विषयसूची का मनोयोगपूर्वक दर्शन ही इस कथन की पुष्टि में पूरा समर्थ है।[1]

१८६४ ई० में केरलकोकिल की विषयसूची निम्नांकित खंडों में विभाजित थी–

१. चित्रें	२. अनेक विषय
३. कविता	४. मलबारचें वर्णन
५. लोकोत्तर चमत्कार	६. पुस्तक परीक्षा
७. स्फुट विषय	८ सृष्टि वैचित्र्य
६. किरकोल	

१६०२ ई० में उसका विषयविभाजन इस प्रकार किया गया—

१. चित्रें आणि चरित्रें	२. कविता
३. निबन्ध	४. मनोरंजक गोष्ठी
५. पुस्तक परीक्षा	६. स्त्रियांचे लेख
७. पत्र व्यवहार	८. लोकोत्तर चमत्कार
६. कूट प्रश्न व उत्तरें	१०. किरकोल
११. ताजी खबर बात	

द्विवेदीसम्पादित 'सरस्वती' के विविध विषयों पर 'केरलकोकिल' का विशेष प्रभाव परिलक्षित होता है। द्विवेदी जी ने उपर्युक्त पत्रिका का अन्धानुकरण न करके उसके दोषों का परिहार और गुणों का ग्रहण किया। 'केरलकोकिल' में चित्रों और चरित्रों को कम महत्व दिया गया था, द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' में उन्हें विशेष स्थान दिया। 'केरलकोकिल' के 'अनेक विषय', 'स्फुट विषय', 'किरकोल' और 'ताजीखबरबात' इन

---

१. देखिए परिशिष्ट- संख्या ४ क, ४ ख, ४ ग और ४ ज

चार खंडों को अनावश्यक समझ कर इनके विषयों का समावेश उन्होंने 'सरस्वती' के 'विविध विषय' और 'फुटकर विषय' नामक दो खडों के अन्तर्गत किया। 'मलबारन्नें वर्णन' जैसे भौगोलिक विषयों का समावेश करने के लिए 'स्थल नगर जात्यादि वर्णन' का व्यापक खंड निकाला। 'लोकोत्तर वर्णन' और 'सृष्टि वैचित्र्य' के दो खंडों को व्यर्थ समझ कर 'अद्भुत विषय' या 'विचित्र विषय' का एक ही खंड 'सरस्वती' में रखा। निबन्धों को उनकी वस्तु के अनुसार विविध खण्डों के अन्तर्गत स्थान दिया परन्तु 'निबन्ध' नामक खंड को निष्प्रयोजन मान कर निकाल दिया। 'केरल कोकिल' में कविताएं नाम मात्र को प्रकाशित होती थीं, 'सरस्वती' में द्विवेदी जी ने कविताओं को सर्वाधिक स्थान दिया। कारण, एक तो हिन्दी-साहित्य के विविध अंगों में कविता का अनुपात अधिक था और दूसरे पाठकों की रुचि उस ओर विशेष थी। 'केरल कोकिल' की 'मनोरंजक गोष्ठी' को अपर्याप्त समझ कर उसके स्थान पर उन्होंने 'मनोरंजक श्लोक', 'विनोद और आख्यायिका' तथा कभी कभी हंसी-दिल्लगी' का भी समावेश किया। 'स्त्रियाँचे लेख' खंड अधिक व्यापक या उपयोगी न था, अतएव उन्होंने 'सरस्वती' में 'कामिनी कौतूहल' की आयोजना की। द्विवेदी जी ने 'केरल कोकिल' के 'कूट प्रश्न व उत्तरें' का तिरस्कार किया क्योंकि उनका नियमित प्रकाशन कठिन था और यदि किया भी जाता तो उनके बदले पाठकों को अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण उपयोगी लेखों से वंचित होना पड़ता। 'केरलकोकिल' के अतरिक्त 'महाराष्ट्र कोकिल' की इतिहासविषयक लेखमाला और 'प्रवासी' के राजनैतिक, सांस्कृतिक, सामाजिक, आर्थिक आदि विषयों के लेखों का भी प्रभाव स्पष्ट है।[1] इनसे भी आगे बढ़कर द्विवेदी जी ने अध्यात्म, इतिहास, जीवनचरित, विज्ञान, शिक्षा आदि विषयक विशिष्ट खंडों की योजना द्वारा 'सरस्वती' को उच्चतर कोटि में प्रतिष्ठित किया।

'माडर्न रिव्यू' जनवरी १९०७ ई० से प्रकाशित हुआ। 'सरस्वती' का अनुवर्ती होने के कारण वह 'केरलकोकिल' या 'प्रवासी' की भांति उसे प्रभावित न कर सका। भाषानुसार उसकी पुस्तकपरिचयप्रणाली अत्यन्त सुन्दर थी, परन्तु द्विवेदी जी ने उसका अनुकरण नहीं किया क्योंकि 'सरस्वती' में केवल हिन्दी-पुस्तकों की आलोचना नियमित और अन्य भाषाओं की पुस्तकों की समीक्षा अनियमित थी। चित्रप्रकाशन की शैली में 'माडर्न रिव्यू' की देन निस्सन्देह महत्व की है। 'सरस्वती' के अनेक चित्र तो उसी से लिए गए हैं।[2] ठोसपन और व्यापकता की दृष्टि से भी उसका 'सरस्वती' पर प्रभाव पड़ा है। उसके प्रकाशन के बाद

---

१. देखिए परिशिष्ट-संख्या ४ ख और ४ ग

२. 'सरस्वती' के 'शिवाजी' (सितम्बर १९०७ ई०) और 'अजविलाप' (जुलाई १९१५ ई०) क्रमशः 'माडर्न रिव्यू' के मई और जून १९०७ ई० से लिए गए हैं।

से 'सरस्वती' के लेखों में अधिक गंभीरता आने लगी। इस गंभीरता का दूसरा कारण पाठकों की रुचि का परिष्कार और साहित्यिक भूमिका का विकास भी है। एक ही प्रेस से प्रकाशित होने के कारण 'सरस्वती' को अपने घर की सम्मानित पत्रिका 'माडर्न रिव्यू' के समानान्तर चलने का अवसर मिला। कदाचित् 'प्रवासी' और 'माडर्न रिव्यू' की ही देखादेखी द्विवेदी जी भी 'सरस्वती' की वार्षिक विषयसूची में विषयविभाजन की प्रणाली बन्द करके १९१३ ई० से समस्त रचनाओं की अनुक्रमणिका एक साथ देने लगे थे। इन सब पत्रिकाओं की अच्छाइयों के अतिरिक्त द्विवेदी-सम्पादित 'सरस्वती' के 'व्यंग्यचित्र', 'मनोरंजक श्लोक', 'विनोद और आख्यायिका', 'चित्रपरिचय' आदि उसकी विशेषताएँ हैं जो उसे पत्रिका-जगत् में एक विशिष्ट पद प्रदान करती हैं।

जहाँ 'सरस्वती' ने कतिपय पत्रिकाओं से थोड़ा बहुत लिया है वहां उसने अनेक पत्रिकाओं को बहुत कुछ दिया भी है। हिन्दी-पत्रिकाओं से उसने यदि कोई लाभ उठाया है तो उनकी दोषराशि से। द्विवेदी-सम्पादित 'सरस्वती' की समसामयिक या अनुवर्ती हिन्दी-पत्रिकाओं के समालोचन[1] से प्रमाणित होता है कि उनके आकार-प्रकार, विषयों की विविधता, समंजस वस्तुयोजना, सम्पादकीय टिप्पणिया, चित्रो के सन्निवेश की शैली आदि सभी बातें 'सरस्वती' की ही अनुकृति हैं। 'भारतेन्दु', 'छत्तीसगढ़ मित्र', 'इन्दु', 'समालोचक', 'रसिकरहस्य', 'रसिकवाटिका', 'लक्ष्मी'[2] आदि के विविध आकारो के रहते हुए भी 'मर्यादा', 'प्रभा', 'चाँद', 'माधुरी' आदि पत्रिकाओं ने 'सरस्वती' के ही आकार[3] को अपनाया। 'प्रभा' की सम्पादकीय टिप्पणिया, 'संसारप्रगति', और 'विचारप्रवाह' 'सरस्वती' के 'विविध विषय' के ही विविध रूप हैं। उसका 'सामयिक साहित्यावलोकन' 'सरस्वती' का 'पुस्तक-परिचय' ही है। उसके अधिकांश लेखक भी 'सरस्वती' के ही शिष्य हैं। 'माधुरी' के 'सुमन संचय' और 'विविध विषय' 'सरस्वती' की 'विविध वार्ता' के ही दो विभाग हैं।[4] उसका 'महिला मनोरंजक' 'सरस्वती' के 'कामिनी कौतूहल' के ही ढंग की वस्तु है। उसके 'पुस्तकपरिचय' और 'साहित्यसूचना' 'सरस्वती' की 'पुस्तक-परीक्षा' के ही दो खंड हैं। उसकी 'चित्रचर्चा' तो 'सरस्वती' के 'चित्रदर्शन' या 'चित्रपरिचय' का अविकल अनुकरण है। 'चाँद' के 'ग्रहविज्ञान', 'चिट्ठीपत्री' और 'रंगभूमि' खंड 'सरस्वती' के फुटकर

---

१. प्रस्तुत अवच्छेद का आधार परिशिष्ट संख्या ४ में दी हुई 'मर्यादा', 'प्रभा', 'माधुरी' और 'चांद' की विषय-सूची है।

२. 'लक्ष्मी' का आकार २०×२६× १/८ और अन्य सभी का १८×२२× १/८ था।

३. २०×३०× १/८

४. इस विभाजन का कोई सही सिद्धान्त समझ में नहीं आता।

और साहित्यिक विषयों से लिए गए हैं। उसकी इस योजना में नवीनता अवश्य है परन्तु इतिहास, अध्यात्म, भूगोल, शिक्षा, विज्ञान आदि के महत्तर खंडों के खंडहर पर इन नूतन खंडों का निर्माण अधिक श्रेयस्कर नहीं है। 'चाँद' की 'बिनोदवाटिका' 'सरस्वती' के 'विनोद और आख्यायिका' खंड का ही रूपान्तर है। उसके 'विविध विषय', 'विश्ववीणा', 'हमारे सहयोगी' और 'सम्पादकीय विचार' 'सरस्वती' की 'विविध वार्ता' के ही चार विभाग हैं। उसकी चित्रसूची 'सरस्वती' की ही चित्रसूची का विकसित रूप है। उसके 'कुछ कौतूहल पूर्ण बातें' और 'साहित्य संसार' खंड 'सरस्वती' के क्रमशः 'विचित्र विषय' और 'पुस्तक-परिचय' के ही प्रतिरूप हैं।

सभी विषयो का चूड़ान्त ज्ञाता होना असम्भव है। द्विवेदी जी ने भी कभी सर्वज्ञ होने का दावा नही किया। प्रत्येक ज्ञानी अपने विशिष्ट विषय का विशेषज्ञ और अन्य सभी विषयो का अल्पज्ञ ही होता है। द्विवेदी जी साहित्य के प्रकाड पंडित थे और साथ ही उनके व्यापक ज्ञान की परिधि भी असाधारण रूप से विस्तृत थी उनके विविधविषयक निजी लेखो और अन्य लेखको की विविधविषयक रचनाओं के साधिकार संशोधन से स्पष्ट प्रमाणित है कि उन्होने इन सभी विषयों का गहरा अध्ययन किया था। वे वास्तव मे परिश्रमी, सचेष्ट और ज्ञानपिपासु सम्पादक थे। उन्होने योरप और अमेरिका से प्रसिद्ध प्रसिद्ध सामयिक पत्र और पुस्तकें मंगाने का प्रवन्ध किया।[१] उनके प्रकाशित लेखों के प्रकार और नई नई बातों के आविर्भाव को जानने की पूरी चेष्टा की।

तत्कालीन हिन्दी-पत्रों के सम्पादकों को यह ज्ञात ही न था कि भाषा, साहित्य, जाति, धर्म और संस्कृति के प्रति उनका कर्त्तव्य क्या है और उसका किस प्रकार पालन करना चाहिए। प्रायः प्रत्येक पत्रिका के मुखपृष्ठ पर उसके उद्देश का उद्बोधक एक मनोहर सिद्धान्त-वाक्य होता था। सभी पत्र हिन्दी और हिन्दुस्तान के कल्याण के ठेकेदार-से बने फिरते थे, परन्तु चरितार्थ करते थे 'आख के अंधे नाम नयन सुख' की कहावत।

'हिन्दीप्रदीप' 'विवेक एवं विचार का प्रचार करने' और भारत के अन्धकार, मूर्खता और कुमति को दूर करने का बीड़ा लेकर प्रकाशित हुआ।[२] 'सुकविता यद्यस्ति राज्येन

१. 'सांवत्सरिक सिंहावलोकन', सरस्वती, भाग ४, सं० १२।

२. 'शुभ सरस देश सनेह पूरित प्रगट ह्वै आनँद भरै।
बचि दुसह दुरजनवायु सों मणि दीप सम थिर नहिं टरै।
सूझै विवेक विचार उन्नति कुमति सब यामें जरै।
हिन्दी-प्रदीप प्रकाशि मूरखतादि भारत तम हरै॥'
'हिन्दी-प्रदीप', सं० १-२, जिल्द २४, जनवरी-फरवरी १९०३ ई०।

किम्' का राग अलापने वाली 'रसिक वाटिका' ने सुकवियों को ही अपना माली और रक्षक बतलाया।[१] 'आनन्दकादम्बिनी' ने विद्वानों, रसिकों, नागरी, आर्यवंश और भारत का एक साथ मनोरंजन और मंगल करने की प्रतिज्ञा की।[२] 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी' की सूक्ति से विभूषित 'लक्ष्मी' अपने को परम प्रवीण घोषित करके अपने ही मुँह मियाँ मिट्ठू बन गई।[३] 'भारतेन्दु' ने अपनी कला द्वारा विश्वकल्याण करने का ठेका सा लेकर हिन्दी के उदयाचल पर पदार्पण किया।[४] 'सुदुर्लभाः सर्वमनोरमा गिरः', 'हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः', कवीना रसवद्वचः, आदि सुभाषितों के गायक 'रसिक रहस्य' ने स्वयं अपनी कला और मनोहारिता की प्रशंसा की।[५] 'इन्दु' अपने को रसरीतिकला से पूर्ण घोषित करता हुआ हिन्दीसाहित्यगगन में उदित हुआ।[६]

---

१. मुखपृष्ठ के शीर्ष पर—

'माली यहि बाग के सुकवि* रखवारे हैं।
ईरखा कुसनि खनि बाहर निसारे हैं॥'

'रसिकवाटिका', भाग ४, क्यारी १, एप्रिल, १६०० ई०।

२. "चातक विबुध जन तोषि रसिक मयूर मन मोहत हरै।
बरखै सुविद्या वारि जामों नागरी सरवर भरै।
हरियाय आरजवंश छिति अरु ताप कुमतिन को टरै।
'आनन्दकादम्बिनी' भारत छाय जगमंगल करै॥"

'आनन्दकादम्बिनी', माला ४, मेघ १, १६०२ ई०।

३ "धर्म पयोधि निवासिनी कर्म कमल आसीन।
सत्यदेव पद सेविनी लक्ष्मी परम प्रवीन॥"

'लक्ष्मी', भाग ५, अंक ५, नवम्बर, १६०७ ई०।

४. कविजन कुमुदगन हिय विकासि चकोर रसिकन सुख भरै।
प्रेमनिसुधा सों सींचि भारत भूमि आलस तम हरै।
उद्यम सुऔषधि पोखि विरहिन दाहि खल चोरन दरै।
यह भारतेन्दु प्रकासि अपनी कला जगमंगल करै॥"

'भारतेन्दु', खंड १, सं०१, अगस्त, १६०५ ई०।

५. "काव्यकला दरसाय के किय बुधगन मन वश्य।
जगत मांहि यश दै रह्यो धनि धनि रसिकरहस्य।"—

'रसिकरहस्य', नवम्बर, १६०७ ई०।

६. "सज्जन चित्त चकोरन को हुलसावन भावनै पूरो अनिन्दु है।
मोहन काव्य के प्रेमिन के हित मानु सुधारस को बलिबिन्दु है।
ज्ञान प्रकाश प्रसारि हिये बिच ऐसो जो मूरखता तम भिन्दु है।
काव्य महोदधि तें प्रगट्योरसरीति कला युत पूरण इन्दु है॥"

'इन्दु', कला १, किरण १, श्रावण, सं० १६६६।

हिन्दी का अभाग्य था कि इन पत्रिकाओं के सिद्धान्त-वाक्य मुखपृष्ठों के शब्दों तक ही सीमित रह गए। उनकी असफलता का प्रधान कारण सम्पादकों की अयोग्यता ही थी। उनके सम्पादक अन्य विषयों के आचार्य भले ही रहे हों, किन्तु सम्पादनकला के पंडित न थे। 'परम प्रवीन' 'लक्ष्मी' के एक अंक की विषयसूची इस प्रकार है–

१. वन्दे मातरम्	१—२
२. बुन्देलखंडी महाभारत	२—१०
३. काव्य और लोकशिक्षा	११—१५
४. संसार सुख	१५—१६
५. अपूर्व स्वास्थ्योपचार	२०—२१
६. मित्र महिमा	२२—२३
७. कंचन सती	२३—२६
८. लेख की समालोचना	२७—२८
९. समाचार[1]	२८—३०

उसकी भाषा की प्रवीणता और भी रोचक है—

"पर उसकी सब चेष्टा व्यर्थ हुई। सभी बातों की सीमा होती है, मालूम होता ह आज रमा का धीर्य भी सीमा को उल्लंघन कर गया है"[2] मोटे और काले शब्द विचारणीय हैं। जो सम्पादक 'र' और 'स', 'व' और 'ब', 'धीर्य' और 'धैर्य' तथा 'को' और 'का' में कोई अन्तर नहीं समझता वह भला हिन्दी का क्या हित कर सकता है ? उपर्युक्त उद्धरण 'एक वंग महिला' के लेख 'संसार सुख' से है। सम्पादक द्विवेदी की गरिमा के जिज्ञासु 'श्रीमती वंग महिला' का 'संसारसुख' एक ओर रख लें और दूसरी ओर रख लें द्विवेदी-सम्पादित 'सरस्वती' में प्रकाशित उनकी कोई अन्य रचना[3] और तब भाषा, भाव तथा शैली की दृष्टि से दोनों की तुलनात्मक समीक्षा कर के देखें कि अन्य सम्पादकों की अपेक्षा द्विवेदी

---

१. भाग ५, अंक ५।

२ लक्ष्मी', भाग ५, अंक ५, पृ० १५.१६।

३. श्रीमती बंगमहिला की 'सरस्वती' में प्रकाशित कुछ रचनाएं —

चन्द्रदेव से मेरी बातें	भा० ५,	पृ० ४४०	
अंडमन द्वीप के निवासी	,,	,, ४१	
टोडा जाति	,,	५ १३७	
योधा बाई	,,	६ ३३१	
दानप्रतिदान		७ १३६	
कुम्भ में छोटी बहू	,,	१४२	आदि

जी का स्थान कितना ऊँचा है। 'प्रेमघन'-सरीखे धुरन्धर साहित्यकार द्वारा सम्पादित 'आनन्दकादम्बिनी' के मुखपृष्ठ पर प्रकाशित उसकी गम्भीर गर्जना उदाहरणीय है—

"विद्या, विज्ञान, साहित्य, दृश्य, श्रव्य और गद्य, पद्य, मयकाव्य, राजकाज, समाज और देश दशा पर लेख, इतिहास, परिहास, समालोचनादि विविध विषय वारि विन्दु भरित बलाहकावली"।[1]

उपर्युक्त शब्दावली का ठीक ठीक अर्थ सम्पादक जी का कोई समानधर्मा ही लगा सकता है। 'विद्या' को और विषयों से भिन्न क्यों किया गया है, 'साहित्य' 'गद्य' और पद्य' से बाहर क्या वस्तु है, 'श्रव्य और गद्य' किस व्यापक विषय के दो विभाग हैं, 'मयकाव्य', कौन-सा विषय है, कुछ विषयों पर 'लेख' और कुछ पर 'वारिविन्दु' ही क्यों भरे गए हैं, रूपक के उपमेय और उपमान को वियुक्त क्यों रखा गया है—आदि सहज ही उत्पन्न शंकाओं का समाधान कौन करे ?

अन्य पत्रिकाओं के विविध विषय, वस्तुयोजना, सम्पादकीय टिप्पणियाँ, पुस्तक-परीक्षा चित्र और चित्रपरिचय, साहित्य-समाचार, मनोरंजन की सामग्री, बाल-साहित्य-स्त्रियोपयोगी रचनाओं, विषयसूची, प्रूफसंशोधन आदि की चर्चा पहले ही हो चुकी है। वे सभी प्रकार से हीन थीं। 'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका' ने हिन्दी के पत्रसाहित्य में युगान्तर अवश्य किया परन्तु उसका क्षेत्र सीमित था।

'सरस्वती' ने वस्तुतः अपना नाम सार्थक किया। हिन्दी-पत्रिकाओं के दोषों को दूर करके उसने अपने बाह्य और आन्तरिक सौन्दर्य के आदर्श से हिन्दी के कलंक को धो दिया। आख्यायिका, जीवनचरित, कविता, विनोद, विविध वार्ता, चित्र आदि विषयोंके साथ ही साथ साहित्य, विज्ञान, भाषाविज्ञान, दर्शन, इतिहास, भूगोल, ज्योतिष, व्याकरण, शिक्षा, शिल्प, संगीत, चित्रकला, धर्म, समाज, अर्थ, नीति आदि सभी शास्त्रों पर गम्भीर और गवेषणापूर्ण लेखों से सुसज्जित होकर उसने हिन्दी-संसार के लिए एक प्रौढ और समुन्नत विद्यापीठ का काम किया। उसके समाचार भी साधारण पाठकों के अध्ययन की वस्तु हैं। इस चलते फिरते प्रचारित विश्वविद्यालय में लाखो पाठकों ने घर बैठे शिक्षा पाई और पंडित, सुलेखक तथा कवि हो गए। अपनी विविध-विषयक सर्वांगीण उन्नत सामग्री और उसकी कलात्मक योजना के बल पर 'सरस्वती' तत्कालीन हिन्दी-जनता की विद्याबुद्धि की मापरेखा बन गई थी। इसका समस्त श्रेय द्विवेदी जी को ही है।

द्विवेदी जी एक निश्चित आदर्श सामने रख कर उपस्थित हुए थे। उनका उद्देश था

1. 'आनन्दकादम्बिनी', माला ४, मेघ १।

हिन्दी के सभी अंगों की यथायथ पूर्ति और हिन्दी-जनता की ज्ञानभूमि का सर्वतोमुख विकास। उन्होंने अपने युक्तियुक्त, गंभीर और पढ़ने वाले उपयोगी विचारों को विषयानुकूल मँजी हुई, बोधगम्य भाषा में हिन्दी-संसार के समक्ष उपस्थित किया। 'सरस्वती', द्विवेदी जी के अननुकूल विचारों की अभिव्यक्ति का साधन न बन सकी। प्रतिद्वन्द्वीनी लेखकों को उसमें कोई स्थान नहीं मिला। वह द्विवेदी जी के ही विचारों का प्रचार करती रही, परन्तु विज्ञापन के लिए नहीं, सम्पादक के किसी स्वार्थ-साधन के लिए नहीं, बल्कि हिन्दी के उत्थान और हिन्दी-भाषियों के कल्याण के लिए। द्विवेदी जी ने अपने को सफल सम्पादक सिद्ध किया, 'सरस्वती' पर अपनी छाप लगा दी। सम्पादक द्विवेदी ने एक प्रतिभाशाली नीतिज्ञ, सेनापति और शासक की भाति इतिहास को बदल दिया। उनकी सम्पादनशैली ने हिन्दी में अभूतपूर्व क्रान्ति उपस्थित की। हिन्दी के प्रत्येक क्षेत्र में उच्छृंखलता और अराजकता का अकंटक राज्य था। सम्पादक द्विवेदी ने अव्यवस्था में व्यवस्था उत्पन्न की। उनके द्वारा किए गए निर्दय और कष्टसाध्य संशोधन के बल पर कितने ही अयोग्य जनों ने भी कवि और लेखक का मुकुट धारण किया।[1] वे 'सरस्वती' की ईदृक्ता के विषय में लेखकों को सम्पादकीय विज्ञप्तियों या पत्रों द्वारा कठोरतापूर्वक सावधान कर दिया करते थे।[2]

द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' के सम्पादन-कार्य का निर्वाह अदम्य शक्ति और अनन्य योग्यता से किया। वे अनेक बार बीमार पड़े। कितनी ही बार यात्रा करनी पड़ी। अन्य कार्यों में व्यस्त रहने के कारण समयाभाव रहा। कितने ही इष्ट-मित्र, संबन्धियों और कुटुम्बियों के असमायिक देहावसान ने समय समय पर उनके हृदय को अभिभूत किया। परन्तु 'सरस्वती' के प्रेषण और प्रकाशन में उन्होंने किसी प्रकार की बाधा नहीं उपस्थित होने दी।[3] उन्होंने अपनी सम्पादक-लेखनी का कभी भी दुरुपयोग नहीं किया, 'सरस्वती' और उसके सम्पादक पर किए गए गर्हित आक्षेप का भी अनुचित या अशिष्ट उत्तर नहीं दिया। किसी का कोप प्रसाद उन्हें विचलित और कर्तव्यच्युत न कर सका। 'सरस्वती' को लोकप्रिय बनाने में

१. सत्यशरण रतूड़ी, नारायण प्रसाद अरोड़ा, श्रीमती बंगमहिला, बाबू जीतन सिंह, कमलानन्द सिंह आदि साधारण तथा स्वामी सत्यदेव, मैथिलीशरण गुप्त आदि महान् साहित्यसेवी।

२. एक बार भवभवट मिश्र को लिखा था—मैं खुलकर लिखता हूँ। क्षमा कीजिएगा। सरस्वती के लिए लेख लिखते समय मेरी, सरस्वती की तथा अपनी प्रतिष्ठा का ध्यान रक्खा कीजिए। सरस्वती में स्थान पाना साधारण योग्यता का काम नहीं है।"

'बालक', 'द्विवेदी-स्मृति-अंक।'

३. फरवरी-मार्च, १९०३ ई० के सम्मिलित अंक की चर्चा ऊपर हो चुकी है।

उन्होंने कभी कोई कसर नहीं की। अपने लाभालाभ का कुछ भी विचार न करके पाठकों के हिताहित का ही ध्यान रखा। जो कुछ लिखा, केवल कर्तव्य-बुद्धि की प्रेरणा से लिखा।

सामयिक पत्र स्थायी साहित्य की सृष्टि नहीं करते। उनका कार्य है साहित्यिक समाचार देना और नियत समय में निश्चित विचारों का प्रचार करना। सम्पादक द्विवेदी ने पद्य की भाषा खड़ीबोली को निर्विवाद रूप से प्रतिष्ठित किया। गद्यभाषा को स्थिरता, प्रौढ़ता और प्राजलता दी। हिन्दी में विविध शैलियो का बीजारोपण किया। हिन्दी-पाठको की अधोगत रुचि को परिष्कृत करके उन्हे सत्साहित्य से प्रेम करना सिखाया। 'सरस्वती' में प्रकाशित उच्च कोटि की रचनाओं द्वारा हिन्दी-साहित्य को विस्तार और गौरव प्रदान किया। द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' को और 'सरस्वती' ने द्विवेदी जी को चमका दिया—

अन्योन्यदानाश्रयणाद्बभूव
साधारणो भूषणभूष्यभावः।

आठवां अध्याय

भाषा और भाषासुधार

हिन्दी-साहित्य में सूर, तुलसी, मैथिलीशरण गुप्त, जयशंकर प्रसाद, महादेवी वर्मा, सुमित्रा नन्दन पन्त आदि उच्च कोटि के कवि, प्रेमचन्द, प्रसाद, विश्वंभर नाथ शर्मा 'कौशिक' वृन्दावन लाल वर्मा, चतुर सेन शास्त्री, जैनेन्द्र कुमार आदि लोकप्रिय कथाकार; भारतेन्दु, प्रसाद, हरिकृष्ण 'प्रेमी', लक्ष्मी नारायण मिश्र, गोविन्द वल्लभ पन्त, सेठ गोविन्ददास आदि प्रतिभाशाली नाटककार; गौरी शंकर हीरा चन्द ओझा, भगवानदास केला, गुलाब राय, दया शंकर दुबे, जयचन्द्र विद्यालंकार, राहुल सांकृत्यायन, भगवत शरण उपाध्याय आदि विविधविषयक वाङ्मयस्रष्टा हैं, । परन्तु उसके समूचे इतिहास में भाषासुधारक का महत्वपूर्ण पद केवल एक ही दो व्यक्तियों को प्राप्त है और उनमें पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी अद्वितीय हैं। आधुनिक गद्य और पद्य की भाषा खड़ी बोली के परिमार्जन, संस्कार और परिष्कार का प्रधान श्रेय उन्हीं को है।

द्विवेदी जी ने दूसरों की ही नहीं अपनी भाषा का भी सुधार किया है। उनकी आरम्भिक रचनाओं—'अमृत लहरी', 'भामिनी विलास', 'बेकन-विचार-रत्नावली', 'हिन्दी शिक्षावली तृतीय भाग की समालोचना' आदि—में लेखन-त्रुटियां, व्याकरण की अशुद्धियां और रचना-संबन्धी दोषों की इतनी प्रचुरता है कि वे, भाषा की दृष्टि से, द्विवेदी जी की कृतियां ही नहीं प्रतीत होतीं। द्विवेदी जी की उन कृतियों में व्याकरण या रचना के दोषों की प्रचुरता के अनेक कारण हैं। सर्वप्रधान कारण उस युग की व्यापक प्रवृत्ति है। बहुत से प्रयोग ऐसे हैं जिन्हें हम आज दुष्ट समझते हैं किन्तु उस समय वे साधु समझे जाते थे, उदाहरणार्थ, 'हमें', 'पढ़ैगा', 'हुवा', 'उस्के', 'तुझे निषेध नहीं करता' आदि। दूसरा कारण स्वयं द्विवेदी जी की प्रवृत्ति है। हिन्दी भाषा और साहित्य का पंडित होने के पहले उन्होंने संस्कृत, मराठी आदि का ही अध्ययन किया था। इसका परिणाम यह हुआ कि उनकी आरंभिक कृतियों की रीति और शैली इन भाषाओं की विशिष्टताओं से आक्रान्त हो गई और कहीं कहीं अपरिचित अर्थ में प्रयुक्त शब्दों और वाक्यों के कारण उनकी भाषा का हिन्दीपन ही जाता रहा। द्विवेदी जी के ज्ञान की कमी और प्रूफसंशोधन के प्रमाद के कारण

भी उनकी भाषा में त्रुटियों की अधिकता हो गई। ज्यों ज्यों उनकी बौद्धिक इयत्ता बढ़ती गई त्यों त्यों उनकी भाषा का भी विकास होता गया। तत्कालीन प्रवृत्तियों और प्रूफ-संशोधन आदि की भूलों का ध्यान रखते हुए भी आज के समालोचक और भाषा की ईहका की दृष्टि से ही द्विवेदी जी की भाषा की समीक्षा की जायगी।

'अ' के स्थान पर उन्होंने 'इ' और 'उ' का तथा 'आ' के स्थान पर 'वा' का गलत प्रयोग किया है यथा, 'विकालत'[१] (बे. वि. र. भू. १), 'समुझा' (भा. वि. २), 'झुरांसे' (भा. वि ८८), 'हुवा' (भा. वि. १७, ३२) आदि। 'हुवा'-सरीखे प्रयोग उस युग के प्रायः सभी लेखकों की कृतियों में मिलते हैं। 'हरिणीयों' (भा. वि २५), 'केली' (भा. वि २८), 'प्राणीयों' (भा. वि. ३४), 'दृष्टी' (भा वि. ६७), 'कीशोरी' (भा. वि. ८२), 'स्वर्गी' (भा. वि. १०६), 'ट्रीनिटी' (बे. वि. र. भू १), 'इष्टसिद्धी' (बे.वि. र. ८४) आदि में अधोरेखांकित 'ई' का प्रयोग गलत है, 'इ' होना चाहिए। इन प्रयोगों पर मराठी का बहुत कुछ प्रभाव परिलक्षित होता है। इसके विपरीत कहीं कहीं 'ई' के लिए 'इ' प्रयुक्त है— 'नहि' (भा वि. २८), 'ज्योंहि' (भा. वि. २६), 'पूंछि गई' (भा. वि. १२३) आदि। 'उ' और 'ऊ' के प्रयोग में भी इसी प्रकार का व्यामोह हुआ है। 'तूझे' (भा.वि.१६), 'कारूणिक' (हि. शि. तृतीय भा. स. ३३) आदि में 'उ' और 'उपरोक्त' (भा. वि. २५) 'उपर' (भा. वि. २६), 'प्रतिकुल' (भा. वि. ३०) आदि में 'ऊ' की अपेक्षा थी। 'प्रथक प्रथक' (भा. वि. ३८) और 'भ्रकुटी' (भा. वि. १००) में 'र' के स्थान पर 'ऋ' और 'पृथा' में (हि. शि. तृ भा. स. १७) 'ऋ' के स्थान पर 'र' होना चाहिए। 'ए' के स्थान पर 'ऐ' और 'ये' का प्रयोग उस काल की व्यापक प्रवृत्ति है। 'करे', 'रहे', 'जानो', 'वीरों', 'तो', 'के', 'जिन्हे', 'मे', आदि के बदले सर्वत्र ही 'करै', रहै', 'जनौ', 'वीरौ', 'तौं', 'कैं',

---

१ कोष्ठक में अंकित अक्षर और अंक क्रमशः द्विवेदी-कृत रचनाओं के नाम और उनकी पृष्ठ-संख्या सूचित करते हैं।

भा वि =भामिनी विलास

बे. वि. र.=बेकन विचार रत्नावली

हि. शि. तृ भा. स =हिन्दी शिक्षावली तृतीय भाग की समालोचना

स्वा.=स्वाधीनता

हि. का. स.= हिन्दी कालिदास की समालोचना

भू =भूमिका

किरा.=किरातार्जुनीय

कु स.=कुमार-सम्भव

वे सं.=वेणीसंहार

'जिन्हें', 'ने' आदि प्रयोग मिलते हैं। 'लिये', 'शाखायें' ,'त्यागिये', 'गइये' चाहिये' आदि में 'ये' का प्रयोग आज भी विवादग्रस्त है। 'चाहे जो कहिये और चाहे जो कीजिए' (बे वि. र. १०४)-जैसे एक ही संदर्भ में 'ये' और 'ए' का प्रयोग द्विवेदी जी की विकल्प-भावना का सूचक है। 'यकदम' (हि. शि. तृ. भा. स. १४४), 'यम. ए' (बे. वि. र. भू. १) में 'ए' के बदले 'य' लिखना अशुद्ध है। इन प्रयोगों में, जान पड़ता है, द्विवेदी जी उर्दू से प्रभावित हैं। विधिवाक्यों के 'लावो' (बे. वि. र. २०)-सरीखे क्रियापदों में 'ओ' के स्थान पर 'वो' का गलत प्रयोग तत्कालीन अन्य लेखकों की रचनाओं में भी प्रायः मिलता है। 'और' ('ओर' के लिए-भा. वि. २२) आदि में 'ओ' का स्थानापन्न 'औ' गलत है। सम्भव है कि यह छापे की भूल हो। गद्य-लेखन के आरंभिक काल में अनुस्वार और चन्द्रबिन्दु के प्रति द्विवेदी जी का विशेष मोह परिलक्षित होता है। 'करनेंवाला' (भा.वि. ६), 'नें' (भा. वि. ११), 'उसें' (भा. वि. २४), 'कें' (भा. वि. २६), 'बेंचने' (भा. वि. ८२), 'ग्रामीणां हीं' (हि. शि. तृ. भा. स. ४७), 'कालिमां' (बे.वि. र. ३४), 'दूसरें हीं' (बे. वि. र. ३२), 'पूंछ पांछ' (बे. वि. र. २१), 'पहंचान' (बे वि. र. १२६) आदि में अनुनासिक की कोई आवश्यकता न थी। इसके विपरीत 'पहुचाता' (भा. वि. ४), 'कमलो मै' (भा. वि. ६), 'म' आदि में अनुनासिक का तिरोभाव खटकने वाली बात है। यह त्रुटि भी प्रेसवालों के प्रमाद का परिणाम हो सकती है।

व्यंजनों के प्रयोग में भी उनकी लेखन-त्रुटिया अनेक हैं। 'प्रगट' (भा. वि. ५) में 'क' के स्थान पर 'ग' का प्रयोग भी उस काल की रचनाओं में प्रायः मिलता है। यह पुराने हिन्दी कवियों के प्रभाव का फल जान पड़ता है। 'भृष्ठ' (बे. वि. र. २५) और 'चेष्ठा' (बे. वि. र. ३१) में 'ट' तथा 'ओष्ट' (भा. वि. १३१) में 'ठ' होना चाहिए। 'ड' को 'ड़' और 'ड़' तथा 'ढ़' को 'ड' तथा 'द' कर देने की त्रुटि भी उन्होंने बारम्बार की है। उदाहरणार्थ, 'विड़म्बना' (भा. वि. १२), 'गंड़स्थल' (भा. वि. ६८), 'ड़ाला' (भा. वि. ८३), 'पडते' (भा. वि. २), 'बडे बडे' (भा. वि. ११) 'लड़ाना' (बे. वि र. २४) 'छोड' (बे. वि. र. २४), 'ढूढा' (भा. वि ११), 'चढाई' (भा. वि. ३७), 'बढता' (बे. वि र. २५) आदि। 'वारम्वार' (बे. वि. र. १६), 'विना' (बे. वि र. ३६) आदि में 'ब' के स्थन पर 'व' का गलत प्रयोग मिलता है। हो सकता है कि हिन्दी न जानने वाले महाराष्ट्रीय कम्पोजिटर 'ड-ड़'-'ढ-ढ़' और 'ब-व' मे कोई अन्तर ही न समझते रहें हों और इस प्रकार की त्रुटियां हो गई हों। 'निर्दई' (भा. वि. ३४), 'दुखदाई' (भा. वि. १२१) आदि विशेषण-पदों के अन्तिम 'ई' का प्रयोग अशुद्ध है, 'यी' होना चाहिए। 'दिआ' (हि. का. सा १०७)आदि एक बचन भूत कालके क्रियापदों में 'या' के स्थान पर 'आ'

का प्रयोग गलत है। इस प्रकार के प्रयोग की भी प्रवृत्ति उस काल के लेखकों में दिखाई देती है। 'र' और रेफ के प्रयोग में अनुचित स्वच्छन्दता से काम लेकर द्विवेदी जी ने 'निर्माण' का 'निरमाण' (भा. वि. भू. १), 'वर्णन' का 'वरणन' (भा. वि. ११), 'पूर्ण' का 'पूरण' (भा. वि. २२), 'निर्दयी' का 'निरदई' (भा. वि. ७८), 'निर्णय का 'निरणय' (भा. वि १६४), 'पार्लियमेंट' 'पारलियामेंट' (स्वा. भू. ३), 'मनोरथ' का 'मनोर्थ' (भा. वि. १४०) और 'अन्तःकरण' का 'अन्त-कर्ण' (भा. वि. १५६) कर दिया है। 'विध्वंश' (भा. वि ६३) और 'शोचविचार' (बे. वि. र. २६) में 'स' के स्थान पर 'श' का प्रयोग संस्कृत के प्रभाव के कारण हुआ है। कहीं कहीं उन्होंने वर्णों के संयोग में क्रमविपर्यय कर दिया है। जैसे 'तुह्मारी' (भा. वि. १७), 'तुह्मै' (भा. वि. १७) आदि। 'सक्ता' (हि. शि. भा. तृ. स. ५३) में तो असंयोजनीय 'क' और 'त' को संयुक्त कर दिया है। इस प्रकार के प्रयोगों का कारण उस युग की व्यापक प्रवृत्ति ही है।

द्विवेदी जी की ही नहीं तत्कालीन अन्य साहित्यकारों की रचनाओं में भी सर्वत्र ही व्याकरण-संबंधी अराजकता है। द्विवेदी जी की अशुद्धियां अपेक्षाकृत कम हैं। ष्यञ प्रत्यय के प्रयोग से बनी हुई भाववाचक संज्ञाओं में फिर एक दूसरा भाववाचक प्रत्यय 'त' (तल्) जोड़कर संज्ञा शब्द बनाना ठीक नहीं। 'चातुर्यता (भा. वि. २३), 'साम्यता' (हि. शि. तृ. भा. स. ६५) 'सौन्दर्यता' (हि. शि. तृ. भा. स. ६६), 'तारुण्यता' 'माधुर्यता', 'आधिक्यता', 'चैतन्यता' आदि प्रयोग व्याकरण-विरुद्ध हैं। परन्तु इस प्रकार के प्रयोग उस समय साधु माने जाते थे। कहीं तो विशेषण के लिए भाववाचक संज्ञा और कहीं भाववाचक संज्ञा के लिए विशेषण का प्रयोग किया गया है। 'सुकरता के अर्थ में 'सुकर' (भा. वि.१६२) और 'अरोग' के अर्थ में 'आरोग्य' (इससे शरीर आरोग्य रहता है-बे. वि. र. ३८) का प्रयोग गलत है।

'चन्द्रमा ने दूर कर दिया है अन्धकार पटल जिन्हों का ऐसी निशायें' (हि. का. स. ५४) में 'जिन्हों' का प्रयोग अशुद्ध है। जब 'जो' सर्वनाम कारक-विभक्ति के साथ बहुवचन में प्रयुक्त होता है तब उसका रूप कर्ता कारक में 'जिन्हो' किन्तु अन्य कारकों में 'जिन' हो जाता है। उपर्युक्त वाक्य में 'जिन्हों का' के स्थान पर 'जिनका' होना चाहिए था। उस काल के अन्य लेखकों में भी 'उन्हों का'-जैसे प्रयोग की प्रवृति का कारण सम्भवतः यह है कि उन लेखकों ने 'उन्हों' के साथ कर्ता कारक की विभक्ति 'ने' के स्थान पर सम्बन्ध कारक की विभक्ति 'का' लगा देने में कोई दोष नहीं समझा। कहीं कहीं अंगरेजी और संस्कृत से प्रभावित होने के कारण भी उन्होंने हिन्दी सर्वनामों के प्रयोग में गलती की है। 'उसको उसके पिता के मरने का समाचार मिला' (बे. वि. र. भू. १) यह वाक्य अंगरेजी के

'He received the news of his father's death' का गलत अनुवाद है। अंगरेजी और संस्कृत के सम्बन्धवाचक सर्वनाम निजवाचक भी होते हैं, परन्तु हिन्दी में निजत्व-बोध के लिए 'अपना' सर्वनाम-शब्द प्रयुक्त होता है। अतएव उयुक्त वाक्य में 'अपने पिता' होना चाहिए। यही भूल 'हे गज शावक ! तेरे निकट आए हुए इस भ्रमर की कदापि अवज्ञा न कर' (किरा. १४) में की गई है। 'तेरे' के बदले 'अपने' होना चाहिए था।

विशेषण-सम्बन्धी अशुद्धियों में विशेष समालोच्य स्थान सार्वनामिक विशेषणों का ही है। 'कौन कौन मनुष्यों ने' (भा. वि. १६४) और 'कौन कौन सी शोभा का मैं उल्लेख करूं' (किरा.६६) में 'कौन कौन' का प्रयोग व्याकरण-विरुद्ध है। जब 'कौन' से विशिष्ट विशेष्य में कारक विभक्ति लगती है तब उसका रूपान्तर बहुवचन में 'किन' और एक वचन 'किस' हो जाता है। इस नियमानुसार पहले उद्धरण में 'किन किन' और दूसरे में 'किस किस' का प्रयोग उचित होता। 'अपना हित साधन में' (बे. वि.र. २७) में 'अपना' के बदले 'अपने' होना चाहिए। कारक-विभक्ति-युक्त विशेष्य का विशेषण आकारान्त से एकारान्त हो जाता है। 'केशवदास जी ने अपनी रामचन्द्रिका काव्य में अनेक गणात्मक छन्दों का प्रयोग किया है। (ऋतु तरंगिणी भू. १) में 'अपनी' के स्थान पर विशेष्य 'काव्य' शब्द के लिंगानुसार 'अपने' होना चाहिए, क्योंकि, 'रामचन्द्रिका काव्य' समानाधिकरण तत्पुरुष के रूप में प्रयुक्त है और तत्पुरुष समास के योग में विशेषण के लिंग और वचन विशेष्य के अन्तिम पद के अनुसार होते हैं।

यदि किसी वाक्य में एक ही क्रिया के अनेक कर्त्ता हों तो उसका लिंग अंतिम कर्त्ता के अनुसार होता है। 'बाए में रीछ अथवा बंदर और बकरी सामने खड़े हैं'[1] में 'खड़े हैं' अशुद्ध है। 'खड़ी हैं' होना चाहिए या 'बाएंमें रीछ अथवा बन्दर और बकरी दोनों खड़े है।' जिन सकर्मक क्रियाओं में कर्म के साथ कारक-विभक्ति न प्रयुक्त हुई हो उनके लिंग और वचन वर्तमान और भविष्यत् कालों के अतिरिक्त सर्वत्र ही कर्म के अनुसार होते हैं। द्विवेदी जी ने इस नियम के विरुद्ध अनेकशः प्रयोग किए हैं। 'दुष्टता सूचित करना चाहिए' (भा. वि. ३), 'चेष्टा न करना चाहिए' (स्वा. भू. ११), 'वैयाकरण की भाषा सर्वसम्मत होना चाहिए' (सरस्वती, भाग ६, सं० ७, पृ० २८१), 'खुशामद करना पड़ता है' (लेखांजलि, निवेदन, पृ० २) आदि स्थलों पर 'करना' के स्थान पर 'करनी' का प्रयोग ही व्याकरण-संगत है। द्विवेदी-युग के आरंभ में क्रियाओं के उपयुक्त प्रयोग साधु समझे जाते थे।

---

१. द्विवेदी जी का व्यंग्य-चित्र—'साहित्य सभा', 'सरस्वती' की हस्तलिखित प्रतियाँ, १९०३ ई०, कलाभवन, नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी।

१६२३ ई० में भी उन्होंने यह त्रुटि की है। 'उसकी रक्षा जी-जान से करनी चाहिए'[1] में तो उन्होंने शुद्ध प्रयोग किया किन्तु कुछ ही दूर आगे चलकर गलती कर दी-'हमें और भाषाओं की समकक्षता करना है।'[2] संयुक्त क्रियाओं के प्रयोग में भी कम अशुद्धियां नहीं हुई हैं—

'उनके अंजनहीन नेत्रों की शोभा कटाक्षों ने बनी रक्खी, उनके धुले हुए लाक्षारसवाले अधरों की शोभा कंपकंपी ने बनी रक्खी, और उनके तिलक रहित ललाटों की शोभा रेखाओं ने बनी रक्खी।'[3]

उपर्युक्त वाक्य में 'बनी' अशुद्ध है, शुद्ध प्रयोग है 'बना', कारण, कर्म-प्रधान वाक्य के भूत-काल में केवल सहायक क्रिया में ही भूतकालिक प्रत्यय लगता है, मुख्य क्रिया के धातुरूप का 'न' मात्र उड़ा दिया जाता है। परन्तु वर्तमानकालिक कृदन्त के मेल से बनी हुई मुख्य क्रिया, लिंग और वचन में, सहायक क्रिया की ही भांति प्रयुक्त होती है। अतएव 'जो मनुष्य...निरीक्षण करते रहता है' (बे. वि. र. २२) में प्रयुक्त 'करते' के स्थान पर 'करता' होना चाहिए। ऐसा भी हो सकता है कि लेखक ने 'बनी' शब्द का प्रयोग भूतकालिक धातुसाधित विशेषण 'बनी हुई' के अर्थ में किया हो और लाघव के कारण हुई' का लोप कर दिया हो। क्रियार्थक संज्ञाओं के मेल से बनी हुई और साधारणरूप में प्रयुक्त मुख्य क्रियाओं के भी लिंग और वचन सहायक क्रिया के ही समान होते हैं। लिंग और वचन के प्रत्यय मूल क्रिया में जोड़े जाते हैं। 'आघात सहन करना पड़ते हैं' (बे. वि. र. १३३) में 'पड़ते हैं' पुल्लिंग बहुवचन है, अतः 'करना' का भी पुल्लिंग बहुवचनरूप 'करने' होना चाहिए। 'बाण छूटने ही चाहता है' (कु. स. ५३) में 'चाहता है' एक वचन पुल्लिंग है, अतः मुख्य क्रिया का एकवचन पुल्लिंगरूप 'छूटना' ही शुद्ध है इस प्रकार के प्रयोगों के मूल में एक विशेष कारण जान पड़ता है। सम्भवतः 'मैं जाने को तैयार हूँ' आदि की भांति 'बाण छूटने ही को चाहता है' इस प्रकार का वाक्य लेखक के मन में था और लाघव के लिए उसने कारक-विभक्ति 'को' का लोप कर दिया। यह प्रवृत्ति भी उस काल के लेखकों में व्यापकरूप से पाई जाती है।

पद्य की बात तो दूर रही उनकी गद्यभाषा में भी पूर्वकालिक क्रिया के रूपों में अशुद्धि पाई जाती है। 'समझकर' के लिए 'समझे'(भा. वि. १३), 'देखकर' के लिए 'देख' (भा. वि.

१. साहित्य-सम्मेलन के कानपुर अधिवेशन में स्वागताध्यक्ष-पद से भाषण, पृ० २४।
२. ,, ,, ,, पृ० ३०
३. 'किरातार्जुनीय', पृ० १७२।

७८). 'बिता कर' के लिए 'बिताय' आदि प्रयोग आज के खड़ीबोली-व्याकरण की दृष्टि से ठीक नहीं हैं। भूतकालधातुसाधित विशेषणों के अर्थ में धातुसाधित संज्ञाओं का गलत प्रयोग प्रायः हुआ है। 'कुंभ को विदारण करके' (भा. वि. २६), 'महिमा स्फुरण होती है' (भा. बि. ४०), 'सर्पिनी स्थापन की है' (भा. वि. ५५),'……को समर्थन किया है' (हि. का. स. १११), 'जो…नाश हो जाता है' (बे. वि. र. ३), 'चित्त को आकर्षण कर लेता है' (बे. वि. र. २४), 'नमूना कल्पना किया है' (बे. वि. र. १३१) आदि उद्धरणों में क्रमशः 'विदारित', 'स्फुरित', 'स्थापित', 'समर्पित', 'नष्ट', 'आकृष्ट', 'कल्पित' आदि होना चाहिए। 'प्रकाश निर्माण किया'-सरीखे वाक्यों में यदि 'निर्माण' संज्ञा के स्थान पर धातुसाधित विशेषण 'निर्मित' का प्रयोग नहीं किया तो भाषा-शुद्धि के लिए 'प्रकाश' और 'निर्माण' के बीच संयोजक-चिन्ह ही लगा देना चाहिए था। इस प्रकार 'प्रकाश'-'निर्माण' 'किया' सकर्मक क्रिया का कर्म हो जाता। संयोजक-चिन्ह के अभाव में 'निर्माण' का पदान्वय हो ही नहीं सकता। ये प्रयोग भी तत्कालीन लेखकों की दृष्टि में असाधु नहीं थे।

'हाय यह क्या ही कष्ट है' (भा. वि, १०१) में 'क्या ही' अव्यय वेदना की अभिव्यंजना नहीं करता, उसका प्रयोग चमत्कारादि का द्योतक है। 'वे सब लड़के एक ही कुटुम्ब के मात्र होने चाहिए' (बे. वि. र. ३०) में 'ही' और 'मात्र' दोनों अव्ययों का प्रयोग असंगत है। 'कुटुम्ब' और 'मात्र' के बीच 'के'-रूपी व्यवधान नहीं होना चाहिए,उन दोनों की सन्निधि अपेक्षित है। 'यह विकार केवल मात्र मूर्खता का परिणाम है' (बे. वि. र. ५६) में 'केवल' और 'मात्र' एक ही अर्थ की अनावश्यक पुनरावृत्ति करते हैं। अवधारण-सूचक अव्यय 'केवल' किसी संज्ञा, सर्वनाम या विशेषण के निरन्तर पूर्व और 'मात्र' पश्चात् प्रयुक्त होता है।

यद्यपि हिन्दी-व्याकरण संस्कृत के नियमों का पालन करने के लिए बाध्य नहीं है तथापि द्विवेदी जी ने अनेक शब्दों का लिंग-प्रयोग संस्कृत के ही अनुसार किया है। 'हमारा विनय' (हि. शि. तृ. भा. स. १०६), 'के धातुओं' (बे. वि. र. ४), 'हमारा मृत्यु' (बे. वि. र. १३), 'तेरा पराजय' (वे. सं. ७), 'के शोकाग्नि' (वे. सं. ७५) 'के बूंद' (कु. स. ३), 'के किरण' (कु. स. १८) आदि प्रयोग हिन्दी की दृष्टि से अशुद्ध हैं। उपर्युक्त संज्ञाओं तथा 'खोज' (सरस्वती, भाग ५, सं० १० पृ० ३६१), 'समझ' (बे. वि. र. १७) आदि का प्रयोग स्त्रीलिंग में होना चाहिए। इसके विपरीत 'पांडित्य' (भा. वि. २), 'सौरभ' (भा. वि. ४), 'सूर्यातप' (भा. वि. १६) 'द्रव्य' (भा. वि २४),

'राज्य' (भा. वि. २६), 'पुण्य' (भा. वि. २६) 'सादृश्य' (भा. वि. ४६), 'लावण्य' (भा. वि. ८२), 'काव्य' (भा. वि. १६६), 'माधुर्य' (भा. वि. १६८) आदि शब्दों का स्त्रीलिंग-प्रयोग व्याकरण-विरुद्ध है। एकत्र प्रयुक्त अनेक संज्ञाओं के विशेष्यविशेषणों का लिंग पहली संज्ञा और विधेयविशेषणों तथा क्रियाओं का लिंग अन्तिम संज्ञा के अनुसार होता है। 'अपना निन्दा या तिरस्कार' (किरा. १५) तथा 'अपने आय और व्यय' (बे. वि. र. १०) में 'अपना' और 'अपने' के स्थान पर 'अपनी' होना चाहिए। इसी प्रकार 'इस भूमि को बिना कृष्ण का...कर दूंगा' (वे. सं. ४६) में 'का' और 'छोटे छोटेगुण, बुद्धि-कौशल्य तथा देश की साधारण रीतियां-यही सब मनुष्य के भाग्योदय का कारण होते हैं' में 'होते हैं' का प्रयोग गलत है। तत्पुरुष समास के योग में विशेषण और क्रिया अन्तिम पद के लिंग में ही प्रयुक्त होती है। 'अकेली ईकार'[1] और 'शिव पार्वती प्रसन्न हुए' (कु. स. १३७) में 'अकेली' और 'हुए' अशुद्ध हैं, शुद्ध प्रयोग है; 'अकेला' और 'हुई'। सम्भव है कि उपर्युक्त वाक्य 'शिव-पार्वती दोनों प्रसन्न हुए' का संक्षिप्त रूप हो और 'दोनों' शब्द के निकल जाने पर भी क्रिया को अविकल रखने की प्रवृत्ति बनी रही हो। कहीं कहीं तो द्विवेदी जी ने एक ही लेख में एक ही शब्द का दोनों लिंगों में प्रयोग किया है, यथा, 'बड़ा गड़बड़ है' (सरस्वती, भाग ६, सं० ११, पृ० ४३३) और 'गड़बड़ पैदा हो जायगी' (सरस्वती, भाग ६, सं० ११ पृ ४३४)।

वचन की अशुद्धियां अपेक्षाकृत विरल हुई हैं। 'आख्यायिकाओं' के स्थान पर 'आख्यायिकों' (भा. वि. भू ५)-सरीखे प्रयोग कुत्रचित् ही नयनगोचर होते हैं।

'जाने को तुझे निषेध नहीं करता' (भा. वि. २३, 'अन्तःकरण को चुम्बन किया' (भा. वि. ४४), 'असत्य को निर्णय कर के' (बे. वि. र. २७), 'इस काम को सम्पादन करता' (बे. वि. र. भू. ७) और 'जो श्लोक हमने उद्धरण किया है' (हि. का. स. ५६) में प्रयुक्त 'निषेध', 'चुम्बन', 'निर्णय', 'सम्पादन' और 'उद्धरण' धातुसाधित कार्यवाचक संज्ञाएं हैं। प्रस्तुत संदर्भों में उनका पदान्वय किसी प्रकार हो ही नहीं सकता। यदि उन्हें 'करना' क्रिया के कर्मरूप में लिया जाय तो फिर उनके पूर्ववर्ती 'तुझे', 'अन्तःकरण', 'असत्यता', 'काम' और 'श्लोक' का पदान्वय क्या होगा? 'निषेध' आदि 'तुझे' आदि के समानाधिकरण हैं नहीं, क्योंकि 'तुझे' आदि में कर्म कारक की विभक्ति लगी हुई है और 'निषेध' आदि में नहीं। 'करना' क्रिया द्विकर्मक न होने के कारण दो कर्म नहीं रख सकती। अतएव पदान्वय और वाक्य-शुद्धि के लिए 'तू' आदि संबन्ध कारक में होने चाहिए, जिससे 'निषेध' आदि 'करना' क्रिया के कर्म-रूप में अन्वित हो सकें। इस प्रकार

१. साहित्य-सम्मेलन के कानपुर-अधिवेशन में स्वागताध्यक्ष-पद से भाषण, पृ० ५८

के प्रयोगों की प्रवृत्ति का कारण स्पष्ट है। तत्कालीन लेखकों ने 'निषेध करना', 'सम्पादन करना' आदि को एक सकर्मक-क्रिया-पद मानकर उनका तादृश प्रयोग किया। उनके मस्तिष्क में 'निषेध, 'सम्पादन' आदि संज्ञा के रूप में नहीं आए। 'धर्मोपदेशक को अविवाहित रहना अच्छा है' (बे. वि. र. ७३) में 'रहना' संज्ञा-रूप में प्रयुक्त है, अतएव धर्मोपदेशक में सम्बन्ध कारक का चिन्ह 'का' होना चाहिए। 'को' के इस गलत प्रयोग का सम्भावित कारण यह है कि लेखक ने सम्प्रदान कारक की दोनों विभक्तियों 'को' और 'के लिये' को एक ही समझ कर 'के लिये' के स्थान पर 'को' की ही योजना कर दी है। 'जो स्वयं विपुलता में उपमा दी जाती है' में 'जो' का प्रयोग असंगत है, 'जिसकी' होना चाहिए। प्रस्तुत वाक्य 'या स्वयं विपुलतया उपमीयते'-जैसे संस्कृत-वाक्य का अनुवाद-सा जान पड़ता है। द्विवेदी जी ने अपना साहित्यिक अध्ययन संस्कृत से ही आरम्भ किया था और तत्पश्चात् हिन्दी में आए थे। इस प्रकार के प्रयोग उसी संस्कार के परिणाम हैं। 'वह··· चल दिया' (बे. वि. र. भू. १) में 'वह' अशुद्ध है, शुद्ध होगा 'उसने' कारण, संयुक्त क्रिया का कर्ता सहायक क्रिया के अनुसार होता है। प्रस्तुत वाक्य में 'दिया' 'देना' क्रिया का सामान्य भूत है और बोलना, भूलना तथा लाना को छोड़ कर सामान्य, आसन्न, पूर्ण और संदिग्ध भूत में प्रयुक्त अन्य सभी सकर्मक क्रियाओं के कर्ता के साथ 'ने' विभक्ति अवश्य लगती है। भाषा के सिद्ध प्रयोग के अनुसार उपर्युक्त अवस्था में 'वह' का 'उसने' हो जाना चाहिए। 'धन्य इस भाषान्तर की' (हि. का. स. २६) में 'भाषान्तर' सम्बन्ध कारक में नहीं होना चाहिए। 'धन्य' विशेषण और 'भाषान्तर' संज्ञा है। संज्ञा और विशेषण का संबंधित-संबंधी-संबंध कैसा? कर्ता कारक में प्रयुक्त 'भाषान्तर' ही व्याकरण-सम्मत हो सकता है। सम्भवतः 'दुहाई' आदि विस्मयादि-बोधक अव्ययों के प्रभाव के कारण ही उपर्युक्त गलती हुई है। समानाधिकरण के प्रयोग का परिपक्व ज्ञान न होने के कारण कहीं कहीं अनावश्यक सर्वनामों का प्रयोग भी द्विवेदी जी ने किया है। 'बा.बू साधुचरणप्रसाद जिन्होंने पर्यटन पर एक ग्रन्थ लिखा है उनकी शक्ल दरकार है'[1] में 'उन' का कोई प्रयोजन नहीं था। मुख्य वाक्य है 'बाबू साधु चरण प्रसाद की शक्ल दरकार है'। 'जिन्होंने पर्यटन पर एक ग्रन्थ लिखा है' यह एक विशेषण-वाक्य है जिसका विशेष्य है 'साधुचरण प्रसाद'। बीच में 'उन' के लिए कहीं स्थान ही नहीं है। अतः इस वाक्य का शुद्ध रूप होगा 'बाबू साधुचरण प्रसाद की, जिन्होंने पर्यटन पर एक ग्रन्थ लिखा है, शक्ल दरकार है।' यदि मूल वाक्य में प्रयुक्त सभी शब्दों को रहने दिया जाय तो उसका विन्यास इस प्रकार होना चाहिए—'उन बाबू साधुचरण प्रसाद की शक्ल दरकार है जिन्होंने पर्यटन पर एक ग्रन्थ लिखा है।'

१. 'सरस्वती' की हस्तलिखित प्रतियाँ, १९०३ ई०, 'साहित्य समालोचना', 'साहित्य सभा

'उरोपक्त' (हि. शि. तृ. भा. स. ५८), 'सन्मुख' (भा. वि. १६), 'सन्मान' (बे. वि. र ११), 'विद्वत ' (बे. वि. र. ६६) 'प्रेसाध्यत्न'(बे.वि. र. मुख पृष्ठ) आदि शब्दों में की गई संधियां चिन्त्य हैं। 'उपरोक्त' का विग्रह हो सकता है उपर+उक्त, परन्तु 'उपर' कोई शब्द नहीं है। उससे मिलते जुलते उसी अर्थ के व्यंजक दो अन्य शब्द हैं—संस्कृत का का 'उपरि' और हिन्दी का ऊपर। इन दोनों के योग से क्रमशः दो शुद्ध संधिरूप हो सकते हैं '-युक्त' और 'ऊपरोक्त'। 'उपरोक्त' सर्वथा अशुद्ध है। फिर भी प्रयोग चल पड़ा अतः मान्य है। 'सन्मुख' और 'सन्मान' में पहला शब्द 'सम्' उपसर्ग है, 'सत्' नहीं। सन्धि के नियमानुसार किसी वर्ण के वर्ग का पंचम वर्ण ही अपने पूर्ववर्ती अनुस्वार का स्थानापन्न हो सकता है। अतएव उपयुक्त शब्दों में 'न्' के स्थान पर 'म' होना चाहिए। पंचम वर्ण के प्रयोग में अन्य संदर्भों में भी भूलें हुई हैं। 'इन्डियन' (बे. वि. र. ६७) का 'इंडियन' या 'इण्डियन' और 'सेन्ट' (बे. वि. र. १२७) का 'सेंट' या 'सेण्ट' होना चाहिए। अन्य भाषाओं के शब्दों की लिखावट में यह नियम शिथिल किया जा सकता है। 'विद्वता' शब्द भी अप्रसिद्ध है। संस्कृत शब्द है 'विद्वत्' और हिन्दी में 'विद्वान्' या 'विद्वान'। 'ता' प्रत्यय के योग से 'विद्वत्ता', 'विद्वान्ता' या 'विद्वानता' शब्द ही बन सकते हैं, 'विद्वता' नहीं। 'विद्वान्ता' और विद्वानता' असाधु हैं, 'विद्वत्ता' ही व्याकरण-संगत है। अंगरेजी 'प्रेस' और संस्कृत 'अध्यत्न' की संधि और समास में बड़ी विचित्रता है।[1] द्विवेदी जी की आरंभिक रचनाओं में कहीं कहीं शास्त्र-विरुद्ध शब्द-सृष्टि भी की गई है 'दम्पति' के अर्थ में 'दम्पत्य' (भा. वि. ८३) एक असंभावनीय सामासिक पद है। संस्कृत में 'जाया' और 'पति' के समास से 'जायापती', 'जम्पती' और 'दम्पती' शब्द बनते हैं। 'दम्पती' हिन्दी में 'दम्पति' हो गया है। 'दम्पत्य' अशुद्ध है। उसके स्थान पर 'दम्पति' या 'दम्पती' होना चाहिए। क्रिया-विशेषण के रूप में दीर्घसमस्तपदावली का प्रयोग सुन्दर नहीं जँचता। 'उच्छृंखलताधारणपूर्वक विषयासक्त हो जाते हैं' (बे. वि. र. ३०) में 'पूर्वक' के स्थान पर पूर्वकालिक क्रिया 'करके' का प्रयोग अधिक संगत होता।

'हस्ताक्षेप' (बे. वि. र. ४१) में 'क्षेप' के पूर्व 'आ' उपसर्ग अनावश्यक और व्यर्थ पाण्डित्य-प्रदर्शन का द्योतक है। प्रत्ययों के प्रयोग में भी द्विवेदी जी ने भूलें की हैं। 'आरोग्य' (बे. वि.३७) का 'आरोग्य' होना चाहिए। 'एक' और 'अरोग्य' में ष्यञ् प्रत्यय लगने से 'ऐक्य' और 'आरोग्य' भाववाचक शब्द बनते हैं, *फिर उनमें भी उर्दू के जमउल जमा की* भांति 'ता' (तल्) जोड़कर 'ऐक्यता' (बे. वि. र. ४६) और 'आरोग्यता' (बे. वि. र. ६०)

---

1. *यदि हिन्दी ने 'प्रेस' शब्द को पूर्णतः पचा लिया है तो फिर यह प्रयोग ठीक है।*

बनाना व्याकरण-विरुद्ध है। इन प्रयोगों में तत्कालीन लेखकों की व्यापक प्रवृत्ति होने के कारण ये साधु समझे जाते थे। 'प्रकटित करते' हैं (बे. वि. र. ६०) में 'प्रकटित' क्यों ? 'क्त' प्रत्यय अनपेक्षित है। अभीष्ट भावाभिव्यंजन मे 'प्रकट करते हैं' पूरा समर्थ है।

यत्र तत्र शब्दों की आकांक्षा और अन्वय का भी द्विवेदी जी ने विस्मरण कर दिया है। मीठे मीठे शब्द करने वाले हंस ही मानो उस भूमि रूपिनी कामिनी की करधनी थी' (किरा. ७६) वाक्य में 'हंस' कर्ता पुल्लिंग क्रिया 'थे' की आकांक्षा रखता है। 'करधनी' पूरक-रूप में अन्वित है। यदि 'करधनी' को पूरक न स्वीकार कर के उसे 'हंस' का समानाधिकरण मानने की गलती की जाय तो भी क्रिया का रूप मुख्य शब्द 'हंस' के अनुसार 'थे' होना चाहिए। 'देशान्तर में भ्रमण कर के जिस मनुष्य ने नाना प्रकार की भाषा और वेष इत्यादि का ज्ञान नहीं सम्पादन किया, उनका इस भूतल पर जन्म व्यर्थ है'। (बे. वि. र. ११६) में प्रयुक्त 'मनुष्य' एकवचन होने के कारण 'उनका' के स्थान पर 'उसका' की आकांक्षा रखता है।

संस्कृत आदि अन्य भाषाओं से अभिभूत होने और हिन्दी-भाषा का सम्यक् ज्ञान न होने के कारण द्विवेदी जी ने अनेक स्थलों पर ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है जो हिन्दी-शब्दार्थ-प्रणाली के अनुसार अभीष्ट अर्थ की व्यंजना करने मे असमर्थ है। 'अमुक व्यक्ति हमारा दुर्लौकिक करने के लिये हमारे विषय मे प्रतिकूल चर्चा करता है' (बे. वि. र. ८१), 'जिसके द्वारा मूर्खता का अंश अधिक मोहित हो जाता है वह गुण अधिक प्रभाव-शाली होता है' (बे. वि. र. ७७) और 'आप की योजना एक गुरुतर कार्य के साधन के लिये करना चाहता हूँ'।(कु. स ३६) मे प्रयुक्त 'दुर्लौकिक', 'मोहित' और 'योजना' हिन्दी के 'निन्दा', 'तिरोहित' और 'नियुक्त' शब्दों के अर्थ मे लिए गए हैं, परन्तु वे इसके सर्वथा अयोग्य हैं।'अवसर' के अर्थ में 'संधि'(बे. वि. र. ६५) और 'शान्ति' के अर्थ मे शान्तता' (बे. वि. र. ८७) का प्रयोग गलत है। इन प्रयोगा की भावना मराठी और संस्कृत के प्रभाव के कारण हुई है। 'इलाहाबाद मे तुम्हारे वहा जाने पर यह जन तुम्हारे दर्शनों से बहुधा वंचित नहीं हुआ'।[1] मे 'तुम्हारे वहाँ जाने पर' के बदले 'तुम्हारे यहां आने पर' होना चाहिए। उद्धृत वाक्य लेखक के भावाभिव्यंजन के अयोग्य हैं। जब हम यह कहते हैं कि 'हम तुम्हारे यहा गए थे' तब इससे यह अर्थ निकलता है कि तुम अपने स्थान पर नही थे। यदि तुम अपने स्थान पर उपस्थित रहे होते तो हमको कहना चाहिए कि 'हम तुम्हारे यहा आए थे।' उद्धृत वाक्य से यह सिद्ध है कि तुम अपने वासस्थान

---

१. 'विचार-विमर्श', पृ० २६१, 'सरस्वती', अगस्त १६१४ ई०

पर थे, तभी तो यह जन दर्शनों से वंचित नहीं हुआ। अतएव समापिकाक्रिया के अर्थ की उचित अभिव्यक्ति के लिए असमापिका क्रिया में उपर्युक्त संशोधन अनिवार्य है।

शब्दों की सन्निधि और क्रम मे भी द्विवेदी जी ने व्याकरणविरुद्ध विपर्यय किया है। 'अपना महत्त्वपूर्ण वक्तव्य सुनावेंही गे'[1] में 'गे' कोई अलग शब्द नहीं है। 'सुनावेंगे' एक क्रियापद है। अतः 'सुनावें' और 'गे' के मध्य में 'ही' की योजना नहीं हो सकती। 'अपना उदर तो पोषण करते हैं' (बे. वि. र. ३१) में यदि 'पोषण' के स्थान पर 'पोषित' होता तो वाक्य शुद्ध होता। यहाँ तो 'उदर' और 'पोषण' दो संज्ञाओं में संबंधी-संबंधित-संबंध ही हो सकता है। 'उदरपोषण' मे तत्पुरुष समास है और तत्पुरुष समास के दोनों पदों के बीच, समास विग्रह होने पर, संबंध कारक की विभक्ति अवश्य लगनी चाहिए। 'गत वर्ष हमने लाला सीताराम बी० ए० विरचित कुमार सम्भव भाषा की समालोचना लिखकर काशी पत्रिका और हिन्दोस्थान में जो प्रकाशित की है, उसका स्मरण समाचार पत्रों के किसी किसी प्रेमी को अभी तक बना होगा।' (हि. का. स. ३७) उपर्युक्त वाक्य में 'जो' शब्द समालोचना संज्ञा का सार्वनामिक विशेषण है, अतएव इसका प्रयोग विशेष्य के पूर्व ही उसकी सन्निधि में होना चाहिए। इस अपप्रयोग पर संस्कृत के 'इति यत्' तथा बंगला की तादृश अभिव्यंजन-प्रणाली का प्रभाव परिलक्षित होता है। 'पद्य-रूप में कुछ लिख देना ही नहीं काव्य कहा जा सकता' (हि. का. स. ६) में 'नहीं' 'कहा जा सकता' क्रिया का विशेषण है इसलिए इन दोनों के बीच में व्यवधान बनकर आनेवाले 'काव्य' शब्द का संगत क्रम 'नहीं' के पूर्व है उसी प्रकार 'वासुदेव ने एकदम सरपट घोड़े छोड़ दिया' (वे, सं० ६२) में क्रियाविशेषण 'एकदम सरपट' 'छोड़ दिया' क्रिया के पूर्व उसकी सन्निधि में होना चाहिए था। कहीं कहीं शिरोरेखा की भग्नता या अतिक्रमण ने भी शब्दों की सन्निधि को अशुद्ध कर दिया है, उदाहरणार्थ, 'बा लबकुल' (भा. वि. १७), 'देनेवा ले' (भा. वि. १६), 'उड़जावेंगे' (भा. वि. ६), 'महामनोहरमायावीलीलावाली' (भा. वि. १२०) आदि। सम्भवतः ये भूलें प्रेस की हैं, फिर भी लेखक इनका उत्तरदायी है।

प्रत्यक्ष और परोक्ष-कथन के अवसरों पर अंगरेजी की अभिव्यक्ति-प्रणाली के कारण द्विवेदी जी ने अर्थ का अनर्थ कर डाला है, यथा:—

'जब हमें श्रीमान् से मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था तब श्रीमान् ने कहा था कि यदि हम हर साल एक अच्छे अंगरेजी ग्रंथ का अनुवाद करें तो आप हमें पाँच सौ रुपया उसके परिश्रम का बदला देंगे। आप ने कहा था कि आप वादा तो नहीं करते पर

---

१. साहित्य-सम्मेलन के कानपुर अधिवेशन में स्वागताध्यक्ष-पद से भाषण, पृ० १०

इतना देने का यत्न आप जरूर करेंगे ।'[१]

हिन्दी की अभिव्यजना-प्रणाली के अनुसार उपर्युक्त वाक्य का आशय होता है कि राजा साहब अनुवादक हैं और द्विवेदी जी पांच सौ रुपए के पारिश्रमिक-दाता, परन्तु लेखक का अभिप्राय इसके ठीक विपरीत है। उनके भाव का सही प्रकाशन करने के लिए वाक्य-विधान इस प्रकार होना चाहिए 'जब हमें श्रीमान् से मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था तब श्रीमान् ने कहा था कि यदि आप हरसाल एक अच्छे अंगरेजी ग्रन्थ का अनुवाद करें तो मैं आप को पाँच सौ रुपया उसके परिश्रम का बदला दूंगा। आप ने कहा था कि मैं वादा तो नहीं करता पर इतना देने का यत्न मैं जरूर करूंगा।' उनके 'वेणी-संहार' में कर्ण दुर्योधन से कहता– है 'आप अब तक यह समझते थे कि मैं शस्त्र विद्या में बहुत ही निपुण हूँ। युद्ध में मेरी बराबरी करने वाला कोई नहीं' (पृ० ६७)। इस वाक्य से यह अर्थ निकलता है कि दुर्योधन शस्त्र विद्या में निपुण है और उसकी बराबरी करनेवाला कोई नहीं है और यह कर्ण के मनोभाव का अनर्थ है। उसके अभिप्राय को हम अपनी भाषा में इस प्रकार व्यक्त कर कर सकते हैं—दुर्योधन यह समझता था कि कर्ण शस्त्र-विद्या में बहुत निपुण है और युद्ध में कर्ण की बराबरी करनेवाला कोई नहीं है। उपर्युक्त वाक्य में हिन्दी-परोक्ष-कथन के विधानानुसार 'मैं' के स्थान पर 'कर्ण' और 'मेरी' के स्थान पर 'उसकी' होना चाहिए। हिन्दी के परोक्ष-कथन में अंगरेजी की भांति पुरुष, काल आदि में कोई परिवर्तन नहीं होता।

'उत्सव मनाए जाने को तैयार हो जाइए'। (वे. सं० ८८) में समापिका क्रिया मनुष्य के लिए प्रयुक्त है जो 'उत्सव' का कर्त्ता ही हो सकता है, कर्म नहीं। अतः 'मनाए जाने' के स्थान पर 'मनाने' का प्रयोग होना चाहिए। निम्नांकित वाक्यों में ठीक इसके विपरीत वाच्य की अशुद्धि की गई है। 'जो संशय स्वयमेव मन में उत्पन्न हो जाते हैं 'वे मधुमक्षिका की भनभनाहट के समान समझने चाहिए'। (बे. वि. र. ७४) तथा 'स्त्री और लड़के वाले मनुष्य के लिए दया दाक्षिण्यादि गुणों के शिक्षक समझने चाहिए' (बे. वि. र. ७४) कर्म-प्रधान वाक्यों में मुख्य क्रिया के रूप में 'समझने' का प्रयोग गलत है। हिन्दी में जब आज्ञार्थक वाक्यों का कर्तृवाच्यसे कर्मवाच्य बनाया जाता है तब उसमें अन्तिम सहायक क्रिया होती है 'चाहिए' और इस 'चाहिए' तथा मुख्य क्रिया के मध्य में 'जाना' क्रिया की अन्तर्योजना कर दी जाती है। मुख्य क्रिया का प्रयोग भूतकाल में होता है, परन्तु 'जाना' में कोई कालवाचक विभक्ति नहीं लगती। मुख्यक्रिया और 'जाना' के लिंग तथा वचन कर्त्तारूप

१. राजा साहब छत्रपुर को पत्र २.७.१९०७ द्विवेदी जी के पत्र सं० ६२६, ना० प्र० सभा, काशी

में प्रयुक्त कर्म के अनुसार होते हैं। अतएव पूर्वोक्त वाक्यों में 'समझने' के बदले 'समझे जाने' का प्रयोग ही व्याकरण-संगत है।

'फिर तुम देखोगे कि तुम्हारा यही साधारण जीवन ईश्वरीय भजन हो जायगा।'[1] में 'हो जाना' का भविष्यत् काल में प्रयोग अशुद्ध है। मुख्य क्रिया 'देखना ही' भविष्यत् काल में होनी चाहिए। यदि 'हो जाना' भी भविष्यत् काल में रहेगा तो देखनेवाला देखेगा क्या? हम वर्तमान की वस्तु को ही देख सकते हैं, भविष्यत् की नहीं। शुद्ध वाक्य होना चाहिए था फिर देखोगे कि तुम्हारा यही साधारण जीवन ईश्वरीय भजन हो गया है।'

खड़ी बोली के उस आरंभिक युग में लेखकों ने विरामादि चिन्हों की ओर ध्यान नहीं दिया। अपने साहित्यिक जीवन के प्रारंभिक काल में द्विवेदी जी भी रचना के इस आवश्यक अंग से अनभिज्ञ थे। 'कमल पंक्तियों' (भा. वि. २) के दोनों पदों के बीच में एक संयोजक चिन्ह की अपेक्षा है। 'तात्पर्य-खल का प्रसन्न करना सर्वथैव असंभव है-इसमें उत्प्रेक्षा अलंकार है।' (भा. वि. ४९) में 'तात्पर्य' और 'है' के पश्चात् संयोजक चिन्ह का प्रयोग अशुद्ध है। पहले के स्थान पर अल्पविराम या निर्देशक-चिन्ह और दूसरे के बदले पूर्ण विराम होना चाहिए। कहीं कहीं तो उन्होंने निरर्थक ही अल्पविराम की झड़ी लगा दी है, उदाहरणार्थ, 'क्योंकि, इस समय, संसार में, जितने परिवर्तन, हो रहे हैं उन सब की झोंक समाज की शक्ति को बढ़ाने और व्यक्तिमात्र की शक्ति को घटाने की तरफ है।' (स्वा. २९) 'हे विधे' (भा. वि. ३) में 'विधे' के बाद सम्बोधन-चिन्ह होना चाहिए, 'हे' उसकी अभावपूर्ति नहीं कर सकता। एकाध स्थलों पर हिन्दी-पूर्णविराम के स्थान पर उन्होंने अँगरेजी फुलस्टाप लगाया है, यथा 'जैसे भेषज खानेके अनन्तर गुण जान पड़ता है उसी प्रकार सुजनों के कटु शब्द आगे महामंगलकारी होते हैं यह भाव.' (बे.वि.र.२७)। हल् चिन्ह के प्रयोग में भी त्रुटियों की बहुलता है। 'अर्थात' (भा. वि. १७) 'वरन'(हि. शि. तृ. भा. स. २) 'उतकर्षित' (हि. शि. तृ. भा. स. ७८) 'फुटनोटस' (बे. वि. र. ७) आदि के शुद्ध रूप होने चाहिए 'अर्थात्' 'वरन्' 'उत्कर्षित' 'फुटनोट्स' आदि। यह भूल प्रेस की भी हो सकती है। इसके विपरीत 'अज्ञानान्धकारविगत्'(भा .वि .१५५) में 'त' हलन्त नहीं होना चाहिए। चिन्हों के गलत प्रयोग का एक उत्कृष्ट उदाहरण 'भामिनी-विलास' समर्पण-पृष्ठ है—

---

१. पूर्ण सिंह के 'मजदूरी और प्रेम' लेख में मूल वाक्य था—'दिन रात का साधारण जीवन एक ईश्वरीय रूप भजन हो जायगा।' द्विवेदी जी ने शुद्ध कर के उपर्युक्त रूप दिया।

'सरस्वती' की हस्तलिखित प्रतियाँ,
कलाभवन, नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी।